आधुनिक कविता की भाषा

[आधुनिक खड़ी बोली के लोकप्रिय तीस (३०) काव्य ग्रन्थों की समीक्षा]

लेखक

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

बी० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-लॉ

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

गयाकुञ्ज, आगरा

संवत् २००८

१९५१

प्रथम संस्करण

प्रथम खण्ड   मूल्य ३॥)

भाग १ व २

द्वितीय खण्ड   मूल्य २)

भाग ३

सम्पूर्ण   ,,   ६)

Rs. 6/-

मुद्रक

जगदीशप्रसाद एम० ए०

एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा



आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

समर्पण

जिनके अथक परिश्रम द्वारा हमारी भाषा परिमार्जित
एवं परिष्कृत हो पाई और जिनके यथार्थवाद
द्वारा हिन्दी-साहित्य में नवीन युग का
श्रीगणेश हुआ उन स्वर्गवासी
स्वनामधन्य परमपूज्य

आचार्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

की

पुण्य स्मृति

में

विषय-सूची

भूमिका ३१ पृष्ठ

प्रथम भाग

पृष्ठ

द्वितीय भाग

विषय-सूची

तृतीय भाग



लेखक

भूमिका

आलोचक के लिए बहुज्ञ एवं विशेषज्ञ होने की आवश्यकता बताई गई है। मैं न तो बहुज्ञ हूँ और न विशेषज्ञ। संस्कृत भाषा तो बहुत दूर की बात है, हिन्दी-साहित्य एवं भाषा के विधिवत् अध्ययन करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त नहीं हो पाया। हिन्दी-भाषा-भाषी होने के कारण, प्रारम्भ से हिन्दी-कविता में प्रेम अवश्य रहा है। 'भारत-भारती' के जन्म से लेकर आजतक, खड़ी बोली में, जो-जो काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन्हें मैंने बड़े प्रेम से पढ़ा। कालान्तर में, मुझे यह प्रतीत हो उठा कि हमारे कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं है; भाषा भी प्राञ्जल एवं मधुर होती जा रही है; किन्तु, रचना में असावधानी के कारण शब्द-दोष, अर्थ-दोष, व्याकरण-दोष एवं गलत मुहाविरों और अशुद्ध लोकोक्तियों की भरमार होती जा रही है। प्रसंगानुकूल भाषा एवं शब्द-चयन पर ध्यान नहीं दिया जा रहा; भाषा-प्रवाह बिगड़ता जा रहा है; पुनरावृत्तियाँ, अनौचित्य एवं अनैतिहासिकताएँ बड़े-बड़े कवियों की कृतियों में स्थल-स्थल पर मिल जाती हैं और भाषा में एकरूपता अभी तक नहीं आ पाई है। कविता में प्रसाद गुण की अत्यन्त आवश्यकता होती है किन्तु छायावाद की कृपा से अस्पष्ट भाषा एवं अस्पष्ट भाव साहित्य में ऊँचे स्थान पर पहुँच चुके थे।

हिन्दी की कविता अव्यवस्थित एवं अस्त-व्यस्त भाषा और अस्पष्ट समालोचना की केन्द्र-भूमि बन रही थी। एक ओर तो कोरी प्रशंसात्मक समीक्षा निकल रही थी और दूसरी ओर केवल व्यक्तिगत द्वेष-प्रेरित आलोचना होती थी। इन परिस्थितियों में सन् १६४१ के दिसम्बर माह में इन्दौर की 'वीणा' के तत्कालीन सम्पादक पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित ने मुझसे 'कविता की भाषा' पर एक लेखमाला लिखने के लिए कई बार आग्रह किया। मेरे सम्मुख प्रश्न यह था कि कवियों के सुकुमार-हृदय को दुखाया जाय अथवा भाषा को विकृत होने दिया जाय? काव्य-संसार से दूर, कृषि-शास्त्र में, बताया यह गया है कि भूमि की ऊपरी मिट्टी में उर्वर-शक्ति विद्यमान रहती है जिसकी

रक्षा की जानी आवश्यक है। वर्षा के जल का वेग खेतों की इस ऊपरी मिट्टी को जब बहा ले जाता है तब कालान्तर में शस्य-संपन्ना भूमि की उर्वर-शक्ति में कमी होने लगती है, खेतों में छोटी-छोटी नालियाँ बनने लगती हैं जो खेतों को काटने लगती हैं और धीरे-धीरे हरे-भरे खेत बीहड़ में परिवर्त्तित हो जाते हैं। भूमि का कट-कटकर बहना आज भारत के हर राज्य में प्रबल रूप में दिखाई दे रहा है। मीलों तक लम्बी खाई खोद कर 'कन्टूर' बन्ध बनाने एवं खेतों की बड़ी मेंड़े तैयार करके ऊपरी मिट्टी बचाने के उपाय स्थान-स्थान पर सोचे जा रहे हैं। किन्तु हमारी साहित्यिक भूमि की ऊपरी मिट्टी के संरक्षण की ओर कितने विद्वानों का ध्यान जा पाया है? यदि हिन्दी कविता के शस्य-श्यामल खेत ऊजड़ हो गए तो काव्य-क्षेत्र में बन्ध और बड़ी-बड़ी मेंड़ें कौन बनावेगा? क्या आधुनिक काव्य-क्षेत्र में खाई और खन्दक, बड़े होने के पूर्व ही, कोई उपाय नहीं सोचा जा सकता? यही सब सोचते-सोचते 'वीणा' में लेखमाला लिखने के लिए मैं विवश हो गया। यह लेखमाला एक वर्ष तक (सन् १९४२ में) प्रकाशित होती रही।

सन् १९४४ में प्रयाग के 'तरुण' सम्पादक श्री कृष्णनन्दन प्रसाद के आग्रह के कारण मुझे एक लेखमाला लिखने को पुनः विवश होना पड़ा। यह लेखमाला 'तरुण' के प्रायः १४-१५ अङ्कों में सन् १९४४-१९४५ में निकलती रही। इस लेख माला के सभी लेख द्वितीय भाग में मिलेंगे। 'वीणा' के लेख प्रथम भाग में हैं। सन् १९४३ से १९४७ तक कई समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गए जो विक्रम (उज्जैन), हिमालय (पटना), राष्ट्रधर्म (लखनऊ), कामना (कोटा), ज्योति (मंदसौर), साप्ताहिक हिन्दुस्थान (बम्बई), साप्ताहिक नव-भारत (दिल्ली), साप्ताहिक नवयुग (दिल्ली), साप्ताहिक ऊषा (गया) और साप्ताहिक 'जयाजी प्रताप' ग्वालियर में प्रकाशित होते रहे। इन लेखों में से 'कामायनी' पर लिखे गए निबन्ध प्रथम भाग में 'वीणा' के लेखों के साथ रख दिए गए हैं। शेष निबन्ध तृतीय भाग में हैं। ये लेख किसी ऐतिहासिक क्रम से नहीं लिखे गए। जो काव्य-ग्रन्थ सामने आया, या किसी मित्र की कृपा से मिला, उसे आद्योपान्त कई बार पढ़ कर, अपनी समझ के अनुसार, उस पर आलोचना लिख लेता और जिस पत्र या पत्रिका की माँग पहिले आती उसको

भेज दिया करता था। सिलसिलेवार लेख लिखकर पुस्तक छपाने का विचार उस समय नहीं था। इसीलिए न तो लेखों की प्रतिलिपि मेरे पास रहती थी और न पांडुलिपि ही वापिस मँगाता था। सम्पादक की कृपा हुई तो 'रिप्रिन्ट' आजाते नहीं तो पत्र या पत्रिका के अङ्क से ही सन्तोष कर लेना पड़ता था। कई निबन्ध कट-छँट कर छोटे भी हो जाते थे और कई में बीच-बीच में, छोटे-छोटे शीर्षक भी लगा दिए जाते थे। जैसे ये उस समय छापे गए वैसे ही इस पुस्तक में मिलेंगे। कार्याधिक्य के कारण, मुझे इतना समय नहीं था कि इन निबन्धों को दुबारा लिखता। ये सारे निबन्ध, भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व के लिखे हुए हैं अतएव जहाँ किसी लेख में किसी राजनैतिक परिस्थिति अथवा किसी 'वाद' का उल्लेख आया है, वह केवल उन्हीं परिस्थितियों तक सीमित समझा जाय जो लेख लिखते समय उपस्थित थीं। सारे निबन्ध, महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों, अथवा पुस्तकालयों के वातावरण से बहुत दूर बैठ कर लिखे जाने के कारण इनमें साहित्य-शास्त्र के भारी-भरकम शब्द—'अविमृष्ट विधेयांश' 'पतत्प्रकर्ष', समाप्तपुनरात्त' 'अर्थान्तरैकवाचक', 'अभवन्मतसम्बन्ध', 'सनियम' अथवा 'अनियम परिवृत्तता', 'त्यक्त पुनः स्वीकृत', 'लक्षणा मूलाध्वनि', 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि', 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' इत्यादि नहीं मिलेंगे। ये लेख सरल हिन्दी भाषा में, आधुनिक काव्य-ग्रन्थों की भाषा पर, अपने सरीखे, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से अनभिज्ञ कविता प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखे गए हैं अतएव इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्रमाणों से कहीं ये बोझिल न हो जायँ।

मेरा विचार अभी भी अन्य काव्य-ग्रन्थों पर समीक्षा लिखने का था, किन्तु कई वर्षों से मेरे साहित्यिक मित्रों का आग्रह यह हो रहा था कि जो लेख निकल चुके हैं उन्हें एकत्र कर पुस्तकाकार कर दिया जाय। इतने लेखों का एक स्थान पर संकलन करना मेरे लिए कठिन कार्य था। श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम. ए; एल. एल. बी. साहित्य-रत्न का मैं आभारी हूँ जिन्होंने बड़े परिश्रम से इन लेखों का संकलन किया, कई लेखों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं और 'प्रूफ़' शुद्ध करने में भी सहयोग दिया। संकलन होने के अनन्तर, कागज़ की कमी के कारण पुस्तक छपाने में लगभग साढ़े तीन साल तक बड़ी कठिनाई आती रही।

श्रद्धेय राजर्षि टंडनजी की इच्छा यह थी कि यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) से प्रकाशित होती परन्तु कई कारणों से उनकी इच्छा पूरी नहीं हो पाई, इसका मुझे दुःख है। इसमें अधिकतर दोष मेरा ही है। सम्मेलन ने एक बार पांडुलिपि काग़ज़ की कमी के कारण वापिस करदी थी और जब पांडुलिपि छपाने के लिए फिर वहाँ से माँगी गई तब तक मैं प्रयाग के एक प्रकाशक को छपने के लिए दे चुका था। जब छपने की वहाँ भी व्यवस्था न जम पाई तब थक कर मैंने पांडुलिपि वापिस मँगाली और पुस्तक छपाने का विचार ही छोड़ दिया। पश्चात् श्री प्रो० गोपाल व्यासजी, एम. ए., सा० रत्न ने स्वयं अपने ऊपर इस पुस्तक के छपाने का उत्तरदायित्व लेकर पांडुलिपि मुझसे ले ली और बड़ी शीघ्रता से प्रकाशक (श्री गयाप्रसाद एण्ड सन्स) से बातचीत कर पुस्तक छपाने का प्रबन्ध कर दिया। प्रूफ़ देखने का भी मुझे समय नहीं था! यह भार भी व्यासजी ने अपने ऊपर लेकर बड़ी लगन एवं तत्परता से कार्य-सम्पादन किया है। सच बात यह है कि यदि व्यासजी का सहयोग न होता तो यह पुस्तक छप नहीं सकती थी। मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। प्रो० गुरुप्रसाद जी टंडन, एम. ए., एल. एल. बी., (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर) एवं श्री व्यासजी ने प्रेस को जाने के पूर्व एक बार आद्योपान्त पांडु-लिपि पढ़ लेने का कष्ट उठाया और कुछ संशोधन सुझाए जिसके लिए भी मैं उन दोनों सज्जनों का आभारी हूँ। 'साहित्य-समीक्षा' के निबन्ध में मुझे विशेष रूप से श्री प्रभाकर माचवे, एम. ए; सा० रत्न से सहायता मिली थी। दो-एक अपने लेखों में उन्होंने मेरे निबन्धों पर कुछ टीका टिप्पणियाँ भी की थीं जिनसे भी मुझे नई प्रेरणा मिली। अतएव उनको भी मैं धन्यवाद देता हूँ। वयोवृद्ध साहित्याचार्य डाक्टर हरि रामचन्द्र दिवेकर, एम. ए; डी. लिट. (पैरिस) से उज्जैन में मुझे कई बार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र पर बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कुछ नई बातों की जानकारी भी प्राप्त हुई जिसको मैं यदाकदा उपयोग में लाता रहता हूँ। 'साहित्य समीक्षा' लिखने में भी मुझे उनसे सहायता मिली थी। अतएव उनको भी धन्यवाद देता हूँ। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि न तो मैं साहित्यिक हूँ और न विद्वान्। यदि पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित मुझे बार-बार लिख कर विवश न कर देते तो मेरे लेखों का श्रीगणेश ही न हो पाता।

अतएव उनका एवं श्री कृष्णानन्दनप्रसाद का तथा उन सब पत्र-पत्रिकाओं (एवं उनके सम्पादकों) का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके नाम ऊपर आ चुके हैं। अन्त में, मैं प्रकाशकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी विशेष देख-रेख में पुस्तक इतनी जल्दी छप गई।

× × × ×

कवि-कर्म बड़ा कठिन है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है। केवल तुक मिलाने में ही घण्टों नष्ट हो जाते हैं। फिर उचित शब्द का उचित प्रयोग और वाक्य-संघटन में उस शब्द को उचित स्थान पर बैठा कर विषय और उसकी अभिव्यक्ति का सामंजस्य करना और भी कठिन है। इसके उपरान्त अपने भावों और उद्वेगों को पाठक अथवा श्रोता के हृदय में पहुँचाना और पाठक और श्रोता के हृदय में भी सदृश भावों और उद्वेगों का सञ्चार करना और भी कठिन है। कवि उस रथी के सदृश होता है जो रथ में जुते हुए घोड़ों को सम गति से चलाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई घोड़ा अधिक तीव्रगति से चञ्चल होकर भागने का प्रयत्न करता है तो लगाम खींचकर उसको रोकता है, यदि दूसरा घोड़ा मन्द पड़ता दिखाई देता है तो उसको चाबुक मार कर तेज करता है। उसको सड़क का भी विचार करना पड़ता है और गन्तव्य स्थान का भी। सभी घोड़ों को काबू में करके अपनी इच्छानुसार नियमित गति से रथ को जो गन्तव्य स्थान पर ले जाने में समर्थ होता है वही रथी सफल माना जाता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सामंजस्य करके जो कवि अपने भावों को हृदयग्राही बना सकता है वही सफल कवि माना जाता है। ऐसी कठिनाइयों में लिखे गए काव्य पर जब कटु आलोचनाएँ होती हैं तो यह स्वाभाविक है कि सुकुमार-हृदय को ये आक्षेप असह्य हो उठें। ये लेख लिखने में, और तदुपरान्त, पुस्तकाकार छपाने में मुझे इसीलिए हिचकिचाहट थी। जिन कवियों की कोमल-कान्त-पदावली एवं स्निग्ध भावनाओं द्वारा खड़ी बोली की काव्य-वाटिका सजाई गई है उनका हृदय दुखाना मुझे अभीष्ट नहीं था। किन्तु इस भय से कि कहीं बड़े बड़े भाषा-दोष, भद्दे प्रयोग एवं अनौचित्य 'आर्ष-प्रयोग' होकर हमारी भाषा को विकृत न करदें मुझे ये लेख लिखने और पुस्तक छपाने को विवश होना पड़ा। कवियों के

हृदयों पर मेरे लेखों से जो आघात पहुँचा है अथवा इस भूमिका के कतिपय उल्लेखों से पहुँचे उसके लिए मैं उनसे हार्दिक क्षमा-याचना करता हूँ। उनकी कृतियों का मैंने रसास्वादन भी पर्याप्त मात्रा में किया है जिसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद भी देता हूँ। लेख छप जाने के अनन्तर स्वनामधन्य श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय और आचार्य पं० केशवप्रसाद जी मिश्र के देहावसान से हमारे साहित्य-संसार को बड़ी हानि हुई है। स्वर्गीय आत्माओं के प्रति मैं भी अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। लेख लिखने के पूर्व उन महाकवियों के दर्शनों का मुझे सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया जिनके काव्य-ग्रन्थों की इस पुस्तक में आलोचना की गई है। अतएव व्यक्तिगत-प्रेम अथवा व्यक्तिगत-द्वेष का यहाँ प्रश्न ही नहीं है। एक ही कवि की एक प्रकार की कविता ने मेरे हृदय को अत्यधिक प्रभावित किया तो दूसरी प्रकार की कविता का उल्टा असर हुआ। श्रद्धेय गुप्त जी के 'पलासी के युद्ध' की मैंने प्रशंसा की है किन्तु 'साकेत' मुझे साधारण रचना प्रतीत हुई। श्री महादेवी जी के 'यामा' एवं 'दीपशिखा' सुन्दर एवं उत्कृष्ट रचनाएँ हैं किन्तु बङ्गाल के अकाल पर लिखी गई 'बङ्ग-वन्दना' में न भाव अच्छे आपाए हैं और न भाषा। पंतजी का 'पल्लव' सुन्दर है किन्तु 'गुञ्जन' मुझे नहीं जँचा। 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' 'जुही की कली' एवं 'गीतिका' के कुछ गीत बड़े सुन्दर हैं किन्तु 'तुलसीदास' ने मुझे प्रभावित नहीं किया। 'मधुशाला' बच्चन की बड़ी मस्त रचना है किन्तु वह मस्ती धीरे-धीरे कम होती गई है। उनका नवीन-नवीन छन्दों का प्रयोग अवश्य हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि कर रहा है किन्तु यह स्वाभाविक है कि प्रयोगों में लग जाने पर कविता की सरसता कम हो जाय। 'अञ्चल' एवं 'दिनकर' दोनों की मनोवृत्ति एवं हृदय एक दूसरे के विपरीत हैं। 'दिनकर' का हृदय देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। 'हिमालय' सरीखी देशभक्ति की कविता बड़ी ओजस्वी रचना है किन्तु उनकी शृङ्गार अथवा प्रेम-सम्बन्धी अथवा चिन्तन-प्रधान रचनाओं में भाषा का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिल पाता और उनको पढ़ने पर आभास होता है कि दिनकर के हृदय में ऐसे भावों के लिए कम स्थान है। 'अञ्चल' के मांसल-सौन्दर्योपासना के गीत बड़े मीठे एवं हृदय स्पर्शी हैं किन्तु उनके प्रगतिवादी गीतों

में भाषा का स्वरूप बिगड़ जाता है। इस विश्लेषण से यह पता चलेगा कि कवियों की रचनाओं को कई बार पढ़ कर, उनका जैसा मेरे हृदय प्रभाव पड़ा, वैसा ही उसको व्यक्त करने का, इन लेखों में, प्रयत्न किया है। आधुनिक 'उड़न-छू-समालोचना' की परिपाटी ग्रहण करके 'छठी विभावना' अथवा 'अङ्गाङ्गी भाव संकर' का कवि की रचना में, एक उदाहरण देकर आकाश में उड़ने कीकला में मैं दक्ष नहीं हूँ। केवल इतना लिखने से कि "कवि की अनुभूति सजग है और वहाँ उसे सजीव वाणी भी दे सका है" अथवा "इस रचना में कई मार्मिक सूक्तियाँ हैं" या "कवि की रचना कला की दृष्टि से नहीं भावना की दृष्टि से पढ़ने की चीज है"—किसी कवि की रचना के मर्म का पता नहीं चला करता और न आलोचक के कर्त्तव्य की इतिश्री हो जाती है। इसीलिए जहाँ कहीं कोई मत मैं ने प्रकट किया है वहाँ आलोच्य ग्रन्थ से, उस मत के समर्थन में पर्याप्त उदाहरण देना भी उचित समझा है। मैंने आलोचना करते समय आलोच्य ग्रन्थ को मुख्यतः भाषा की कसौटी पर ही परखने का प्रयत्न किया है किन्तु जहाँ आवश्यक समझ पड़ा, साहित्य-शास्त्र, युद्ध-शास्त्र, रामायण, महाभारत, उप-निषद, पुराण, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, कृषिशास्त्र एवं प्रकृतिपर्यवेक्षण इत्यादि का भी आधार लिया है। हिन्दी कविता का सूर्य उषा की लाली समाप्त कर के आगे बढ़ रहा है और सूर्य के प्रकाश बिना 'कूड़ा-करकट' दिखाई ही कैसे पड़ सकता है? हिन्दी कविता का भविष्य अवश्य उज्ज्वल है। यदि हमारे कवियों ने उन बड़े भाषा-दोषों एवं उन त्रुटियों पर ध्यान दिया जो इस पुस्तक में दिखाए गए हैं तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। निकट भविष्य में हमारी कविता की भाषा अधिक प्राञ्जल होकर हिन्दी कविता को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक रङ्गमंच पर श्रेष्ठतर स्थान दिलाने में समर्थ हो, यही मेरा उद्देश्य और यही कामना है।

मूल प्रश्न और अपना दृष्टि कोण

यह निर्विवाद है कि जब कवि के हृदय में भाव उठते हैं और जब वह कविता लिखने बैठता है तब उसे यह ध्यान नहीं रहता कि वह किसी श्रोता या पाठक के लिए कविता लिख रहा है। किन्तु लिख चुकने के अनन्तर जब वह किसी को अपनी कविता सुनाता है अथवा जब कवि अपनी रचना

प्रकाशित करता है तो उसका उद्देश यह अवश्य होता है कि वे भाव यथावत ही श्रोता अथवा पाठक के हृदय में भी पहुँच जायें। इसलिए कवि की अनुभूति को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए कविता में शुद्ध, स्पष्ट एवं सुगठित भाषा का होना आवश्यक है। जहाँ भाषा गतिशील नहीं अथवा भाषा प्रवाह सुन्दर नहीं है वहाँ श्रोता का सुनने में और पाठक का पढ़ने में मन नहीं लगेगा। दूसरों के हृदय में कवि के भाव पहुँच ही नहीं सकेंगे। जहाँ कविता की भाषा अस्पष्ट, उलझी हुई, धूमिल अथवा कुहरे से ढकी हुई होती है वहाँ दूसरे तो उस कविता का रस ले ही कैसे सकेंगे, स्वयं कवि को भी आत्माभिव्यक्ति का या 'अस्मिता' के आस्वादन का रस नहीं मिलेगा। जब कवि के कथन में रस नहीं होगा तो सहृदय पाठक या श्रोता के हृदय में रस सुप्त पड़ा रहेगा; कवि की कविता उस सुप्त रस को उद्बुद्ध नहीं कर सकेगी और कवि का संवेद्य निष्फल हो जायगा।

इसीलिए 'प्रतीकवादी' अस्पष्ट भाषा का रसास्वादन तब तक नहीं हो सकता जब तक कवि यह न बतलाने की कृपा करे कि अमुक शब्द अमुक भाव का प्रतीक है। यह सही है कि कभी-कभी साहित्य-आत्मा स्थूल जगत् से ऊब कर सूक्ष्मता के लिए लालायित हो उठती है; अपने चित्त में उठी भावनाओं तथा कल्पनाओं की खोज प्रकृति तथा अध्यात्म में करने लगती है और यह भी समझ में आता है कि गुलाब, भ्रमर, पतङ्ग और कमल प्रेम के प्रतीक हो सकते हैं किन्तु यह समझना कठिन है कि विशाल कठोर पर्वत भी कमल के साथ प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। एक कवि ने यदि 'फूल' को प्रेम का प्रतीक मान कर कविता लिखी तो दूसरे ने 'फूल' को हृदय का प्रतीक मान लिया और 'पंखुरियाँ' भावों की प्रतीक बन गईं !! 'ऊषा की लाली' कहीं शृंगारिकता की प्रतीक मानी गई, तो कहीं भीषणता की, और कारुण्य की प्रतीक तो है ही क्योंकि रोने के कारण आँखें लाल हो जाती हैं !! यदि प्रेमी अपनी प्रेमिका को देखने को चुपचाप दबे पाँवों आया हो और एड़ी उठा कर आया हो और यदि ऐसे समय सुकुमार एड़ी लाल हो गई हो तो उस एड़ी की प्रतीक भी 'ऊषा की लाली' बन सकती है !! फिर प्रेमिका ने प्रेमी को यदि सहसा देख लिया हो तो शर्म से उसके मुख पर लाली दौड़

जायगी उसकी भी 'ऊषा की लाली' प्रतीक रहेगी !! और, यदि प्रेमिका ने, साहस कर, प्रेमी महानुभाव के ज़रा कान मसल दिए हों तो कानों की लालिमा की प्रतीक भी 'ऊषा की लाली' पूर्ववत् बनी रहेगी !! 'छायावाद' में, इस प्रकार, 'ऊषा की लाली' विभिन्न भावों का 'अजायबघर' रह सकती है और आलोचक को सहृदय बनकर, कवि के हृदय-सागर में पहुँच कर, उलझी हुई ऊर्मियों से अपने को बचाकर यह बताना चाहिए कि 'ऊषा की लाली' से किस समय में किस सम्बन्ध में कवि ने क्या अर्थ लिया है !!

यदि कवि ने लिखा कि "काँटों ने भी पहिना मोती" तो पाठक, श्रोता, और आलोचक को मिल कर यह समस्या सुलझानी चाहिए कि कवि का आशय क्या है ? 'काँटों' का क्या तात्पर्य है और 'मोती' का क्या है ? एक ने कहा कि 'काँटे' प्रतिकूल वातावरण के चिन्ह हैं और 'मोती' विजय अथवा शान्ति का प्रतीक है और कवि का आशय है कि प्रतिकूल वातावरण में भी विजय हुई अथवा चित्त में शान्ति रही। दूसरे की समझ में 'मोती' आँसुओं का प्रतीक था अतएव अर्थ यह किया गया कि प्रतिकूल वातावरण में आँसू आ गए। तीसरे व्यक्ति ने बताया कि 'काँटो' का आशय कुटिल, क्रूर अथवा कठोर हृदय से है और कवि का आशय यह है कि ऐसे हृदय वाले व्यक्ति के भी भावावेश के कारण आँसू आ गए अथवा क्रूर-हृदय भी शोभायमान हुए। चौथे व्यक्ति की सम्मति यह थी कि 'काँटों के ऊपर मोती' गुलाब का सूचक है जो कठिनाई के अनन्तर प्रेम की सफलता का प्रतीक है। मेरे सरीखे शुष्क हृदय में यह पंक्ति पढ़ते ही श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक रचना पर ध्यान गया जहाँ बबूल वृक्ष से आती हुई भीनी-भीनी महक का उल्लेख है। मैंने कहा हो न हो कवि का ध्यान भी इधर गया होगा और दूर से बबूल के फूल मोती सरीखे चमकते ही हैं अतएव कवि का तात्पर्य 'बबूल' वृक्ष से है जो प्रगतिवाद का प्रतीक है !! इस प्रकार एक छोटी सी पंक्ति के विषय में पाँच सम्मतियाँ रहीं और फिर भी स्यात कवि का आशय छाया से आच्छादित ही रहा !!

सच बात यह है कि छायावादी कवियों और छायावादी सहृदयों की एक गोल मेज परिषद् की आवश्यकता थी जो यह बात निश्चय कर देती कि

भविष्य में किस भाव का कौन प्रतीक माना जावेगा। किन्तु छायावादी कवि किसी बन्धन में बँधने को उद्यत नहीं थे और यदि यही बात निश्चित करदी जाती तो छाया बचती कहाँ ? अँग्रेजी साहित्य के टी० एस० इलियट और ब्लेक सरीखे कवियों की भाँति छायावादी कवियों की भाषा एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्र के अनुभव लिए हुए कवि की अस्पष्ट व्यक्तिगत भाषा होने के कारण केवल थोड़े से विशिष्ट जनों को ही उस उलझन का रसास्वादन करा सकती है।

अच्छे अच्छे शिक्षित कविता-प्रेमी सहृदय तो समझ ही नहीं सकते। अस्पष्ट भाषा कभी भी किसी साहित्य में इसीलिए श्रेयस्कर नहीं मानी जाती। जिस कविता को पढ़ कर पाठक की कोई सुप्त स्मृति सहसा जग नहीं जाती अथवा पाठक उस कविता को पढ़कर आह्लादित नहीं होता या तन्मय नहीं हो जाता तब तक वह कविता सार्थक कैसे मानी जा सकती है ? तुलसी या बिहारी की भाषा को समझने की कठिनाई भिन्न प्रकार की है। वहाँ न तो प्रतीक हैं और न भाषा ही अस्पष्ट है। व्यञ्जना के सहारे वहाँ थोड़े से शब्दों में बड़े गंभीर भाव का प्रदर्शन है। एक छोटे से शब्द में महत्वपूर्ण भाव भरा हुआ है। उस शब्द की शक्ति यदाकदा अणुशक्ति से कम प्रतीत नहीं होती। भाव समझने में वहाँ अवश्य मनन की आवश्यकता होती है किन्तु प्रतीकों के अन्दाज लगाने में मस्तिष्क को कलाबाजी की या व्यायामशाला के नवीन प्रयोगों में समय नष्ट करने की योजना बनाने की वहाँ आवश्यकता नहीं होती। यह शुभ लक्षण अवश्य है कि अब हमारे कवियों में लक्षणा की मनमानी वक्रता का मोह प्रायः हट चुका है और स्वाभाविक व्यंजना का सहारा लिया जा रहा है। छायावाद पिछले आठ-दस सालों में समाप्त हो चला है अतएव प्रथम भाग मे लिखे गए हमारे लेखों का उतना महत्व नहीं रहा जितना पहले था। फिर भी यह देखकर कि हमारे साहित्य के इतिहास में उसका स्थान बन चुका है और न जाने किस दिन ब्लेक और इलियट का मोह फिर आ उभरे, हमने अपने लेखों में काट-छाँट करना उचित नहीं समझा।

अस्पष्ट भाषा के बाद, बड़े बड़े भाषा—दोष भी कविता को नीरस बना देते हैं। छोटे-मोटे भाषा—दोष और भाषा की तोड़-मरोड़ कुछ सीमा तक तो उपेक्षा योग्य होती ही है किन्तु बड़े भाषा—दोष पाठक के हृदय में कविता के

प्रति घृणा के भाव भी पैदा कर देते हैं। ऐसे दोष सुप्त रस को उद्बुद्ध करने के स्थान में, सहृदय के हृदय में, कवि के प्रति, उदासीनता के भाव को जगाते हैं जिसके कारण पाठक या श्रोता कविता का न रसास्वादन कर सकता है, न आह्लादित होता है और न उसकी कोई सुप्त स्मृति ही जग सकती है।

केवल अपना आशय अधिक स्पष्ट करने को हम कविवर आरसीप्रसादसिंह के काव्य संग्रह की यहाँ संक्षिप्त चर्चा करना उचित समझते हैं। उनका ५३७ गीतों का संग्रह 'संचयिता' नाम से प्रकाशित हुआ है। कौतूहल वश उठाकर एक दिन देखा तो पृष्ठ १२४ पर 'ग्रीष्म-गरिमा' पर दृष्टि पड़ी जहाँ लिखा हुआ था—

कभी कभी आँधी भी आकर सब का दिल दहला देती
आमों के सुन्दर पेड़ों को बस झकझोड़ हिला देती!
पहले तो मृदु मंजर ही थे, किन्तु हुए अब बड़े बड़े
खा मारुत के प्रबल झकोड़े, गिर पड़ते फल हरे-हरे!

पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि आँधी और कुछ उत्पात नहीं करती केवल सुन्दर आम्र वृक्ष के पास पहुँच कर, बन्दरों की तरह, पेड़ों को झकझोर कर हिला देती है! शब्द बस महत्वपूर्ण है। 'मञ्जरी' शब्द शुद्ध है स्त्रीलिंग है किन्तु उसको पुल्लिंग बदल कर मञ्जर कर दिया। अर्थ हुआ कि पहिले तो कोमल 'मञ्जरी' थे किन्तु अब बड़े-बड़े मञ्जर हो गए जो मारुत के झकोड़े खाकर हरे हरे फल बनकर गिर पड़ते हैं। यानी जब तक मारुत के झकोड़े न लगें तब तक बड़े-बड़े मञ्जर रहते हैं। लगते ही फल बन कर गिर पड़ते हैं!!

इस पद्य में भाषा का यह हाल देखकर आगे बढ़ने का विचार किया तो पृष्ठ पर अग्नि-उमङ्ग पर दृष्टि गई जहाँ पर यह छन्द था:—

उड़ें धज्जियाँ इन प्राणों की
आहुतियाँ हो अरमानों की
पर न डिगूँ अब पथ से अपने
मौत मरूँ मैं मरदानों की

'मर्दों' की मौत से मतलब होगा किन्तु 'मरदानी रानी' का हाल पढ़ कर के कविता लिखी होगी तो 'मरदानों' की मौत मरने का विचार आया होगा !! समझा कविवर शायद उर्दू भाषा के व्याकरण से अनभिज्ञ थे इसलिए 'मर्दों' के स्थान में 'मर्दानों' लिख गए होंगे। आगे पृष्ठ १६६ पर सत्य-कवि' पर दृष्टि गई तो यह छन्द मिलाः—

तब तक तुम निर्भय हो अपनी मूँछों पर दो ताव;
यश न प्रताप सुनेगा अरि का खाय भले ही घाव !

तो समझा कि शायद बिहार में 'घाव खाया जाता होगा' !! और आगे देखा तो पृष्ठ १६६ पर प्रलय-नट पढ़ने की इच्छा हुई। वहाँ लिखा हुआ था—

पावक बने महावर-जावक
मलय पवन हो जाय ववंडर

जावक और महावर में क्या भेद है ? समझ में नहीं आया। विस्मय, शोक अथवा आवेग भी यहाँ नहीं था जहाँ पुनरुक्ति समीचीन मालूम पड़े; न भाषा में ही जोर आ पाया !! अतएव और आगे बढ़े तो पृष्ठ २११ पर 'जीवन' शीर्षक गीत पाया। उसका सारांश इस भाँति थाः—

रोगी बन सुकुमार सेज पर तू कायर की मौत न मर
पानी से भी जो बदतर हो पैदा ऐसी आग न कर।

शायद 'आग' 'पानी' का कवि ने समान गुण माना है इसलिए दोनों का मुकाबिला कर दिया। जलाने की शक्ति पानी में भी होती होगी !! अथवा आग से भी कभी कभी बदतर पानी होता होगा !!

और आगे बढ़ने की सोची तो 'नग्न दर्शन' की कविता पृष्ठ २६४ पर थी। कोई अच्छा विषय तो नहीं प्रतीत हुआ किन्तु विषय से काव्य का मूल्याङ्कन करना उचित नहीं होता। कभी 'मकड़ी' 'कंकड़' 'बिच्छू' पर बड़ी अच्छी कविता मिल जाती है तो 'आत्मा की अविनश्वरता' पर बड़ी भद्दी कविता। वास्तव में, कवि के कविता लिखने के ढंग से ही उसका मूल्याङ्कन सही हुआ करता है। इसलिए 'नग्नदर्शन' ही पढ़ने लगा—

सामने क्षितिज, वन एक ओर;
नीचे भू, ऊपर नभ अछोर!
कर दे विमुक्त कुन्तल—कलाप
मैं आज करूँगा चीर—चोर!

'चीर-चोर' करना एक ही बात रही। 'बनूँगा चीर-चोर' भी कुछ ठहरता। समझ में आया कवि की कविता नहीं तुकबन्दी चल रही है; न भाव है। न भाषा! 'चोर' और 'चोरी में भी भेद नहीं किया!! इसी प्रकार शंखनाद में लिखा—

फूँक विजय—शङ्ख घोर
दौड़ वायु सा, विशाल!
लाँघ उदधि, भील, ताल
गगन - वक्ष चीर - चीर
अरे मदोन्मत्त वीर!

'शंखनाद' में शायद अँधाधुंध छलांगें भरी जाती हैं। उदधि लांघने के अनन्तर भील और ताल को लांघना तुकपूर्ति नहीं तो क्या है? यदि तीनों को लांघना अभीष्ट था तो पहिले ताल लांघते, फिर भील और उसके अनन्तर उदधि लांघने में किसी क्रम का तो पता रहता!!

यह देख कर कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार नहीं है कुछ उदासीनता हुई और पुस्तक रख देने की तबियत हुई किन्तु फिर उठाकर 'वर्षा-वियोगिनी' पढ़ने लगा। कवि के दोनों संग्रहों में यह कविता सम्मिलित की गई है। चतुर्थ कवित्त के तीसरे चरण में 'पराग पूत' के वर्णन की सराहना किस प्रकार की जा सकती है? कविवर के अत्यधिक संस्कृत भाषा के प्रेम ने उनको यह छोटी-सी बात भी भुला दी है कि हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है वह संस्कृत भाषा की अनुगामिनी किसी प्रकार भी नहीं है। हिन्दी भाषा में संस्कृत और उर्दू के कुछ शब्द अश्लील माने जाते हैं और उन शब्दों को हिन्दी कविता में लाकर कविता को नष्ट-भ्रष्ट कर देना नहीं तो क्या है? निदान 'संचयिता' उठा कर एक स्थान पर रख दी गई और फिर कभी पढ़ने को इच्छा ही नहीं हुई। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि उसमें सुन्दर रचनाएँ नहीं होंगी।

इसके अनन्तर पं० उदयशङ्कर भट्ट का "अमृत और विष" पढ़ने को उठाया तो 'बन्द करो द्वार' कविता में भाव कुछ अच्छे मालूम पड़े निदान में उसे पढ़ने लगा। एक स्थान पर था—

सुनो सुनो खोलदो खिड़कियाँ औ'
दरवाज़े, स्काईलाइट, वेन्टिलेशन
भर जाने दो प्रकाश
सूरज है उग रहा मत डरो,
× × ×
मूढ़ माईथोलोजी, व्यर्थ आइडियोलोजी
रहने न पावे सड़ा देने को विचार नर—

अंग्रेजी के ये बड़े-बड़े शब्द गोआ से आए हुए बावर्ची भी नहीं समझ सकते! कवि ने 'शटर्स' खोलने के स्थान में सारा 'वेन्टिलेशन' ही खोल डाला है!! इससे तो यदि अँग्रेजी में ही कविता लिखी जाती तो अच्छी रहती!

दूसरी कविता पढ़ने का प्रयत्न किया तो उसका शीर्षक था 'रिफ्यूजी'। युद्ध-काल में भागे हुए शरणार्थियों से आशय था किन्तु शीर्षक 'शरणार्थी' न होकर अँग्रेजी का शब्द रखना उचित समझा गया था।

एक स्थान पर था—

इसी बीच मानव समूह छोड़ देश निज,
छोड़ छोड़ वैभव अनन्त—
सुविमूढ़ पथ!
कुछ था न ज्ञान उन्हें,
कुछ था न भान उन्हें,
हीन-मद, श्लथ-गर्व
हीन-रथ, लथपथ,
भागते-से जा रहे थे,
रेंगते-से आ रहे थे—
हार लिए जीवन की, भार लिए वहनीय।

बालक थे, वृद्ध थे, जवान, बूढ़ी, रमणी भी,
लूले और लँगड़े थे, अन्धे औ कुबड़े थे,
मानो शत-शत चांद भू पर उतर कर,
कीचड़ से लथपथ,
भालुओं के साथ-साथ चलते अनिर्बाध ।

छठी पंक्ति का 'लथपथ' अकेला फँसा हुआ प्रतीत होता है !! किस से लथपथ थे ? पसीने से या कीचड़ से ? नीचे आकर तो 'शत-शत चाँद' कीचड़ से लथपथ बताए गए हैं किन्तु कवि का ऊपर क्या आशय है पता नहीं चलता। शरणार्थी 'भागते भी जा रहे थे' 'रेंगते-से भी जा रहे थे' । 'भागना' और 'रेंगना' एक दूसरे के प्रतिकूल क्रिया के सूचक हैं । संभव है कोई रेंग रहा हो कोई भाग रहा हो ; अथवा सारा 'मानव-समूह' कभी भागता होगा कभी रेंगता होगा। कवि का भाव क्या है कविवर ही जानें ! भालू किस को बताया ? लूले-लँगड़ों को ? अंधे और कुबड़ों को ? अथवा बोझा ढोने वालों को !! शत शत चाँद' तो 'रमणी' के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता और 'अनिर्बाध' (बाधा रहित) शब्द में 'निश्चिन्त' (बेफिकर) होने का भाव है। भागने वाले शरणार्थी और उनकी स्त्रियाँ अथवा बहू-बेटियाँ किस प्रकार चिन्ताहीन रहे होंगे ? जब ऊपर 'भागने' और 'रेंगने' का उल्लेख हो गया था तो अनिर्बाध गति का उल्लेख करना व्यर्थ था। एक भाव दूसरे के प्रतिकूल है । अन्तिम तीन पंक्तियों ने तो 'कारुण्य' को बदल कर हृदय में शृङ्गारिक सौन्दर्योपासना का भाव जगा कर 'भालुओं' के साथ चाँद बता कर कविता ही हास्यास्पद बनादी है !! 'शत-शत चाँद' की उत्प्रेक्षा समयानुकूल तो नहीं कही जा सकती है। 'नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात !'

यह समझ कर कि कवि ने कविता जल्दी में लिखी है कुछ और आगे पढ़ने का विचार किया तो निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं :—

भागे जा रहे थे सब !

× × ×

बलहीन, वस्त्रहीन,
अन्नहीन, छायाहीन,

मुक्त नभ, मुक्त काल,
मुक्त भूमि, त्यक्त देव,
साईकिल, पैदल औ बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी,
मोटर पे रख कर बालक औ साज सारा।

संस्कृत-प्रचुर भाषा गिरते-गिरते यहाँ एकदम साईकिल और बैलगाड़ी पर आ कूदी है !! सहसा भाषा-प्रवाह यहाँ बिगड़ जाता है ! पहले छन्द में रथहीन बता आए थे किन्तु यहाँ बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी और मोटर सभी वाहन उपस्थित हैं ! कवि को यह याद नहीं रहा कि पहिले क्या कह चुके हैं उसके प्रतिकूल कहना चाहिये या नहीं ? 'बालक' भी शायद एक निर्जीव बोझा-सा था जो सारे सामान के साथ 'मोटर पे' लाद दिया गया। माता और पिता के स्नेह से वंचित रहा होगा नहीं तो किसी की गोद में होता अथवा किसी के साथ मोटर में बैठा रहता। सामान के साथ बेचारा मोटर पे तो न रखा जाता !!

अनावश्यक विषयों का वर्णन कभी-कभी कविता को नीरस बना देता है इसीलिए कवि को अनावश्यक वर्णन से अपनी कविता को बचाना चाहिए। अनावश्यक एवं अवांछनीय वर्णन के अभाव से भी कविता का मूल्याङ्कन हुआ करता है। इस कविता में गर्भिणी पुत्र-वधू के साथ उसका श्वसुर भागा जा रहा बताया गया है और अन्त में गर्भिणी के बच्चा हो जाता है। कवि इस दृश्य को बता कर पाठक के हृदय में शोक का भाव जगा कर करुणा-रस संचार करना चाहता है किन्तु अनावश्यक वर्णनों से कविता नीरस हो गई है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

अन्धकार ऊपर था, अन्धकार नीचे भी था,
अन्धकार बीच में भी।
कज्जल के जग उस ! तिमिर के भव उस,
उठी नभ तारिका, गगन घन काकिनी-सी,
मानस अथाह वेदना में स्मय रेख सी—
या कि मुक्त पल्लव प्रभुक्त
सब गौरव के तरु में अकेले एक, निकला हो फल एक—
दोनों ही ये मौन जन,

सब ओर नीरवता, एक ध्वनि आ रही थी,
सद्योजात बालक की, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ ।

यह तो सद्योजात अमित्राक्षर मुक्तक छन्द ही की 'ट्याँ, ट्याँ' प्रतीत होती है । इतनी लम्बी कविता में कहीं भी ऐसी शोचनीय अवस्था तो प्रतीत नहीं हुई जहाँ पाठक का हृदय द्रवित भी हो पाया हो। या गर्भिणी की, अथवा उसके श्वसुर की, व्याकुलता से पाठक को सहानुभूति ही हो पाई हो । कविता का अन्तिम छन्द एवं उसकी अन्तिम पंक्ति तो सारगर्भित एवं सुगठित भाषा में 'प्रधान वाक्य' के रूप में होनी चाहिए थी ; किन्तु यहाँ सद्योजात संस्कृत-गर्भित भाषा शाब्दिक अपव्ययता का अभिशाप लिए हुए, नभ तारिका की भाँति, आकाश से टूट कर, एकाएक बड़े खाई-खन्दक में गिरते हुए "ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ, ट्याँ" करती नजर आ रही है !!

मेरा आशय यह कदापि नहीं है कि पण्डित उदयशङ्कर भट्ट अथवा श्री आरसीप्रसादसिंह कवि-हृदय नहीं हैं अथवा उनकी अन्य रचनाएँ अच्छी नहीं हैं । ऊपर थोड़े से उदाहरण केवल यह दिखाने को दिए गए हैं कि जहाँ भाषा-प्रवाह बिगड़ जाता है, अथवा कवि की असावधानी से, बड़े-बड़े शब्द अथवा अर्थ-दोष कविता में आजाते हैं वहाँ पाठक का जी कविताएँ पढ़ने में भी नहीं लगता ; कवि के कथन में रस की समाप्ति प्रतीत होती है ; रस की प्रतीति रुक जाती है अथवा रसास्वादन में विघ्न अथवा विलम्ब होने के कारण कवि का संवेद्य निष्फल हो जाता है । अतः जिस उद्देश से कविता प्रकाशित की जाती है वह उद्देश सफल नहीं होता और कवि की कविता पाठक अथवा सहृदय के हृदय में पहुँच ही नहीं सकती । वास्तव में, साहित्यिक प्रासाद के ऊपर पहुँचने के लिए भाषा प्रथम सोपान है । जो पहिली सीढ़ी नहीं चढ़ सकता वह छत पर पहुँच कैसे सकता है ?

जहाँ भाषा की प्राथमिक परीक्षा में कवि असफल हो जाते हैं वहाँ गुण और अलङ्कार के विवेचन से लाभ क्या होगा ? वहाँ रस और ध्वनि की ऊँची कसौटी पर कविता को परखा ही कैसे जा सकता है ? वहाँ रहस्यवाद, प्रगतिवाद, अभिव्यञ्जनावाद और मनोविश्लेषणवाद के प्रश्नों को उठाना किस प्रकार समीचीन हो सकता है ? जिस प्रकार कुष्ट का एक छोटा बच्चा सुन्दर, सुडौल

शरीर को दूषित कर देता है उसी प्रकार एक भाषा-दोष सुन्दर रचना को भी दूषित कर सकता है।

अतएव सारे वाद-विवादों को छोड़ कर, केवल भाषा की कसौटी पर अपने लेखों में, मैंने खड़ीबोली के लोक-प्रिय काव्य-ग्रन्थों को परखने का प्रयत्न किया है। किसी काव्य ग्रन्थ के पढ़ते ही, मेरे हृदय में निम्नलिखित प्रश्न उठा करते थे :—

(१) क्या कवि अपने भावों को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाया है? क्या भाषा ऐसी है कि अपने हृदय में उठे भावों और उद्वेगों को कवि पाठक के हृदय में पहुँचाने में समर्थ हो सका?
(२) क्या बड़े-बड़े दोषों से कविता नीरस तो नहीं हो गई?
(३) क्या भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है और भाषा-प्रवाह सुन्दर रहा है और क्या कवि ने प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग किया है?
(४) क्या देश, काल, लोक-विरुद्ध बातें लाकर अथवा अन्य अनौचित्य लाकर कविता बिगाड़ तो नहीं दी गई?
(५) क्या एक ही कविता में कई बातें ऐसी तो नहीं हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध हों?
(६) यदि इतिवृत्तात्मक वर्णन है तो क्या आवश्यक विषयों का परित्याग करके अनावश्यक विषयों की भरमार करके कविता बिगाड़ तो नहीं दी गई?

मेरी इस पुस्तक में, समालोच्य ग्रन्थों के विषय में, अधिकतर इन्हीं प्रश्नों का उत्तर मिलेगा। इस विषय पर इस भूमिका में और अधिक लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। हाँ, केवल दो-तीन बातें और बताना आवश्यक समझता हूँ।

कवि, बुद्धि-क्षेत्र से बहुत दूर, भावना के क्षेत्र में विचरण करता है। उसे बुद्धि से सहायता लेकर किसी परिणाम पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि वह बुद्धि से सहायता लेता है तो उसे तार्किक परिणाम पर ही पहुँचना आवश्यक है। किसी रूप में भी वह सर्वमान्य तर्क-सिद्धान्तों की स्पष्ट अवहेलना नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह है कि यह पर्याप्त नहीं कि भाषा शुद्ध है प्रत्युत वह विषय

और प्रसंग के अनुकूल भी होनी चाहिए। छायावाद के लिए जो भाषा उपयुक्त होगी वही यथार्थ-चित्रण में, अथवा, प्रगतिवाद में नीरसता भी उत्पन्न कर सकती है। द्वितीय भाग का अन्तिम लेख, 'बंग-दर्शन' की समालोचना, इस दृष्टि से मनन-योग्य है। छायावाद की भाषा होने के कारण बङ्गाल के अकाल का वहाँ किसी कविता में उपयुक्त चित्रण नहीं हो सका।

फिर, एक विद्वान पंडित के मुख से जो भाषा अपेक्षित है वही भाषा एक मुसलमान सज्जन से कहलवाना अनुचित होगी। इसी प्रकार राजघराने के एक व्यक्ति की, एक महाकवि की, एक शूरवीर की, एक तपोनिष्ठ महात्मा की और एक गाँव के किसान की भाषा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए। प्रेमी की भाषा और एक संतप्त हृदय की भाषा में भी पर्याप्त भेद होगा। जो विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार भाषा का भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखा सकता है, वास्तव में वही महान् कवि है।

यह बात भी, स्पष्ट करना मैं उचित समझता हूँ कि शब्द-दोष, व्याकरण-दोष, भाषा-दोष, इत्यादि देखने का मैंने तभी प्रयत्न किया है, जब कवि ने भाषा का साधारण प्रयोग किया है अर्थात् जब कवि ने शब्दों को सामान्य 'वाचक' रूप में ही प्रयुक्त किया है। जहाँ कल्पना की सहायता से, शब्दों को विशेष 'चित्र रूप' में प्रयोग करके, रूपक अथवा मानवीकरण के सहारे, पाठकों के हृदय में भावनाओं के चित्र जगाने का प्रयत्न है वहाँ मैंने केवल इस बात पर ध्यान दिया है कि कहीं ये चित्र धूमिल अथवा क्षीण तो नहीं हो गए अथवा असंगत एवं अस्वाभाविक होने के कारण कवि का उद्देश निष्फल तो नहीं हुआ।

\+ \+ \+ \+ \+

सौभाग्य से, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का प्रश्न आज नहीं रहा है। भाषा में एकरूपता का प्रश्न अवश्य है। 'साहित्य-समीक्षा' शीर्षक निबन्ध में मैंने हिन्दी के 'विराट् रूप' देखने की इच्छा की थी। वे ही शब्द यहाँ फिर उद्धृत करना समय व्यर्थ नष्ट करना होगा।

प्रत्येक कवि की अपनी शैली होती है। कोई संस्कृत-गर्भित भाषा को अपनाता है तो कोई सरल भाषा को। मैंने तो केवल यह देखने का प्रयत्न

किया है कि कवि ने अपनी रुचि के अनुसार जो शैली अपनाई उससे कविता में स्वाभाविकता रही या नहीं और भाषा में कृत्रिमता तो नहीं आगई, भाषा-प्रवाह ठीक रहा या नहीं ? और भाषा और भाव का सामंजस्य भी ठीक रहा या नहीं ? न तो मैं हिन्दी को संस्कृत के ढाँचे में ढालना चाहता हूँ और न संस्कृत भाषा को तोड़ मरोड़ कर हिन्दी बना डालने के पक्ष में ही हूँ। संस्कृत के कुछ शब्द यदि हिन्दी में किसी दूसरे अर्थ में व्यवहृत होते हैं तो हम उन्हें उसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। 'खटराग' 'झंझट' के अर्थ में ही रहेगा चाहे उसका शुद्ध रूप 'षटराग' रहा हो। 'मेहतर' या 'महतर' भङ्गी के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए; 'महत्तर' (दो में बड़ा) के अर्थ में नहीं। 'पतित'[1] का अर्थ 'पातकी' अथवा 'नीच' ही रहना चाहिए और कोई कहे कि "हाथ से छूट कर पुस्तक भूमि पर 'पतित' हुई" तो शब्द 'पतित' अशुद्ध माना जायगा। 'दग्ध-हृदया[2] को 'दग्धा' बना डालने के भी पक्ष में मैं नहीं हूँ। मार्जनी बुहारी या झाड़ू को कहते हैं, 'मार्जना' ढोल के शब्द को; 'प्रिय-प्रवास' का शब्द 'मार्जनीया'[3] एक विकट समस्या ही है। 'कर्णाधार', 'अन्धा-कार', इत्यादि भी अशुद्ध हैं। संस्कृत और फारसी शब्दों को पास-पास बिठाकर नई भाषा गढ़ने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। संस्कृत-प्रचुर भाषा में 'मींचे' 'मूँदे', 'हौले', 'भोर' 'चहेती' 'पुरवैया' इत्यादि लाने से भी भाषा बिगड़ती है। खड़ी बोली के शब्द 'खौंद खौंद कर फींचना'[4] 'खुल्लमखुल्ला'[5]—कविता में नहीं आने चाहिए। ये कविता के शब्द नहीं हैं। ग्रामीण भाषा के सरस शब्द भले ही लाकर खड़ी बोली के सांचे में ढाले जायँ; किन्तु नीरस शब्द—'कीच-कांद',[6] 'घिनौना'[7] 'ओखा',[8] 'कलेऊ'[9] 'भूमका'[10] 'हिन्नी पैना'[11] 'पिच्छल'[12] 'चुचियाजाना'[13] 'ऊँभना'[14] 'ओदा'[15]—इत्यादि से खड़ी बोली की सरसता एवं प्रामाणिकता नष्ट होने का भय है। ग्राम वासियों के अस्वा-

---

(१) पृष्ठ ३११–१२, (२) पृ० ३२२, (३) पृ० ३१७–३१८, (४) पृ० २१५, (५) पृ० १०८, (६–७) पृ० १६६, (८) पृ० १७२, (९) पृ० १७२, (१०–११) पृ० १६७, (१२) पृ० १६८, (१३) पृ० १७०, (१४) १७१, (१५) पृ० १५५।

भाविक एवं अनावश्यक वर्णनों से और गाँव की भाषा के भद्दे शब्दों से साहित्य को लाद देना उचित नहीं है।

कवि की भाषा चाहे तत्सम-प्रधान शब्दों की हो, चाहे तद्भव प्रधान शब्दों की; कविता में भाषा की एकरूपता अवश्य रहनी चाहिए। कम-से-कम संस्कृत-फारसी-व्रजभाषा-और ग्रामीण भाषा को मिलाकर खिचड़ी पकाना मैं राष्ट्र भाषा हिन्दी के हित में नहीं समझता। माना कि कोई कवि इस खिचड़ी भाषा में भी ऊँचे भाव ला सकता है। (देखिये पृष्ठ १३७-१३८); किन्तु उसमें हमारी भाषा के बिगड़ जाने का डर ही है। इस सम्बन्ध में एक ग्रामीण विषय पर लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियों पर एक दृष्टि डालनी अनुचित न होगी:—

प्रलयङ्कारी रणचण्डी सी, नेत्र-युग्म निज मीचे,
चली भैंसिया महद्वेग से रस्सी खूँटा खींचे!
सद्योजातः पिल्ला कूका "खौफनाक यह सौदा!
गोबर आज लिखेगा सिर पर जीवन-मृत्यु मसौदा!!"

ऊपर की पंक्तियों में तुक मिल गई है, भाषा-प्रवाह भी है, अलङ्कार भी आगए हैं; व्यंजना-शक्ति भी है, परन्तु भाषा के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया है। क्या हमारे कविगण इस समस्या को सुलझाकर भाषा की रक्षा करने को उद्यत होंगे?

अनौचित्य

उचित का भाव ही 'औचित्य' है। काव्य में सबसे बड़ा गुण एक ही हो सकता है और वह है औचित्य। और सब से बड़ा दोष अनौचित्य है जिसके भीतर समस्त दोषों का अन्तर्भाव दिखाया जा सकता है। एक व्यक्ति को इस प्रकार बतलाना कि उसके सिर पर कोट रखा हुआ था, हाथों में जूता लिए हुए था; पैरों में टोपी पहिने हुए था, अनौचित्य का उत्कृष्ट उदाहरण होगा। प्रेम-परिणय के समय युद्ध, अथवा, युद्ध में शृंगार, वर्णन करना अनुचित है। इसी प्रकार जब कवि दीपक' और परवानों का प्रेम वर्णन करते करते छिपकली' की परवानों पर झपट दिखलाता है तो पाठकों को यह अनु-

चित बात खटकती है। देश-विरोधी, काल-विरोधी एवं लोक-विरोधी बातें तथा अनुचित वर्णन—सभी अनौचित्य दोष के अन्तर्गत आते हैं। हमने लगभग सभी लेखों में इस बात पर ध्यान आकर्षित किया है कि कवियों ने अनौचित्य को बचाने की चेष्टा नहीं की प्रत्युत भावावेश में आकर, अथवा अन्य किसी कारण से कविताओं में अनौचित्य की भरमार करने से कविताएँ नीरस हो गईं हैं। लक्ष्मण[२] को राम बना कर सीता को वर लेने का वर्णन करना, एक मुस्लिम महिला के व्याह के अवसर पर प्रकृति[३] द्वारा वेद मन्त्र का उच्चारण और भाँवरियों का आभास बताना; सूर्य-चन्द्र का[४] अपने अपने बँगलों में जाकर सोने का वर्णन; अरावली पहाड़[५] पर जौ, मटर, सरसों, तीसी, चने, केसर के फूल, कमल, गुलाब, आदि का दृश्य दिखाना पढ़ने वालों को खटकता है। आदर्श क्षत्रिय नरेश[६] का सैनिकों को उपदेश देना कि तलवारों से शत्रु-सैनिकों की आँखें फोड़ डालो क्षात्र-धर्म से अनभिज्ञता का सूचक है। श्रावण-मास की भारी बरसात में भीषण युद्ध[७] वर्णन करना, महल के भीतर[८] चेरियों को कवच पहिने दिखाना, राष्ट्र-ध्वज के गिर पड़ते[९] ही सिर में बाँध लेना, और फिर उसी को कफन[१०] बना देना कवि के युद्ध-शास्त्र एवं राष्ट्र-ध्वज सम्बन्धी अज्ञान की सूचना देता है।

शेर का नीचे मुख कर चिंघाड़ना,[११] पपीहे का साधारण चिड़ियों की तरह चहचहाना[१२] सारस का डकारना[१३], चींचीं करती चिड़ियों का अंग्रेजी में "टी, वी, टी टुट टुट" बोलना[१४] और टिटहरी का ट्रिल टिरिल ट्रिल करना[१५] कवियों की असावधानी और कहीं कहीं अंग्रेजी का प्रेम बताता है। हरसिंगार[१६] का झरझर झरजाना, घास का धधक धधक[१७] कर जलना, तोपों का[१८] घहर घहर घर आवाज करना और बादलों[१९] का घनन-घनन गरजना कवियों के निरीक्षण की, अथवा, नाद-शक्ति के समझने में, कमी की सूचना देते हैं।

---

(१) पृ० १६-२०, (२) पृ० १७८, (३) पृ० २१७, (४) १८५, (५) पृ० १८४, (६) पृ० १८८, (७) पृ० १८२, (८) पृ० ३६६, (९) पृ० ३७६, (१०) पृ० ३७६। (११) पृष्ठ १८६, (१२) पृष्ठ १४३, (१३) पृष्ठ १६७, (१४) ४२५ (१५) पृष्ठ १६८, (१६) पृष्ठ १२, (१७) पृष्ठ १५५, (१८) पृष्ठ ४५२, (१९) पृष्ठ ४५३।

कल्पना में भी कवियों ने बहुधा अनौचित्य की भरमार दिखाई है। राजा की उपमा हाथी से देना उचित है क्योंकि हाथी में सूक्ष्म बुद्धि एवं महानता है। किन्तु रानी की उपमा हथिनी[1] से देना उसकी स्थूलता (मोटाई) का ही परिचय देना है जो हास्यास्पद है। यौवन के वसन्त-स्मृति की उपमा[2] गेंडे की काली बोझिल ढपील ढाल से देना अनुचित प्रतीत होता है। सूर्य[3] गरम होने से किसी तरल पदार्थ को सुखा सकेगा किन्तु यह कहना कि सूर्य ने अपने ज्वालामय रक्त से एक वस्तु को भिगो दिया ठीक नहीं रहेगा। गज़नी के महल[4] में सिंह पौर बताना, मुल्लाओं[5] से यह कहलाना कि ऐसा पुत्र मिले तभी स्वर्ग में पानी मिलेगा, गांधार में[6] एक मुस्लिम बच्चे के माथे पर काजल का टीका लगवा देना, हिन्दू नारियों की तरह[7] गजनी की बेगमों को 'नूपुर' और 'किंकिणी' पहना देना; मुसलमान[8] बादशाह का मुसलमान शाह से 'गुरुदेव', 'कृतकृत्य', 'आज्ञा शिरोधार्य' कहना 'कमंरज्जु में बँधे रहने' का जिकर करना—ये सारी बातें अनौचित्य की पराकाष्ठा हैं। ये थोड़े से उदाहरण हैं जिनका भूमिका में उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं और यह आशा करते हैं कि कविगण अनौचित्य को बचाकर हिन्दी-कविता की सौन्दर्य-वृद्धि में प्रवृत्त होंगे।

भाषा-प्रवाह

भाषा-प्रवाह कविता के लिए आवश्यक है। सुन्दर भाषा-प्रवाह के बिना कविता पढ़ने या सुनने में आनन्द नहीं आता। सरिता के सदृश्य कविता का प्रवाह पहिले स्वल्प, फिर विपुल एवं विस्तृत होना चाहिए। अबाध गति से चलते रहना भी अपेक्षित है। प्रारम्भ में विपुल प्रवाह होता है और फिर अल्प हो जाता है वहाँ सरिता एक गड्ढे में अथवा ताल में ही सीमित हो जाती है, उसका सरितापन नष्ट हो जाता है। कविता में सुन्दर प्रवाह के लिए समशक्ति शब्दों के एक तार की आवश्यकता है। प्रसंग के अनुसार ये शब्द कोमल अथवा कर्कश हुआ करते हैं। कोमलकान्त पदावली के कारण 'प्रिय-प्रवास' की

(१) पृष्ठ २६८, (२) पृष्ठ २६०, (३) पृष्ठ २६०-१, (४) पृष्ठ २६७, (५) २६७, (६) २१६ (७) पृष्ठ २६७ (८) पृष्ठ २६६।

सरसता बढ़ती चली गई है। कर्कश शब्दों द्वारा ओजस्वी रचनाओं में भाषा-प्रवाह आता है। श्री रामदयाल पांडेय का 'गण-देवता', श्री सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', श्री भगवतीचरण वर्मा का 'मधुकण' श्री मोहनलाल महतो वियोगी का 'आर्यावर्त्त' सशक्त, सजीव एवं ओजस्वी रचनाएँ हैं। सरल भाषा के ग्रन्थों में, श्रद्धेय गुप्तजी के 'पलासी के युद्ध' में, ठाकुर गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहां' में और श्री श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी' में भाषा-प्रवाह बड़ा अच्छा रहा है। जिसके कतिपय उदाहरण इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर मिलेंगे। प्रवाह बिगड़ जाने पर कविता में नीरसता आने के भी उदाहरण यत्र-तत्र दिए गए हैं। कोमल शब्दों में एकाएक कर्कश आने पर अथवा कर्कश शब्दों में कोमल शब्द आ जाने पर प्रवाह बिगड़ जाता है। संस्कृत-गर्भित भाषा में एकाएक उदू का अथवा ब्रजभाषा का शब्द आ जाने पर, संस्कृत शब्द को फ़ारसी लफ़्ज़ के पास बैठाने से, दुरुच्चार्य शब्दों की भरमार होने पर अथवा सहसा छन्द बदल जाने पर भी भाषा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इस पुस्तक के पृष्ठ ११७-११८ पर ऐसे कतिपय उदाहरण दिए गए हैं।

पन्तजी के 'पल्लव' में "निष्ठुर परिवर्तन" शीर्षक एक गीत ऊँचे भावों से भरा हुआ है। इसमें सहस्र फन वाले वासुकि के रूप में परिवर्तन को देख कर कवि ने साङ्ग रूपक बाँधा है :—

> अहे वासुकि सहस्र फन !
> लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
> छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
> शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
> घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
> मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर !
> अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुण्डल दिङ्मण्डल।

सारा छन्द समशक्ति शब्दोंमें—सशक्त ओजस्वी संस्कृत गर्भित भाषा में—होने के कारण, छन्द का प्रवाह प्रभावोत्पादक है। यदि शब्द 'स्फीत' के स्थान में कोई छोटा शब्द रखा जाता तो चतुर्थ पंक्ति उच्चारण की जा सकती है।

'फेनोच्छ्वसित्' एवं 'फूत्कार' के बीच 'स्फीत' शब्द किंचित दुरुच्चार्य है। प्रवाह में बाधा पड़ती है। कवि ने ऐसे शब्द रखे हैं जिनसे वासुकि के फन उठाकर फूत्कार करने की ध्वनि का स्वतः ही आभास होता है; यह तो ठीक है; किन्तु 'स्फीत' के उच्चारण करने में कुछ कठिनाई का बोध होता है जो नहीं होना चाहिए था। फिर भी प्रवाह अच्छा रहा है।

श्री 'नवीन' जी के 'कुंकुम' में एक 'अपूर्ण यात्रा'* शीर्षक कविता बड़ी सुन्दर है। 'चन्द्रवदनी' के रूप में आकर्षित होकर कवि यात्रा पूर्ण नहीं कर सका और पथ-भ्रष्ट हो जाने पर लिखता है :—

पहिली चिड़िया चहक रही थी
अति निर्जन कानन में
अथवा नव चेतना खिली थी
नव जाग्रत आनन में
ऐसे समय भूल कर अपना
और पराया सारा;
मैं चल पड़ा पार करने को
जीवन पथ अँधियारा;
उषःकाल बीता, प्रभात बीता
दोपहरी आई;
एकाकिनी प्रवास-भावना
मग में कुछ अलसाई;
इतने में ही आँखें ठिठकीं
तेरा उपवन देखा;
दिल हिल गया खिंच गई मुख पर
आतुरता की रेखा;
मचल गया यह मनुआ भोला
तव दर्शन पाने को

* पुस्तक का पृष्ठ ११८ देखिए।

चन्द्र-खिलौने से अथवा
अपना मन बहलाने को ;
रुक कर यात्रा पथ से भटका
उलझा तेरी स्मृति में ;
चिन्ताओं ने छाप लगादी
मेरी जीवन कृति में ।

सारे छन्द की भाषा, एक-से शब्दों में, बड़े अच्छे प्रवाह में रही है किन्तु खड़ी बोली के शब्दों में 'मनुआ' शब्द सहसा आजाने से प्रवाह में गड़बड़ी पैदा हो जाती है । चन्द्र-खिलौने को लेने के लिए बच्चा (मुनुआ) मचला करता है । कवि का मन, बचपन की याद में, 'मनुआ' बन कर आया !! सम-शक्ति शब्दों के अभाव में वह अलग ही बैठा रहा, घुलमिल नहीं पाया । परिणाम यह हुआ कि 'मनुआ' शब्द के अनन्तर तीनों पंक्तियाँ प्रभावहीन हो गईं । जहाँ युवक-मन छोटे बच्चे के रूप में बोलने का प्रयत्न करेगा वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक ही है !

'जादूगरनी' में श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने 'माया' अथवा 'नारी' के अगणित रूप दिखाते हुए लिखा :—

जब पर्दा करती गुणवान,
चिर रहस्य-सी, गूढ़ प्रश्न-सी
चिर-जिज्ञासा-सी अनजान
कितने उत्कण्ठित हृदयों में
कर लेती युग-युग को स्थान
झीनी-झीनी मधुर बदरिया में
छिप कर मुसकाती है
जग-चकोर की आँखों को तू
आकुलता बन जाती है ।

यहाँ भी खड़ी बोली के शब्दों में 'बदरिया' शब्द कानों में खटकता है ।

इसका छन्द भी बदल जाने पर प्रवाह की गति बदल गई है और अन्तिम छन्द में प्रवाह रुक रहा है।

'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में एक स्थान पर निम्नलिखित छन्द है :—

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्त्व करते हैं मनुज के कार्य ;
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश
और करता शब्द गुण अम्बर वहन सन्देश
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल

सारे छन्द में तत्सम शब्दों की भरमार है। केवल एक उर्दू का लफ़्ज़ 'हुक्म' बुरा मालूम होता है। वह सबसे अलग बैठा हुआ है। मालूम ऐसा पड़ता है कि उसकी बोलती बन्द है! वह सारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। * हम उर्दू शब्दों के विरुद्ध नहीं हैं। यदि उर्दू शब्द लाने हैं तो धीरे-धीरे संस्कृत पदावली से नीचे उतरना पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरा छन्द 'कुरुक्षेत्र' से उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है :—

चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान :
मोम सी कोई मुलायम चीज़
ताप पा कर जो उठे मन में पसीज—पसीज ;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार ;
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार ;
चांदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान ;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान ;
रंग में घुलता हुआ खिलती कली का राज़
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज़
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर
फूल की, रस में बसी भीगी हुई ज़ंजीर।

---

* देखिए पृष्ठ १३७, १३८, २०६ से २०८।

रेखाङ्कित शब्द यहाँ छन्द में अच्छी तरह अपनी बिरादरी के शब्दों में घुले-मिले हुए हैं। 'भोर' शब्द अवश्य खड़ी बोली का नहीं है और न इस बोली में घुल-मिल सकता है। 'प्रातः की मुसकान' अथवा 'सुबह की मुसकान' अच्छा प्रतीत होता है। किन्तु खड़ी बोली गद्य में भी यह शब्द व्यवहृत हो रहा है।

जो कतिपय उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे यह आशय स्पष्ट हो गया होगा कि किस समय भाषा प्रवाह में बाधाएँ पड़ती हैं।

कहा यह भी जाता है कि चिन्तन-प्रधान रचनाओं में प्रवाह नहीं आ सकता। मेरी राय में यह बात सही नहीं है। यदि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है तो कविता में अवश्य भाषा-प्रवाह सुन्दर रहेगा। चाहे विषय इतिवृत्तात्मक हो अथवा चिन्तन-प्रधान। अवश्य, उस चिन्तन का आधार समाचार-पत्रों में पढ़े हुए व्याख्यान एवं उनमें निकले कतिपय लेख नहीं होने चाहिए। कवि की स्वानुभूति का आधार कुछ तो होना चाहिए। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक कवि ने किसी को यह कहते सुना कि एक छोटे क्षण का बड़ा महत्व है। कवि ने चिन्तन किया तो उसकी सुप्त स्मृति जग उठी। उसे याद आया कि वह क्षण जिसमें सहसा वह प्रणय-सूत्र में बंध गया था और फिर क्षण-क्षण सुख की सामग्री जुटती गई। एक क्षण में उसके हृदय में नवीन भाव आए और उसने कविता लिखी; दूसरे क्षण में उसकी कविता सहृदयों ने सुनी; और उसकी अत्यधिक प्रशंसा की; तीसरे क्षण में कविता प्रकाशित हुई, और संसार के प्रसिद्ध पत्रों ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया, चौथे क्षण में उस कविता के ऊपर संसार का भारी पारितोषक मिला; फिर पाँचवें क्षण उसके घर पुत्र-रत्न की उत्पत्ति भी हुई। एक-एक क्षण में ही मानों सब कुछ होता रहा था। कवि ने सोचा ओहो एक छोटा क्षण कितने महत्व का होता है। फिर सोचा, क्या एक क्षण में अच्छी बातें ही होती हैं बुरी नहीं होती हैं? कवि को तब सहसा याद आ गई उस क्षण की जब उसकी ममता की साकार मूर्ति माता सहसा चल बसी थी, और फिर उस क्षण की जब एक क्षण में अग्नि से सहसा जल कर मृत्यु हो जाने पर उसकी छोटी भगिनी भी चल दी। फिर अपने उस भाई

की जो ऊपर छत से सहसा गिर कर जन्म भर को पंगु बन गया था ! यह भी एक क्षण की ही घटना थी। और तब उस मित्र की जिसको सोते सोते पक्षाघात ने दबा कर जीवनयापन में नितान्त असमर्थ बना डाला ! कवि ने परिणाम यह निकाला कि जीवन में इन्हीं छोटे-छोटे क्षणों का महत्व है। इन्हीं छोटे-छोटे क्षणों से जीवन-माला गुथी हुई है। एक छोटे क्षण में सब कुछ हो सकता है। जीवन-प्यास भी बुझ सकती है और सारा जीवन सहसा नष्ट हो सकता है। कवि की स्मृतियों ने अनुभूति तीव्र करदी थी अतः लेखनी चलने चली। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि श्री रामदयाल पांडेय ने इसी प्रकार सोचा होगा किन्तु उनके 'अशोक' की निम्नलिखित पंक्तियों का भाषा-प्रवाह बड़ा सुन्दर हो गया है। भाव तो ऊंचा है ही।

है एक एक पल से निर्मित
जीवन की यह काया विशाल
पल ही हैं इसके अमित अङ्ग
संयम है इसका दिव्य भाल

ज्यों एक अंग का रोग निखिल
काया को शिथिल बनाता है
त्यों लघु पल की दुर्बलता से
जीवन दुर्बल हो जाता है !

ज्यों किरण किरण की आभा से
बनता प्रभात का उजियाला
त्यों क्षण-सुमनों के सौरभ से
गुम्फित होती जीवन—माला

\+ \+ \+ \+

क्षण भर की आँधी भर देती
युग के रंध्रों में कोलाहल
क्षण भर का गति-वैषम्य मचा
देता जीवन में उथल पुथल

क्षण भर का पक्षाघात छीन
लेता अंगों की अँगड़ाई;
संध्या का छोटा क्षण बटोर
लेता दिन भर का अरुणाई।

क्षण—क्षण के अर्जित गौरव से
जीवन होता गौरव—शाली
क्षण - क्षण का मधुरस पी—पीकर
भरती मधु से जीवन—प्याली।

सारांश यह कि जितना कवि का भाषा पर अधिक अधिकार होगा, संसार का जितना अधिक विभिन्न स्तरों का एवं व्यापक अनुभव होगा और अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होगी, भाषा उतनी ही अधिक स्वाभाविक होगी और भाषा-प्रवाह उतना ही अधिक सुन्दर रहेगा।

× × × ×

मेरे लेखों में कई बातें दुहराई अवश्य गई हैं। किन्तु यदि वे ही बातें बार-बार दुहरानी भी पड़ी हैं तो भी मैंने संकोच नहीं किया क्योंकि आधुनिक कविता की भाषा का रूप देखते हुए नवकवियों एवं कविता प्रेमियों के हृदयों में यह बात भली प्रकार बैठालने का मैंने प्रयत्न किया है कि साधारण कविता में प्रसाद गुण, औचित्य, एकरूप भाषा, दोष-हीन भाषा एवं भाषा-प्रवाह—ये पाँच बातें होनी आवश्यक हैं। काव्य-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए ये तैंतीस प्रतिशत अंक हैं। सुन्दर रचनाओं के लिए थोड़े से शब्दों में गंभीर भाव दिखलाने के अतिरिक्त कुछ अधिक परिश्रम करने की और आवश्यकता है। यह मेरे दूसरे ग्रन्थ का विषय है। इस सम्बन्ध में जो विचार प्रकट कर चुका हूँ वह इस पुस्तक के अन्तिम लेख 'सजीव कविता' शीर्षक में पाठकों को मिलेंगे। 'कृष्णायन' और 'कुरुक्षेत्र' पर भी कुछ विचार इस लेख में मिलेंगे। इन्दौर की 'वीणा' के सम्पादकद्वय प्रोफेसर कमलाशंकरजी मिश्र एम० ए० सा०र० और श्री भालचन्द्र जोशी एम० ए०, सा० र० का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने १९४९ व १९५० के 'वीणा' के अंकों में इस लेख का अधिकांश प्रकाशित कर दिया है।

नव कवियों का ध्यान, अन्त में, मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि कला के मन्दिर में धैर्य ही वास्तव में 'प्रतिभा' है। कठिनाइयों के बीच में भी, धैर्य रखकर कवियों ने अपनी रचनाओं में भाषा-दोष एवं अनौचित्य हटाकर, भाषा की स्पष्टता, भाषा की एकरूपता, भाषा-प्रवाह, पात्रों के अनुरूप भाषा और विचारों के साथ साथ यदि ध्वनि-योजना, शब्दों के पर्याय, भावानुकूल शब्दचयन, प्रसंगानुकूल शब्द-स्थापना एवं प्रौढ़ विचार-शक्ति पर अधिक ध्यान दिया तो आधुनिक हिन्दी कविता में शीघ्र ही प्रसाद गुण एवं अर्थ-गौरव से समलंकृत कालिदास एवं तुलसीदास की कोमल-कान्त पदावली, सूक्ष्म-दृष्टि, उक्ति-वैचित्र्य, एवं अनूठी कल्पना दिखाई पड़ने लगेगी और तभी हमारा स्वप्न सत्य हो सकेगा।

१८, गाँधी रोड,
ग्वालियर।

बृजकिशोर चतुर्वेदी

प्रथम भाग

भाषा-भार सँभारि है, क्यों कविवर सुकुमार ?
डगमग डगमग हो पग, छाया ही के भार !!

आधुनिक कविता की भाषा

अवगुण्ठन युग

श्री गुप्तजी की 'यशोधरा' और 'बच्चन' का 'निशा-निमंत्रण'

कविता के लिए भाव और भाषा दोनों की आवश्यकता होती है। भाव मुख्य है, भाषा गौण। परन्तु हृदय में कविता का वास्तविक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जितनी अधिक आवश्यकता अपूर्व भाव की है उतनी ही अधिक सुन्दर मँजी हुई टकसाली-भाषा की भी।

तुलसीदासजी की कोई चौपाई ले लीजिए। ऐसा मालूम होगा कि एक-एक शब्द चुन-चुन कर रखा गया है। विहारी के सात सौ दोहों में कोई भी दोहा ऐसा नहीं है जिसमें एक भी शब्द बदला जा सकता है। स्वर्गीय पद्मसिंहजी शर्मा ने एक स्थान पर एक कवित्त और एक दोहे की तुलना करते हुए लिखा था कि दोहा पेंच में कसी हुई रुई की गाँठ मालूम होता है और कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घास का गट्ठर। अच्छी तरह छान-बीन करके देखा जाय तो प्राचीन हिन्दी-कविता और आधुनिक हिन्दी-कविता की भाषा में यह भेद अलग नजर आता है। छायावाद की छाया भाव पर पड़ी या नहीं, कहा नहीं जा सकता, परन्तु भाषा को उस छाया ने बुरी तरह दबा लिया है।

रसखान और घनानन्द ने अपने काव्य में वे शब्द नहीं आने दिये थे जो थोड़े भी कर्ण-कटु या कठोर मालूम होते थे, परन्तु आजकल की कविता में, जबरदस्ती और बेमतलब, संस्कृत के कठोर शब्द, भर देना, छायावाद की एक निशानी समझी जाती है।

जहाँ उर्दू शायर एक-एक शब्द को चुन-चुन कर शेर में इस मतलब से बैठालने की कोशिश करते हैं कि सुनते ही कलेजे में तीर की तरह जा घुसे—वहाँ हमारे हिन्दी के आधुनिक कवि, अपने अंग्रेज़ी समालोचकों की दुहाई देते ए, बहाव में, जो कुछ उल्टे सीधे शब्द सामने आते रहें उनको ही कविता में भर देना पर्याप्त समझते हैं। और जब तक आधुनिक छायावाद के 'बेसिक" (Basic) शब्द कविता में न आवें तब तक कविजी को संतोष नहीं हो सकता।

ये 'बेसिक' शब्द कौन-कौन से हैं, इनका विवेचन किसी स्वतन्त्र लेख में किया जायगा। परन्तु 'अवगुण्ठन', 'तन्द्रिल' 'नीड' 'उर्म्मि' 'वतास' 'बातायन' 'स्मित' 'स्निग्ध' 'फेनिल', 'उच्छ्वास', 'स्वप्निल', 'तरी', और 'चल' शायद बहुत ही अच्छे शब्द समझे गये हैं और हर एक छोटी और बड़ी कविता में इनका आना अनिवार्य माना गया है।

अवगुंठन-युग

'अवगुंठन' शब्द का 'निराला' 'पन्त', 'बच्चन' और महादेवीजी ने इतने वार प्रयोग किया है कि प्रतीत तो यह होता है कि छायावाद का प्रणव यही हो। 'यामा' में १०० बार से भी अधिक इस शब्द का प्रयोग हुआ है—कहीं-कहीं प्रयोग उत्तम है, कहीं-कहीं मध्यम और कहीं-कहीं अधम, परन्तु इतना अधिक प्रयोग, किसी भी शब्द का कानों को थका डालता है। दो एक नमूने दिखलाना अनुचित न होगा—

(१) काल सीमा के सङ्गम पर
मोम सी पीड़ा उज्ज्वल कर
उसे पहिनायी अवगुण्ठन
हास औ रोदन से बुन—बुन

(२) तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुण्ठन से

मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से

(३) मृदु फेनमय मुक्तावली से
तैरते तारक अमित
सखि ! सिहर उठती रश्मियों का
पहिन अवगुण्टन अवनि

(४) मिथ्या प्रिय मेरा अवगुण्ठन !
पाप शाप, मेरा भोलापन !
चरम सत्य, यह सुधि का दर्शन
अन्तहीन, मेरा करुणा कण

(५) तारक मय नव वेणी बन्धन
शीश-फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित घन-अवगुंटन
मुक्ता हल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी

(६) उजियारी अवगुण्ठन में
विधु ने रजनी को देखा
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा

(७) गुलाबी चल चितवन में बोर
सजीले सपनों की मुसकान
झिलमिलाती अवगुण्ठन डाल
सुना कर परिचित भूली तान

(८) घोर घन की अवगुण्ठन डाल
करुण सा क्या गाती है रात ?

(९) आज कहाँ मेरा अपनापन !
तेरे छिपने का अवगुण्ठन
मेरा बन्धन तेरा साधन

यह नहीं कि 'अवगुण्ठन' की जगह 'घूँघट' से काम नहीं चल सकता था, या आपको 'घूँघट' शब्द से चिढ़ थी। महादेवीजी ने 'घूँघट' का भी प्रयोग किया है। और वह भी एक जगह नहीं, कई जगह—दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) 'आता कौन' नीड़ तब पूछेगा
विहगों का रोर
दिग्वधुओं के घन-घूँघट के
चंचल होंगे छोर

(२) स्निग्ध रजनी से लेकर हास
रूप से भर कर सारे अंग
नये पल्लव का घूँघट डाल
अछूता ले अपना मकरन्द

'बच्चन' ने जब देखा कि 'अवगुण्ठन' के बिना कविता, कविता नहीं मानी जा सकती तो उन्होंने भी लिखा कि—

दिग्वधुओं का मुख तमाच्छन्न
अब अस्फुट आभा से प्रसन्न
यह कौन उषा का अवगुण्ठन ?
गा-गा करके खोलने लगी ?

महादेवीजी का प्रभाव वर्तमान हिन्दी-कवियों पर अत्यन्ताधिक है, यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रयाग में रहकर 'बच्चन' भी किस तरह बच सकते थे ? 'अवगुंठन' आ चुका था तो 'घूँघट' भी आना-ही चाहिए था। आपने पुनरुक्ति दोष की परवाह न करते हुए लिख डाला:—

"देख, रात है कितनी काली !
आज सितारे भी हैं सोए
बादल की चादर में खोए
एक बार भी नहीं उठाती, घूँघट-अवगुंठन वाली"

(निशा-निमन्त्रण ३८)

दूसरे कवियों का भी करीब-करीब ऐसा ही हाल है—अधिक लिखना व्यर्थ है।

छायावाद के 'प्रणव' के उदाहरण हर एक नये कवि की कविता में आसानी से मिल जायँगे। मैं समझता हूँ कि अगर वर्तमान हिन्दी-कविता-युग को "अवगुंठन-युग" कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

मैथिलीशरणजी गुप्त की 'यशोधरा'

'रहीम' ने लिखा था—

दोहा दीरघ अरथ के,
आखर थोड़े आं'ह,
ज्यों 'रहीम नट कुंडली
सिमटि कूदि कढ़ि जांहि'

जरा से दोहे में, दीर्घ अर्थ, सही सलामत, बिना उलझे, निकाल देना ही वास्तविक कविता मानी जाती थी, परन्तु श्रद्धेय गुप्तजी 'रहीम' की इस बात के कायल नहीं।

आप किसी सिद्धान्त पर प्रारम्भ में चलते रहे हों, परन्तु 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' के बाद जब आपने नवीन क्षेत्र में पदार्पण किया तो 'बहुत-से शब्द और थोड़े से अर्थ' का सिद्धान्त सामने रखा। आपकी प्रसिद्ध कृति 'यशोधरा' इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रख कर लिखी गयी प्रतीत होती है। अनेकानेक वर्तमान कवि भी इसी परिपाटी के अनुगामी हो रहे हैं।

जिसने 'भारत-भारती', जयद्रथ-वध', विरहणी व्रजांगना' लिखी हों—'पलासी के युद्ध' का सुन्दर अनुवाद पद्य में किया हो—वही महाकवि बाद में अपना समय 'यशोधरा' ग्रन्थ पर नष्ट करेगा—यह देखकर किसको दुःख नहीं होगा ?

सिद्धार्थ के मुँह से एक संस्कृत और गँवारू भाषा मिश्रित कविता कहला कर पुस्तक का प्रारम्भ किया गया है। इसमें क्या भाव है ? हमारी समझ में नहीं आया। सिद्धार्थ कहते हैं—

"घूम रहा है कैसा चक्र
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र।

इसका अन्तिम पद्य है—

बाहर से क्या जोड़ूँ-जाड़ूँ
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ
रह भव सागर नक्र

'जोड़ूँ जाड़ूँ' 'पल्ला झाड़ूँ,' दाँत उखाड़ूँ' 'तक्र', 'चक्र', और 'भवसागर नक्र' का एक अजीब समा जुटाया गया है। नये-नये अशुद्ध और अनुपयुक्त शब्दों की भरमार अगर देखनी है तो पृष्ठ ११ से १८ तक की तुकबन्दी देखिए। कुछ उदाहरण लीजिए—

(११) भूले हैं अपना अपरिणाम
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम
(१२) चिर निद्रा की सब झूमझाम
हो जाय घोर भी प्रबल पाम
(१५) तो सत्य कहाँ ? भ्रम और भ्राम
(१७) दुल मातृ हृदय के मृदुल दाम
भय, कह, किस पर यह भूरि भाम
मेरा प्रभात यह रात्रि याम
(१८) वह जन्म-मरण का भ्रमण-भाण

'अपरिणाम' क्या होता है ? 'चिर-निद्रा की झूमझाम' है या तुकबन्दी की ? 'प्रबल पाम', 'दुल', 'दाम', 'भूरि-भाम', 'रात्रियाम'

और 'भाण' से क्या तात्पर्य है ? और किस तरह ये प्रयोग यहाँ उपयुक्त हैं ? 'राम-राम का क्या संकेत है ? कौन बताने की हिम्मत करे ?

सिद्धार्थ की माता महा 'प्रजावती एक स्थान पर कहती हैं। (पृष्ठ २८)

"निकले भाग्य हमारे सूने
वत्स दे गया तू दुख दूने
किया मुझे कैकेयी तूने
हा कलंक यह काला !
मैंने दूध पिला कर पाला !!

अपनी माँ को 'कैकेयी' बुद्धदेव किस तरह बना सकते थे ? क्या बुद्धदेव ने कहीं यह भी कहा था कि उनकी माँ ने उनके पिता से उनके बड़े भाई को बनवास दिला दिया इसलिए पिताजी का स्वर्गवास हो गया है और उनकी माँ 'कैकेयी' है ? या महा प्रजावती को इसकी जरा भी आशंका थी ? या फिर कुछ न कुछ लिखना ही अभीष्ट था ?

पृष्ठ ४१ पर लिखा है—

भिक्षा न लेकर स्वागत से भी
वंचित यहाँ किया है;
हन्त ! अन्त में यह अविनय भी
तुमने मुझे दिया है।

'हन्त', 'अन्त' का अनुप्रास देखिए कितना सुन्दर है ? उपयुक्त हो या नहीं; मतलब निकले या नहीं—अनुप्रास तो है !! और 'अविनय' क्या ? ढीठता ? या 'अपरिणाम ?'

पृष्ठ ८६ पर एक 'नई तरंग' चल गयी है। आप लिखते हैं—

जलने को ही स्नेह बना।
उठने को ही वाष्प बना है
गिरने को ही मेह बना।

जलता स्नेह जलावेगा ही
फोले बाष्प फलावेगा ही
मिट्टी मेह गलावेगा ही
सब सहने को देह बना !

निम्न लिखित कविता भी पढ़ लीजिए और सोचिए कि ऊपर की कविता से रत्ती-रत्ती मिल जाती है या नहीं ?

'भू, भूकम्प, हलावेगा ही
दुर्मुख दाल दलावेगा ही
गाड़ी-बैल चलावेगा ही
मिट जाने को देह बना'

"फोले बाष्प फलावेगा ही" कितनी सुन्दर उक्ति है ? वास्तव में कहने का ढँग होता है जो बात गुप्तजी कहने का प्रयत्न करते हैं और जोड़-तोड़ कर भी नहीं कह पाते वही बात महादेवीजी बड़ी मधुर भाषा में बड़ी सुगमता के साथ कह जाती हैं। कहने का ढँग तो देखिए :—

"विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द
यहाँ किसका अनन्त यौवन
अरे अस्थिर छोटे जीवन !"

'यशोधरा' के सिद्धार्थ का आचार-विचार कैसा था, यशोधरा और सिद्धार्थ में कैसा प्रेम था। यशोधरा की दृष्टि में सिद्धार्थ का रहन-सहन अच्छा था या बुरा ? पुस्तक में स्पष्ट रूप से विवेचन नहीं किया गया। परन्तु पृष्ठ २० पर जो कवित्त 'यशोधरा' के मुख से कहलाया गया है वह अत्यन्त निन्दनीय है। यशोधरा कहती हैं—

"आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,
मानती हूँ उनको गहन वनगामी मैं।
ध्यान-मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा—
क्योंजी प्राण-वल्लभ कहूँ या तुम्हें स्वामी मैं?
चौंक, कुछ लजित से, बोले हँस आर्यपुत्र
योगेश्वर क्यों न होऊँ, योगेश्वर नामी मैं
किंतु चिंता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ
तो हूँ जार पीछे, प्रिये! पहिले हूँ कामी मैं!!

भाव हीन, भाषा हीन, अनर्गल बकवाद ही नहीं—यह तुकबन्दी, सिद्धार्थ और यशोधरा दोनों के सदाचार की मूर्तियों के उज्ज्वल चरित्र को कलंकित करने को पर्याप्त है! सिवाय हिन्दी-समालोचकों के 'यशोधरा' की, और कौन प्रशंसा कर सकता था?

'बच्चन' का 'निशानिमन्त्रण'

हरिगीतिका छन्द में जितने गुप्तजी सफल हुए उतना दूसरा कोई नहीं हो पाया। पर जब हरिगीतिका छन्द छोड़ कर दूसरा औजार हाथ में लिया तो गुप्तजी उतने ही असफल रहे। यही हाल 'बच्चन' का 'निशा-निमन्त्रण' में हुआ। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' का मधु छोड़ कर जहाँ 'अवगुण्ठन-युग' में आने का प्रयत्न किया वहीं सीढ़ी से फिसलना शुरू हुआ!! क्या अच्छा होता कि छायावाद मधुशाला और मधुबाला तक ही परिमित रहता!

एक अंग्रेजी समालोचक ने एक स्थान पर लिखा है कि अगर अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) अपनी ⅔ कविताएँ नष्ट कर देता तो वह अंग्रेजी-साहित्य में तो क्या संसार के साहित्य में सबसे बड़ा कवि गिना जाता। मेरा विचार है कि बिहारी ने अपनी बहुत सी कविताएँ अपने सामने ही नष्ट कर दी थीं इसीलिए उनकी प्रारम्भिक कविताएँ या वे कृतियाँ दिखलायी नहीं

पड़ती जो सतसई के दोहों के मुकाबले में बहुत कमजोर थीं। हिन्दी साहित्य में बिहारी का मान इसीलिए इतना अधिक है।

अगर हमारे नवयुग के कवि भी इससे कुछ सबक सीखें तो हिन्दी-साहित्य में उस रद्दी साहित्य का कूड़ा करकट न भर पावेगा जो आजकल चारों ओर बिखरा दिखलायी पड़ता है—

'निशा-निमन्त्रण' में कहीं-कहीं अच्छे भाव अवश्य हैं, परन्तु भाषा में स्थान-स्थान पर शैथिल्य दिखायी देता है। एक स्थान पर लिखा है--

क्या मैं जीवन से भागा था?
स्वर्ण शृंखला प्रेम-पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी
क्या उससे लिपटा रहता जो
कच्चे रेशम का तागा था?

❀　　❀　　❀

बूँद उसे तुमने दिखलाया
युग-युग की तृष्णा को लाया
जिसने चिर अथाह मधु-मज्जित
जीवन का प्रति क्षण माँगा था!

शुद्ध संस्कृत शब्दों के बीच में 'कच्चे रेशम का तागा' इतना कमजोर है कि पढ़ते ही या देखते ही टूट जाता है और कविता के बहाव को बिलकुल बिगाड़ देता है। एक दूसरे स्थान पर लिखा है :--

अब घन-गर्जन-गान कहाँ है!
कहती है ऊषा की पहली
किरण लिए मुस्कान सुनहली
नहीं दमकती दामिनि का ही
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है

कहता एक बूँद आँसू झर
पलक पाँखुरी से पल्लव पर
नहीं मेह के लहरे का ही
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।

कविता में कोई खास भाव नहीं है। वही पुरानी बातें पुरानी तरह कही गयी हैं परन्तु 'आँसू' और ऊषा की पहली किरण' का अस्तित्व बताना छायावाद के लिए एक हद तक ठीक है। रही सही यह बात भी तीसरे छन्द में समाप्त हो जाती है जब बिना सोचे समझे 'बच्चन' जी लिख मारते हैं :—

"टहनी पर बैठी गौरैया
चहक-चहक कर कहती भैया
नहीं कड़कते बादल का ही,
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।

जहाँ तक भाव से सम्बन्ध है अगर निम्नलिखित शब्द लिख दिये जाते तो भी आपका भाव सुरक्षित रहता :—

"टहनी पर इक काला कौआ
काँउ काँउ कर कहता हौआ!
नहीं कड़कते बादल का ही,
मेरा भी अस्तित्व यहाँ है!"

पता नहीं आपने 'गौरैया' को ही तरजीह क्यों देना मुनासिब समझा! रामायण के सम्मानित कागभुशुण्डजी ने क्या अपराध किया था?

एक स्थान पर 'गौरैया' को सम्मान दे चुके थे तो आपको कबूतर-कबूतरी को सम्मान देना अनिवार्य हो गया। आपने एक 'गीत'—'भीगी रात विदा अब होती' (७९) में लिखा: —

"प्राची से ऊषा हँस पड़ती
विहगावलियाँ नौबत झड़ती

पल में निर्मम प्रकृति निशा के,
रोदन की सब चिंता खोती।

यहाँ "ऊषा का अवगुण्ठन खुलते ही" सहसा ऊषा हँस पड़ती आपको दृष्टिगोचर हुई। कितना अच्छा दृश्य है? या तो घूँघट से मुँह ढका हुआ ही रहा और अगर खुला तो हँसी ही नहीं रुकी।

ऊषा के 'हँस पड़ने'—मुस्कराने का नहीं—हँस पड़ने का नया दृश्य है। उसी तरह नौबत बजने का नहीं 'नौबत झड़ने' का, नया मुहावरा है। विहगावलियों के 'चें, चें, चें, चें,' से 'नौबत झड़ने' का अवश्य ख्याल हो सकता है! झींगुरों की झनकार से, शायद शाम को, नौबत बजने का ख्याल होता होगा; मगर प्रातः चिड़ियों के चहचहाने से 'नौबत झड़ने का ही ख्याल हो सकता है नौबत बजने का नहीं!

जिस तरह 'नौबत झड़ने' के वर्णन करने का शौक 'बच्चन' को है उसी तरह महादेवीजी ने 'हरशृङ्गार' फूलों के झड़ जाने के विषय में कई बार लिखा है। यथा—

'शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधु कण
हर सिंगार झरते हैं झर-झर!"

हर शृंगार के फूल झड़ जाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है और मुहावरा भी ठीक ही है। अवश्य, जिसने हरशृंगार के झड़ने का दृश्य देखा है वह बिना कहे नहीं रह सकता कि हरशृंगार फूल इतनी खामोशी से झड़ते रहते हैं कि कोई यह नहीं कह सकता कि कब झड़ गये और इसलिए "झर-झर" में जो आवाज है, जो ध्वनि है, जो नाद-साम्य है वह बिलकुल अशुद्ध है। इसीलिए शायद आगे जाकर लिखा गया है कि :—

"हीरे झरें शिथिल कबरी में
गूँथे हर शृङ्गार कामिनी।"

'ऊषा के हँस पड़ने' या "विहगावलियों" के "नौबत झड़ने" में ही भूल हुई हो यह बात नहीं है, इसी गीत का आगे का अन्तिम भाग और भी अपूर्व है।

"हाथ बढ़ा सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के
अपने गीले पंख सुखाते,
तरु पर बैठ कपोत-कपोती"

यह दृश्य शायद ही किसी ने देखा होगा। गौरैया का महत्व देखा; तो कपोत-कपोती का भी दृश्य देख लीजिए। भीगे पंख सुखाने के लिए धूप होनी चाहिये। जिस तरह मनुष्य समाज धूप में, शरीर गर्म करने के लिए बैठा करता है शायद उसी तरह "कपोत-कपोती" भी बैठते होंगे। अन्दाज भले ही कर लीजिए; बैठा तो किसी ने भी नहीं देखा होगा क्योंकि सुबह-सुबह 'कपोत-कपोती' दाने-चारे के लिए उड़ जाया करते हैं। वृक्ष पर तो क्या बैठे रहते होंगे। लेकिन अगर वे बीमार हो गये हों तो क्यों नहीं बैठे रहेंगे ? जरूर बैठे रहेंगे ! फिर समझ लीजिए 'बच्चन' के 'कपोत-कपोती' बीमार ही हैं !

पर क्या आपने यह भी सोचा है कि अगर बीमार हों तो कपोत-कपोती ही क्यों, चील, कौए, अबाबील, सभी पंख सुखाने बैठते होंगे। कपोत-कपोती में ही क्या खास बात रही ? खैर, कुछ खास बात होगी ही जब इतने भारी कवि ने जिकर करना मुनासिब समझा ! पं० रूपनारायण पांडेयजी ने भी 'बन विहंगम' में 'कपोत कपोती' के ही प्रेम का वर्णन किया है:—

"बन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में,
एक कपोत कपोती कहीं
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता,
ऐसे हिले मिले दोनों वहीं"

समझ लीजिए जब 'बच्चन' छायावाद में पैर आगे कर रहे थे तो पांडेयजी की यही कविता पढ़ रहे थे इसलिए 'कपोत-कपोती' स्मृति से विस्मृत नहीं हो सकते थे। बाकी ख्याल तो अच्छा ही है—

हाथ बढ़ा, सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के

कितनी ऊँची कल्पना है! सूरज की किरणें हैं वही उसके हाथ हैं, जिनसे वह फूलों के आँसू पोंछ रहा है!!

इसी बात को 'नूह' नारवी ने कितनी अच्छी तरह मगर दूसरी तर्ज में लिखा है:—

"माना कि लुटाया रातों को,
गुलजार में मोती शबनम ने
जब सुबह हुई सूरज निकला,
तो जेब थी खाली फूलों की"

इसी तरह पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'प्रथम-रश्मि' में लिखा है:—

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना

सर मुहम्मद इकबाल ने भी एक जगह लिखा था—

"लगती है चोट दिल पे, आता है याद जिस दम
शबनम के आँसुओं पर, कलियों का मुस्कराना"

अगर ऊषा की तरह, संसार के कवियों के फूल और कली, प्रातःकाल में, मुस्करावें तो भले ही मुस्कराने दीजिए, हमारे 'बच्चन' के फूल तो आँसू ही बहाते रहेंगे!! क्योंकि उस समय नन्हे-नन्हे बच्चे भी रोते रहते हैं!! गीत (नं० ७६) में लिखा है—

शुरू हुआ उजियाला होना।
किसी बसे द्रुम की डाली पर
सद्यः जाग्रत चिड़ियों का स्वर,
किंवा सुखी घर से सुन पड़ता है
नन्हें बच्चों का रोना

प्राकृतिक वर्णन इतना उत्तम किसी भी साहित्य में नहीं मिल सकेगा !! "सद्यः जाग्रत" और "शुरू हुआ" में ठेठ हिन्दी का ठाठ है। 'किसी' शब्द में, इस गीत में नीति का और बच्चों की प्रीति का दिग्दर्शन है !

एक जगह आपने यही गीत बना डाला:—

"आओ' सो जायें, मर जायें"

क्या बात हुई ? चाहे सो जाओ, चाहे मर जाओ, तबीयत जो हो करो; मगर दोनों काम कैसे कर सकते हो ? और अगर 'मर जाने में' ही 'सो जाना' आ जाता है तो दुहराने की आवश्यकता क्या है ?

मगर 'दुहराने' की आदत बहुत पुरानी है। सैकड़ों उदाहरण 'पुनरुक्ति दोष' के दिये जा सकते हैं। एक जगह यही लिख डाला है—

"सागर में हम कूद पड़े थे,
भूल जगत के कूल किनारे"

'भूल' के साथ 'कूल' मिला कर अनुप्रास की सृष्टि की गयी और 'प्यारे' और 'किनारे' की तुक मिला दी गयी। दो चिड़ियों को एक ही पत्थर से मार दिया गया ! एक जगह लिखा है:—

"साथी हमें अलग होना है
भार उठाते सब अपने बल
संवेदना प्रथा है केवल

अपने सुख-दुख के बोझे को
सबको अलग-अलग ढोना है"

एक नयी बात है। दु:ख का बोझा सभी ने बताया है। 'बच्चन' सुख का बोझा भी ढो रहे हैं। समवेदना हमदर्दी किसी के दु:ख में ही दिखलायी जाती है मगर आपके यहाँ सुख के बोझे में भी दिखलायी जाती है। समवेदना से किसी का बोझ—किसी का दु:ख हलका नहीं होता—केवल प्रथा ही है। 'भार उठाते सब अपने बल' में एक ऐसी खास बात है जो 'सबको अलग-अलग ढोना है' में नहीं आ सकती थी।

सुख-दु:ख दोनों का बोझा इनता अधिक है कि आप उसमें दब चुके हैं और दोनों की वजह से आपकी "छाती विस्तृत" दग्ध हो रही है, तभी तो आप कहते हैं।

"आ गिन डालें नभ के तारे!
देख मनुज की छाती विस्तृत
दग्ध जिसे करने को संचित
किए गये हैं अंबर भर में
इतने चिरज्वलंत अंगारे"

किसी मनुष्य की छाती इतनी 'विस्तृत' अभी तक किसी कवि ने बतलाने की चेष्टा नहीं की जितनी 'बच्चन' ने बतलायी है। शायद काल पुरुष की छाती से मतलब हो! और कहने का ढंग भी कितना बेतुका-सा है! 'अमीर मीनाई' ने बहुत पहले यही बात बड़े अच्छे ढंग से कही है और बहुत से उर्दू तथा हिन्दी कवि भी दुहरा चुके थे। अमीर ने लिखा था—

"आसमाँ पर जो सितारे नजर आए 'अमीर'
याद आए मुझे दाग अपने उभरने वाले"

परन्तु 'बच्चनजी' की तो 'छाती' ही जली हुई है। 'दिल' या 'हृदय' जला हुआ नहीं है। वे समझते हैं ये तारे छाती जलाने को ही अंगारे हैं, हृदय जलाने के लिए नहीं।

मगर 'बच्चन' के 'निशा-निमंत्रण' के गीतों को छायावाद से भी अधिक छाया ने ढक लिया है। तभी तो बहुत से कूट-पद भी आपने रच डाले हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"स्वप्न था मेरा भयंकर
धार से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ़ चादर
एक मुर्दा गा रहा था, बैठ कर
जलती चिता पर"

स्वप्न का अर्थ क्या है? बच्चन ही स्पष्ट कर सकते हैं। 'सित कफन' की 'चादर' ओढ़ने की अलबत्ता खास बात रही होगी!! और 'कफन' और 'चादर' दो अलग-अलग चीजें होंगी वर्ना लिखा जा सकता था कि 'सफेद कफन ओढ़ लिया था'—या 'सफेद चादर ओढ़ली थी'। 'धार से कुछ फासले पर' यह बात हुई थी। मगर किस तरफ? यह स्पष्ट नहीं किया। किसी 'कूल किनारे' की तरफ या जल-पानी ही की तरफ? 'कुछ फासले' से एक गज दो गज, तीन गज, कितना मतलब है? जलती चिता में चादर नहीं जली, यह भी कम आश्चर्य नहीं!

आपको नदी के पार का दृश्य अच्छा लगता है, तभी ऐसे स्वप्न दिखायी देते हैं और तभी आपने अच्छे-अच्छे और भी दृश्य वर्णन किये हैं—एक जगह लिखा है:—

कोई पार नदी के गाता
भंग निशा की नीरवता कर
इस देहाती गाने का स्वर
ककड़ी के खेतों से उठकर
आता जमुना पर लहराता!

गाने का स्वर जमुना पर लहराता आता था। वास्तव में, यह गाना नहीं था गाने का स्वर मात्र था। पंचम स्वर होगा, नहीं तो ककड़ी के खेतों से उठकर लहराता किस तरह आ सकता था?

और वह भी देहाती गाने का स्वर था। ककड़ी खाकर गाना गा रहा था या ककड़ी चोरी करके ले जा रहा था तब गाना गाया था ? यह स्पष्ट नहीं किया गया।

जो लोग नदी के पास रहते हैं वेही जान सकते हैं कि ककड़ी खाकर जब रात में शृगाल जाते हैं तब ऐसे देहाती स्वर में चिल्लाते हैं जो सहसा निशा की नीरवता को भंग कर बड़ी दूर तक लहराता चला जाता है। 'बच्चन' की सूझ तो देखिए। गौरैया, कपोत-कपोती और शृगाल—कितना सुन्दर प्राकृतिक वर्णन किया है। कितनी अनोखी सूझ है ?

अब एक नयी सूझ का और भी नमूना देखिए ! दीपक और पतंग का सम्बन्ध संस्कृत, फारसी, हिन्दू, उर्दू साहित्य में स्थान-स्थान पर गाया गया है। सूरदास का कितना मधुर पद है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यौ

वेदना-प्रधान कवियित्री महादेवीजी का निम्न-लिखित गीत भी इसी विषय पर वेदना के कणों से भीगा हुआ है:—

ओ पागल संसार !
माँग न तू हे शीतल तम मय ! जलने का उपहार।
करता दीप-शिखा का चुम्बन
पल में ज्वाला का उन्मीलन
छूते ही करना होगा
जल मिटने का व्यापार !

और भी अच्छा पद देखिए। 'सान्ध्य गीत' में लिखा है:—

घेरे है बन्दी दीपक को,
ज्वाला की बेला
दीन शलभ भी दीपशिखा से
सिर धुन धुन खेला !

❁ ❁ ❁

इसके झुलसे पंख, धूम की उसके रेख रही
इसमें वह उन्माद, न उसमें ज्वाला शेष रही
जग इसको चिर तृप्त कहे
या समझे पछताना
क्या जलने की रीति'
शलभ समझा दीपक जाना

महारथियों में सवार होने की धुन सवार तो थी ही। 'बच्चन' को भी सूझी कि दीपक-पतंग का प्रेम वर्णन करना चाहिए और जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है यह वर्णन बहुत ही अच्छा है और भाषा का प्रवाह भी बड़ा अच्छा थोड़ी देर तक रहा है:—

दीपक पर परवाने आए !
अपने पर फड़काते आए !
किरणों पर बल खाते आए,
बड़ी-बड़ी इच्छाएँ लाए बड़ी बड़ी आशाएँ लाए !
जले ज्वलित आलिंगन में कुछ
जले अग्निमय चुंबन में कुछ
रहे अधजले, रहे दूर कुछ, किन्तु न वापिस जाने पाए !

अगर यहीं समाप्त हो जाता तो यह गीत अच्छा रहता; परन्तु इस प्रश्न का जवाब तो देना ही था कि क्यों वापिस नहीं जाने पाये ? और एक ऐसी बात भी बतानी थी जो दीपक-पतंग के प्रेम-वर्णन में अभी तक किसी ने नहीं कही थी। बस, आपने आगे लिख दिया:—

पहुँच गयी विस्तुइया सत्वर
लिए उदर की ज्वाल भयंकर
बचे प्रणय की ज्वाला से जो,
उदर-ज्वाल के बीच समाए !

'विस्तुइया' क्या ? शायद छिपकली !! कितना शुद्ध शब्द है ! हिन्दीवाले शायद छिपकली को 'विस्तुइया' कहेंगे और उर्दू वाले

शायद "पोशीदा गुंचा" ! नया जमाना है। कुछ भी हो, छिपकली का 'दीपक-पतंग' प्रेम के सम्बन्ध में अभी तक किसी भी कवि ने वर्णन नहीं किया था ! जब दीवाल में लगे बिजली के बल्ब या दीवाल में लटकी लालटैन पर पतंगे आते हैं तो छिपकली का जल्दी-जल्दी दीवाल पर आकर पतंगे खा जाना मामूली बात है जिसे प्रत्येक व्यक्ति ने देखा होगा ! लेकिन अगर लैंप मेज पर रखा हो या बिजली दीवाल से हट कर बीच कमरे में लटक रही हो तो जो पतंगे लैंप छोड़ कर दीवाल पर या छत पर जाकर लगते हैं उन्हीं को छिपकली खा सकती है। दूसरे तो वहाँ पहुँचते ही कहाँ होंगे ? इतनी दूरी पर होती हुई घटना का, दीपक-पतंग-प्रेम से सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है ? और दीपक तो बिजली या लालटैन नहीं है जो दीवाल के सहारे लटका रहे ! अगर छिपकली का वर्णन करना था तो 'बरसात' का भी जिक्र कर देना था, जब पतंगे लाखों की संख्या में मरते दिखाई पड़ते हैं !! शास्त्र में भले ही लिखा हो कि शृङ्गार और बीभत्स रस एक दूसरे के विरोधी हैं किन्तु पाश्चात्य शिक्षा के वातावरण में बढ़ा हुआ कवि शास्त्र की कब परवाह करता है ? आज तो स्वच्छन्द मार्ग और मौलिकता की छाप होनी चाहिए जो 'प्रणय ज्वाला' और 'उदर-ज्वाला' की तुलना से ही आ सकती थी !!

गौरैया, कपोत-कपोती, शृगाल, और छिपकली एक से एक अच्छे वर्णन हैं !! कितनी अनोखी सूझ है ?

'प्रसाद' जी की 'कामायनी'

(१)

'कामायनी' का प्रथम छन्द है—

> हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह।
> एक पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इस छन्द में "शीतल छाँह" ध्यान देने योग्य है। प्रतीत यह होता है कि उत्तुङ्ग शिखर पर सूर्य की किरणें बहुत तेज थीं। गर्मी से बचने के लिए एक पुरुष एक शिला की शीतल छाँह में बैठकर पास में बहता हुआ प्रलय-प्रवाह देख रहा था।

दूसरा छन्द है—

> नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन।
> एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

ऊपर 'हिम' बताकर, 'कड़ी धूप या गर्मी' का भाव विलोप हो जाता है। ऊपर 'हिम' और नीचे अपार जल होने के कारण वहाँ न जाने कितनी अधिक सर्दी हो रही होगी ! ऐसी सर्दी में, 'शीतल छाँह का भाव दिखलाना अनुचित है।

ऊपर बर्फ होगी तो नीचे भी पानी जम गया होगा। 'तरल' पानी सर्दी में तुरन्त ही जमकर 'सघन' बर्फ हो जाता है। प्रलय का जो वर्णन 'प्रसादजी' ने किया है उससे प्रतीत तो यह होता है कि हिमालय पर मनु महाराज जहाँ बैठे थे उसी के नीचे ही पानी बह रहा था। वह पानी कैसे नहीं जम गया होगा ? वास्तव में 'ऊपर हिम', 'नीचे जल' और फिर 'शीतल छाँह' के भाव एक दूसरे के विरोधी हैं। तीनों का साथ रहना असम्भव भी है। 'कामायनी' के प्रारम्भिक छन्दों में ही ऐसे विरोधी भाव आने से

प्रथम सर्ग का साहित्यिक मूल्य कुछ कम हो जाता है। कामायनी की रङ्गभूमि के पहिले चित्रपट में ही ये धब्बे देखकर पाठक कुछ हतोत्साह हो जाता है और आगे के छन्द सतर्क होकर पढ़ने पड़ते हैं।

इन दोषों के रहते हुए भी, प्रथम सर्ग का भाषा-सौष्ठव, भाषा-प्रवाह एवं पद-विन्यास बड़ा सुन्दर एवं चित्ताकर्षक है। प्रलय के ध्वंसकारी भीषण रूप का वर्णन, श्रद्धेय प्रसादजी की काव्य प्रतिभा का परिचायक है। प्रथम सर्ग की सजीव भाषा में 'नाव' का अनावश्यक उल्लेख, अवश्य कुछ-कुछ खटकता है। यदि 'नाव' का कुछ भी वर्णन न किया जाता तो प्रथम सर्ग का सौन्दर्य नष्ट न होने पाता। भाषा का प्रवाह सहसा बिगड़ने नहीं पाता।

'नाव' के विषय में निम्नलिखित छन्द ध्यान देने योग्य हैं :—

बँधी महावट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही।
उतर चला था वह जल-प्लावन और निकलने लगी मही॥

× × ×

एक नाव थी, और न उसमें डाँड़े लगते या पतवार,
तरल तरङ्गों में उठ गिर कर बहती पगली बारम्बार;
लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं;
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं;

× × ×

काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला, न स्मरण रहा,
महा मत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा;
किन्तु उसी ने ला टकराया
इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।

इन छन्दों से यह पता चलता है कि मनु के पास जल-प्लावन के समय एक नाव थी, किन्तु उसकी भी बुरी दशा थी। न उसमें

डाड़े लगते थे और न पतवार ही !! प्रबल थपेड़े लगने के कारण कभी गिरती थी कभी उठती थी और महामत्स्य के चपेटे ने तो 'दीन पोत' का काम ही तमाम कर दिया !! किन्तु उसी ने उत्तर-गिरि के शिर तक ला टकराया और यहाँ पहुँचकर महावट से वह नाव बाँध दी गई।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मनु को, प्रलय के पूर्व, यह नोटिस मिल चुका था। कि "हे मनु ! तुम नाव लेकर तैयार रहो, प्रलय होने वाला है" ? क्या एक छोटी-सी नाव प्रलय के अपार सागर को पार कर सकती थी ? और विशेषकर उस अवस्था में जब उसमें न डाँड़ लगते थे और न पतवार ?

फिर महामत्स्य ने चपेटा क्यों मारा ? और जब 'दीन पोत का मरण' हो चुका था तो वही जर्जरित नाव महावट से क्यों बाँध दी गई ? क्या उसमें कोई जान बाकी रही थी ? और उत्तर गिरि के शिखर पर किसने ला टकराया ? नाव ने या चपेटे ने ?

'कामायनी' में इन प्रश्नों के उत्तर कहीं पर नहीं मिलते। यदि नाव का वर्णन नहीं किया जाता तो प्रथम सर्ग का कुछ बिग-ड़ता नहीं, प्रत्युत प्रबन्ध-सौन्दर्य अच्छा बना रहता। किन्तु वर्णन करके फिर उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर न मिलने पर 'प्रबन्ध-निर्वाह में' बड़ी भारी कमी प्रतीत होती है।

'कामायनी' के 'आमुख' में कवि ने शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण में प्रबन्ध-निर्वाह बड़ा सुन्दर है। कथा यह है कि प्रलय के पूर्व, एक दिन प्रक्षालन के समय मनु के हाथ में एक मछली आ गई। उस मछली ने कहा कि "हे मनु ! प्रलय आने वाला है, तुम तैयार रहो। अपने लिए एक नाव बनाओ। प्रलय के समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। मुझे पहले तो कुंभ में रख दो। जब बड़ी हो जाऊँ तो गड्ढा खोदकर उसमें डाल देना। जब और भी बड़ी हो जाऊँ तब समुद्र में छोड़ देना।" मनु ने ऐसा ही किया। जब प्रलय हुआ तो मनु नाव लेकर तैयार थे।

वह मछली बढ़कर 'महामत्स्य' हो चुकी थी। उसी महामत्स्य के शृङ्ग (सींग) से नाव बाँध दी गई और वही महामत्स्य उस नाव को खींचकर उत्तर गिरि छोड़ आया। वहाँ पहुँचकर महामत्स्य ने कहा कि अब नाव वृक्ष से बाँध दो और जैसे-जैसे पानी उतरता जाए वैसे ही तुम भी नीचे चलते जाना। मनु ने वैसा ही किया।

शतपथ ब्राह्मण की कथा कुछ हेर-फेर के साथ महाभारत के वन पर्व में भी बताई गई है। वैवस्वत मनु, चारिणी नदी के तीर पर जब तप कर रहे थे तब एक छोटी मछली ने कहा कि "हे मनु, मुझे बड़ी मछलियों का भय बना रहता है, आप मेरी रक्षा करें।" मनु ने करुणा से प्रेरित होकर उसे हाथ में उठाकर एक मटके में डाल दिया। थोड़े दिनों में वह मछली और भी बड़ी हो गई। मनु ने उसे एक बावड़ी में डाल दिया। और भी बड़ी होने पर गङ्गा नदी में, और फिर समुद्र में डाल दिया। समुद्र में पहुँचने पर मत्स्य ने कहा कि हे मनु! थोड़े समय में इस पृथ्वी पर सारे स्थावर-जंगम जगत का प्रलय होने वाला है। तुम एक सुदृढ़ नौका बना लो जिसमें मजबूत बटी हुई रस्सी बँधी हो। तुम सप्तऋषियों के साथ उस नौका में चढ़ जाना और सब प्रकार के बीज भी सुरक्षित कर उसमें रख लेना। प्रलय होने पर मैं सींगों से युक्त होकर आऊँगा जिससे तुम मुझे पहिचान लोगे।" मनु ने वैसा ही किया। जल-प्लावन के समय, मनु ने, उठे हुए पर्वत के तुल्य उस सींग-धारी मत्स्य को देखा। मनु ने सींगों से रस्सी बाँध दी। मत्स्य अनेक वर्षों तक उस नौका को अपार जल राशि में खींचता रहा। इसके बाद हिमालय की चोटी पर नौका को खींचकर ले गया और ऋषियों से कहा कि हिमालय की चोटी से नौका बाँध दो। ऋषियों ने वैसा ही किया। फिर मत्स्य ने कहा कि "मैं ही प्रजापति एवं ब्रह्मा हूँ। अब मनु को ही सारे देव, असुर, मनुष्य और समस्त प्रजा की रचना करनी चाहिये।" इतना कह कर मत्स्य विलोप हो गया। जहाँ नौका पहुँच गई थी, हिमालय की

उस चोटी को महाभारत में "नौ बन्धन" नाम दिया गया है। जल-प्लावन के बाद, जहाँ मनु उतर आए थे, शतपथ के अनुसार उस स्थान का नाम "मनोरव सर्पणम्" है।

यही कथा कुछ और हेर-फेर कर श्री मद्भागवत् के अष्टम स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में कही कई है। वहाँ बताया गया है कि द्रविड़ देश के राजा सत्यव्रत कृतमाला नदी में जल से तर्पण कर रहे थे, उस समय एक छोटी सी मछली उनकी अञ्जलि में आ गई। राजा ने उसे जल में डाल दिया। तब वह मछली राजा से रक्षा की प्रार्थना करने लगी। इसके अनन्तर श्री मद्भागवत् में भी महाभारत की कथा ही दुहराई गई है। समुद्र में छोड़ने पर मत्स्य ने कहा कि "सत्यव्रत! आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय के समुद्र में डूब जाएँगे! प्रलय के समय मेरी प्रेरणा से एक नौका तुम्हारे पास आएगी। उस समय तुम समस्त प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को लेकर, सप्त-ऋषियों के साथ उस नौका पर चढ़ जाना। सब प्रकार के धान्य तथा छोटे बड़े अन्य प्रकार के बीजों को साथ में रख लेना। जब नौका डगमगाने लगेगी, तब मैं आऊँगा। तुम लोग वासुकि नाग द्वारा नौका मेरे सींग से बाँध देना। इसके बाद, जब तक ब्रह्माजी की रात रहेगी तब तक नाव खींचते हुए समुद्र में विचरण करूँगा और तुम्हें उपदेश दूँगा। मेरे अनुग्रह से मेरी वास्तविक महिमा जिसका नाम "परब्रह्म" है, तुम्हारे हृदय में प्रगट हो जाएगी।" निदान ऐसा ही हुआ। प्रलय होने पर मत्स्य रूपधारी पुरुषोत्तम भगवान ने प्रलय के समुद्र में विहार करते हुए उन्हें आत्म-तत्व का उपदेश दिया। प्रलय का अन्त होने पर, ब्रह्माजी की नींद टूटी, तब भगवान ने हयग्रीव को मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजी को दे दिये। राजा सत्यव्रत ही ज्ञान-विज्ञान युक्त होकर, इस कल्प में वैवस्वत मनु हुए।

श्रीमद्भागवत् में मेघ वर्षा एवं समुद्र का बढ़ना दोनों बताये

गए हैं, किन्तु हिमगिरि का उल्लेख नहीं है। मत्स्य पुराण के अतिरिक्त पद्म-पुराण एवं भविष्य पुराण में भी ऐसी ही कथाएँ हैं।

पारसियों के धर्म ग्रन्थ 'जेन्द अवस्था' में भी हिम-प्रलय की सूचना राजा यीमा (Yima) को, प्रलय के पूर्व, अहुर मजदा द्वारा दी गई बताई गई है।

बैबीलोन के जल-प्लावन की कथा में राजा जीसूथ्रस (Xisuthrus) को क्रोनस (Kronus) देवता ने, जल-प्लावन के पूर्व ही प्रलय की सूचना दे दी थी। उसके आदेश के अनुसार राजा अपनी स्त्री, कुटुम्बी, मित्र, पशुओं एवं पक्षियों को लेकर नाव में जा बैठे थे। और अरमेनिया के कुर्दिस्तान के पर्वत पर पहुँच गए थे। बाद में उन्होंने ही सृष्टि प्रारम्भ की थी। इस कथा की प्रशंसा करते हुए फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'पुरातन बाइबिल की जन-कथा' में लिखा है कि शतपथ ब्राह्मण की कथा के मुकाबले में, इस कथा में, सृष्टि प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में अधिक दूरंदेशी बताई गई है।

बाईबिल की कथा में राजा नूह (Noah) ही बच पाए थे। उनको भी पहिले ही सूचना मिल गई थी।

प्रलय की ऐसी कथाएँ संसार के सभी देशों में पाई जाती हैं। बाइबिल के अतिरिक्त चीन, यूनान, ईरान, मध्य और दक्षिण अमरीका, और अफरीका में भी ऐसी प्राचीन कथाएँ प्रचलित हैं। सब जगह कोई न कोई मनुष्य बचा रहता है और किसी न किसी भाँति आने वाले प्रलय की उसे सूचना मिल जाती है। और इसलिये वह 'नाव' इत्यादि का पहिले से प्रबन्ध कर लेता है। कई कथाओं में मछली, घायल कुत्ता, उकाब या किसी देवता द्वारा सूचना पहिले ही दे दी गई बताई जाती है।

वास्तव में यदि पहले ही से सूचना न मिल पाए और किसी दैवी शक्ति का आधार न हो तो ठीक प्रलय के समय न तो नाव लेकर कोई पहिले से तैयार ही हो सकता था और न एक छोटी

नाव द्वारा प्रलय के अपार पारावार को पार कर उत्तर गिरि पर पहुँच ही सकता था।

'कामायनी' में महामत्स्य की सहायता का किंचित् भी वर्णन न करके उसके चपेटे से 'दीन पोत का मरण' बनाकर भी मनु को उत्तर गिरि पर सुरक्षित लाकर रख देना—एक नितान्त असम्भव कथा है। प्रतीत होता है कि महामत्स्य नाव को डुबाना चाहता था, फिर भी मनु महाराज बच गए !!

यह देखकर कि 'कामायनी' में मनु की एक प्रधान घटना का ही वर्णन है, सम्पूर्ण जीवन का नहीं, नाव का कोई भी उल्लेख आवश्यक नहीं था। कथा यह लिख कर प्रारम्भ की जा सकती थी कि प्रलय के बाद किसी भाँति मनु हिमालय पर पहुँच गए और फिर उन्होंने जल-प्लावन की समाप्ति पर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ किया। किंतु किसी न किसी कारण कवि ने नाव का और महामत्स्य के चपेटे का उल्लेख करना उचित समझा। और शत-पथ ब्राह्मण, महाभारत और श्रीमद्भागवत् में वर्णित कथाओं का आधार न लेकर एक प्रतिकूल धारा की ओर इंगित करके पाठकों को भूल-भुलय्यों की मझधार में छोड़ना ही उचित समझा।

संभवतः प्रसादजी को इतने भारी मनु का इतनी छोटी मछली की सहायता लेकर अपार संसार को पार करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। कदाचित उन्होंने इस पर भी विचार नहीं किया कि अन्य धर्मों में भी "मछली" को परमात्मा का प्रतीक ही माना है। बाइबिल में संत ऑगस्टन ने ईसामसीह को "पानी में रहती हुई मछली" बतलाया था। पवित्र ईसाई अपने को छोटी मछलियाँ (Piscicules) ही मानते हैं और उनके एक बड़े प्रसिद्ध ग्रन्थकार (Tertullian) ने लिखा था कि "जल में जितनी मछलियाँ जन्म लेती हैं उनकी रक्षा महामत्स्य द्वारा ही हुआ करती है।" ("So many fishes bred in the water and are saved by one great fish")। मेक्सिको देश की प्रलय कथाओं में बताया

गया है कि प्रलयकाल में सारे नर-नारी मछलियों में ही परिवर्तित हो जाते हैं।

मैदेम ब्लैवेटस्की की प्रसिद्ध पुस्तक "दि सिक्रेट डाक्ट्रिन" की दूसरी जिल्द के पृष्ठ ३२७ पर 'जल', 'प्रलय', 'नाव' और 'मछली' के प्रतीकों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। 'प्रलय' अव्यवस्था का प्रतीक है। 'जल' और 'अत्यन्त गहराई' नारीत्व (अथवा नारी-सिद्धान्त) के सूचक हैं। 'नाव'—बुद्धि के साथ-साथ नारी की गर्भ धारण एवं सृजन शक्ति की भी प्रतीक है। प्रकृति एवं मानवता का बीज नाव में सुरक्षित रहकर अतल समुद्र के जल के ऊपर बहा करता है। 'मछली' दैवीशक्ति अथवा परमात्मा का प्रतीक है।

मछली की सहायता से नाव में बैठे मनु का अतल सागर को पार कर लेना एक समझ में आने वाली बात है; किंतु महामत्स्य के चपेटे के बाद, प्रबल थपेड़ों के लगते रहने पर भी, जर्जरित नाव में, बिना किसी सहायता के, मनु का उत्तरगिरि पर पहुँचकर नाव बाँध देना—ऐसी बात है जो किसी भी प्रकार समझ में नहीं आ सकती।

प्राचीन मत्स्य कथा का आधार लेने में संभवतः प्रसादजी को दो कठिनाइयाँ प्रतीत हुई होंगी। एक तो वर्तमान युग का बुद्धिवाद जो पौराणिक उपाख्यानों में 'असंभव' एवं अप्राकृतिक का ग्रहण नहीं करना चाहता। दूसरी कठिनाई यह प्रतीत होती है कि प्रथम सर्ग का शीर्षक 'चिंता' रखना था और मनु की चिंता का विशद-वर्णन करना था। यदि मत्स्य-रूप-धारी परमात्मा की सहायता बता दी जाती तो चिंता कहाँ रहती? परमात्मा का बोध हो जाने पर तो चिन्ता का विलोप होकर चित्त में 'शान्ति' आ जाती है।

वास्तव में 'चिन्ता' का उग्र रूप दिखाना ही अभीष्ट था; इसीलिए प्रलय का भी बड़ा भारी उग्र रूप दिखाया गया है। शतपथ, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत् में केवल जल-प्लावन का ही रूप

इस कथा में मिलता है। किन्तु प्रसादजी ने पंच भूतों का तांडव-नृत्य तक दिखा दिया है।

पंच भूत का भैरव मिश्रण
शंकाओं का शकल निपात
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात
धँसती धरा, धधकती ज्वाला
ज्वालामुखियों के निश्वास
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

× × ×

करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सब का;
पंच भूत का यह ताण्डव-मय
नृत्य हो रहा था कब का ?

पंच भूतों का ऐसा ताण्डव नृत्य होते हुए भी महामत्स्य का चपेटा लगने पर भी, मनु की नौका का हिम गिरि तक पहुँचना और भी कठिन हो गया होगा। बिना किसी दैवी शक्ति के सहारे हिमगिरि पहुँचना असंभव भी है। अवश्य शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्-भागवत् एवं महा भारत में यह प्रलय 'ब्राह्म-प्रलय या नैमित्तिक प्रलय' नहीं बताया गया है। गीता में लिखा हुआ है कि कल्प के अन्त में, जब ब्रह्मदेव की रात्रि प्रारम्भ होती है तब सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्त में लीन हो जाते हैं इसी को 'नैमित्तिक प्रलय' भी कहते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र आदि सारी सृष्टि का भी नाश हो जाता है।

'कामायनी' के प्रथम सर्ग में प्रलय का जो रूप दिखाया गया है वह नैमित्तिक प्रलय का ही रूप है। किन्तु नैमित्तिक प्रलय में मनु भी नहीं बचा करते। नैमित्तिक प्रलय के अतिरिक्त अन्य

प्रलयों में सूर्य, चन्द्र इत्यादि का नाश नहीं होता। शतपथ, श्रीमद्-भागवत् एवं महाभारत के मनु केवल जल-प्लावन से बचकर हिमगिरि पर पहुँचे थे। इसलिए 'कामायनी' के प्रथम सर्ग का आधार शतपथ इत्यादि न होकर "मत्स्य-पुराण" प्रतीत होता है जिसमें प्रलय का उग्र-रूप दिखाया गया है। मत्स्य-रूपधारी परमात्मा मत्स्य पुराण में मनु से कहते हैं:—

"युगान्त में पृथ्वी का वायु भी विकार युक्त हो जाएगा तथा पातालस्थ सङ्कर्षण के मुख से निकली हुई विषाग्नि भी कुपित हो जाएगी। भगवान् शङ्कर के भालस्थ तृतीय नेत्र की अग्नि त्रैलोक्य को नष्ट करती हुई क्षुब्ध हो जाएगी। इस प्रकार जब सम्पूर्ण पृथ्वी जल कर भस्मसात हो जाएगी और आकाश ताप से सन्तप्त हो जाएगा तब देवता तथा नक्षत्रों सहित अखिल संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। उसी समय संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत् पताक और शोण—ये प्रलय कालीन सप्त मेघ और सम्पूर्ण समुद्र क्षुब्ध होकर एक रूप हो जायँगे और अग्नि प्रस्वेद-युक्त पृथ्वी को जलमय कर देंगे।"

मत्स्य पुराण का यह वर्णन महाभारत और ब्रह्म-पुराण में वर्णित "नैमित्तिक प्रलय" के वर्णन पर ही अवलम्बित है। ये वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। ब्रह्म-पुराण में बताया गया है कि प्रलय-प्रारम्भ में घोर अनावृष्टि के कारण भूतल क्षीण होता रहता है। जल सूख जाता है। सातों सूर्य सम्पूर्ण त्रिलोकी को जला डालते हैं। पर्वत और वृक्ष जल जाते हैं। पृथ्वी नीरस हो जाती है। ज्वाला-मालाओं के महान् आवर्त के रूप में वह दारुण अग्नि सब ओर चक्कर लगाने लगती है। इसके पश्चात् श्री जनार्दन सम्पूर्ण जगत् को दग्ध करके अपने मुख के निःश्वासों से मेघों को प्रगट करते हैं। ये घोर संवर्तक मेघ उमड़-घुमड़ कर बिजली की गड़गड़ाहट के साथ गर्जना करते हैं। सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त करके भयंकर अग्नि को पूर्ण रूप से बुझा देते हैं और सम्पूर्ण

जगत को जल से आप्लावित कर देते हैं। भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक भी डूब जाते हैं। संसार में चारों ओर अंधकार छा जाता है। चर और अचर सब नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में, महान् संवर्तक मेघ सौ वर्षों से अधिक काल तक वर्षा करते रहते हैं।"

यहाँ अनावृष्टि, गर्मी, सूर्य ताप में वृद्धि, ज्वाल-माला, मेघ, बिजली, वर्षा, जल-प्लावन, अंधकार और चर-अचर का नष्ट होना, एक के बाद दूसरे का चला आना—अत्यंत स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक है। बिना अनावृष्टि के गर्मी कैसे बढ़ सकती है? बिना गर्मी बढ़े अग्नि कैसे धधक सकती है? फिर बिना अत्यधिक गर्मी के मेघ कैसे उमड़ सकते हैं?

'कामायनी' में इस क्रम पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। वहाँ 'प्रालेय हलाहल नीर' पहिले ही बरसने लगता है। बरसते ही 'हा-हाकार-रव' होने लगता है। दिग्दाहों से धूम के साथ बादल भी उठते हैं और उसी समय झंझा के झटके भी चलने लगते हैं। समुद्र बढ़ता है तब धरा तो धसकती है, किन्तु ज्वाला और भी धधकने लगती है!! वास्तव में, 'कामायनी' में पंचभूतों का एक साथ ताण्डव-नृत्य अवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक हो गया है।

अवश्य, उग्र प्रलय के इस वर्णन में कवि ने कई ग्रन्थों का आधार, स्थल-स्थल पर लिया है। समुद्र या प्रलय का वर्णन—रामायण, महाभारत, ब्रह्म पुराण एवं मत्स्य पुराण में जहाँ कहीं भी मिला है कवि ने अपनाने का प्रयत्न किया है। यथा—

तरल तरंगों में उठ गिर कर
बहती पगली बारम्बार

महाभारत के इस श्लोक का भावानुवाद प्रतीत होता है—

क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता पर पुरञ्जय

(नौका वायु के वेग से उछलते हुए समुद्र में इधर-उधर डग-

मगा रही थी—जैसे कोई उन्मत्त चपल स्त्री इधर-उधर घूमने लगती हो।)

एक स्थान पर 'कामायनी' में लिखा है

वेला क्षण-क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ
उदधि डुबा कर अखिल धरा को
बस मर्यादाहीन हुआ।

यह भी महाभारत के निम्नलिखित श्लोक का 'छायाभास' ही प्रतीत होता है:—

ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत
पर्वताश्च विदीर्यन्ते महीचाप्सु निमज्जति

(पर्वतों को तोड़ कर पृथ्वी को डुबाने के लिए समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देंगे)

एक अन्य छन्द है:—

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ चूभ थी विकलित सी

यहाँ 'कच्छप-सी धरणी' ध्यान देने योग्य है। समुद्र की तरंगों में कच्छप न तो विचलित होता है और न विकलित !! फिर धरणी को 'कच्छप सी' क्यों बताया? 'ऊभ चूभ' में भाषा का सौंदर्य निखर रहा है !!

ब्रह्म पुराण में लिखा है—तीनों लोकों के जल और वृक्ष दग्ध हो जाने के कारण यह पृथ्वी कच्छप की पीठ की भाँति दिखाई देती है—

ततो निर्दग्ध वृक्षाम्बु त्रैलोक्यमखिलं द्विजाः
भवत्येषा च वसुधा कूर्मपृष्ठोपमाकृति

जहाँ ब्रह्मपुराण का श्लोक स्वाभाविक है—कामायनी का पद अस्वाभाविक हो गया है।

एक अन्य स्थल पर लिखा है—

पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी साँस,

पवन का शब्दों को पी जाना बड़ी विचित्र कल्पना है! ब्रह्म-पुराण एवं महाभारत दोनों में लिखा है कि "तदनन्तर इस घोर वायु को ब्रह्मदेव पीकर सो जाएगा—"

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयंभूर्मनुजाधपि
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत।

इसी श्लोक का 'छायाभास' 'कामायनी' के पद में प्रतीत होता है।

हम इस सम्बन्ध में अधिक न लिख कर केवल 'कामायनी' के छन्द और उनके आधारभूत 'रामायण' और 'महाभारत' के श्लोकों को यहाँ उद्धृत करना ही पर्याप्त समझते हैं! पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि दोनों में कितना अधिक भाव-साम्य अथवा शब्द-साम्य है।

कामायनी

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके!

महाभारत

दिशः प्रज्वलिता सर्वा नक्षत्राण्य प्रमाथि च
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्य्याकुलास्तथा
❀ ❀ ❀
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः

(उस समय सारी दिशाएँ जल उठेंगी; नक्षत्रों की प्रभा निकल जायगी। सारी ज्योतियाँ उल्टी होंगी, व्याकुल करने वाला वायु तेज होकर चलने लगेगा, जोर-शोर से बिजली गिरने लगेगी। सब ओर से दिग्दाह होने लगेगा।)

कामायनी

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घन-माला में
सौदामिनी संधि-सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में

महाभारत

ततो गजकुल प्रख्यास्तडिन्माला विभूषिताः ७४
❀ ❀ ❀
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः ७८

अध्याय १८८

(हाथियों के यूथ सदृश बिजली की माला से विभूषित मेघ आकाश में छा जाएँगे। वे मेघ बिजली की माला पहिने हुए होंगे।)

कामायनी

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष
मानों नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष

महाभारत

घोर रूपा महाराज घोरस्वन निनादिताः
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम्।

(अध्याय १८८ श्लोक ७९)

(मेघ भीषण रव करेंगे और भयङ्कर मेघों से सारा नभस्थल भर जाएगा)

रामायण (युद्ध काण्ड, सर्ग ४)

सागरं चाम्बरं प्रख्यमम्बरं सागरोपमम्
सागरं चाम्बरं चेति निर्विशेषमदृश्यत ११५
संपृक्तं नभसाप्यम्भः संपृक्तं च नभोऽम्भसा
तादृग्रूपे स्म दृश्येते तारारत्न समाकुले ११६

समुत्पतित मेघस्य वीचिमाला कुलस्य च
विशेषो न द्वयो रासीत्सागरस्याम्बरस्य च ११७

(सागर आकाश के समान और आकाश सागर के समान मालूम पड़ता है ; सागर और आकाश में कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता है। सागर का जल आकाश को छू गया है ; आकाश सागर को छू रहा है, अतएव, तारा और रत्न युक्त दोनों एक समान मालूम पड़ते हैं। आकाश में मेघ उठ रहे हैं, सागर में लहरें उठती चली आ रही हैं, अतएव सागर और आकाश में कोई भेद दिखाई नहीं पड़ रहा है।)

जहाँ रामायण का यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है वहाँ 'कामायनी' का उपर्युक्त छन्द अस्वाभाविक एवं अव्यवस्थित भी है। 'धरती का कँपना' और 'नील व्योम का उतरना' दो पृथक् बातें हैं और दोनों एक दूसरे से असम्बन्धित भी हैं। उनके बीच में "मानों" शब्द बुरी तरह खटक रहा है। 'नील व्योम का उतरना' सागर के उठते हुए जल के समय ही प्रतीत होता है ! भीषण रव से डरती हुई धरती के समय तो उसका आभास भी नहीं हो पाता।

कामायनी

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी

रामायण (युद्ध काण्ड)

हसन्तमिव फेनौघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ११०
मकरैर्नाग भोगैश्च विगाढ़ा वात लोलिताः
उत्पेतुश्च निपेतुश्च प्रहृष्टा जलराशयः ११२

(समुद्र फेनराशि से हँसता हुआ और लहरियों से नाचता

हुआ मालूम पड़ता है। मकर और नाग सरीखी ये लहरें प्रसन्न होकर कभी ऊपर और फिर नीचे जा रही हैं।

अन्योन्यै रहताः सक्ताः सस्वनुर्भीम निःस्वनाः
ऊर्मयः सिन्धुराजस्य महाभेर्य इवाम्बरे ११८

(सागर की लहरें आपस में टकराकर भयंकर गर्जन कर रही हैं मानों आकाश में नगाड़े बज रहे हैं।)

कामायनी

अन्धकार में मलिन मित्र की,
धुँधली आभा लीन हुई।
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा,
स्तर-स्तर जमती पीन हुई।
पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शम्पाओं के शकल-निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ,
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
बढ़ने लगा विलास वेग-सा,
वह अति भैरव जल संघात।
तरल तिमिर से प्रलय पवन का,
होता आलिङ्गन प्रतिघात॥

रामायण

भास्करांशुभिरादीप्तं तमसा च समावृतम्॥
प्रचकाशे तदाकाशमुल्काशत विदीपितम्।
अन्तरिक्षाच्च निर्घाता निर्जग्मुरतुलस्वनाः॥
वपुः प्रकर्षेण ववुर्दिव्य मारुत पङ्क्तयः।
बभञ्ज च तदा वृक्षाञ्जल दानुद्वहनमुहुः॥
मुमुचुर्वेधु तानग्नीस्ते महाशनयस्तदा।
× × × ×
सहसा भूततो वेगाद्भीमवेगो महोदधिः॥
योजनं व्यतिचक्राम वेलामन्यत्र संप्लवात् (सर्ग २२, ८ से ११)

(सूर्य की किरणों द्वारा प्रकाशित होने पर भी सारा संसार अन्धकार से आवृत हो गया। उस समय सैकड़ों उल्काओं से प्रदीप्त आकाश प्रकाशित हुआ। अन्तरिक्ष से भयानक शब्द वाले वज्र निकले। दिव्य मारुत बड़े वेग से चलने लगे—वृक्ष टूटने लगे—मेघ इधर-उधर फैलने लगे, बड़ी वैद्युत् अग्नि बरसने लगी। महोदधि मर्यादा का अतिक्रमण करके भीमवेग से बढ़ने लगा और एक योजन तक फैल गया।)

× × × ×

प्रथम सर्ग का भाषा-प्रवाह देखकर जहाँ प्रसन्नता होती है वहाँ प्रसाद जी का इतना विशद अध्ययन देखकर आश्चर्य भी होता है। प्रलय तो किसने देखी होगी ? प्रलय की केवल कल्पना ही की जा सकती है। और प्रलय की कल्पना, प्राचीन ग्रन्थों में किए गए प्रलय-वर्णन का अध्ययन करके ही की जा सकती है। प्रथम सर्ग लिखने में न जाने प्रसादजी को कितना श्रम उठाना पड़ा होगा। प्रथम सर्ग के अनन्तर भाषा का सुन्दर प्रवाह हमें 'इड़ा', 'रहस्य' और 'आनन्द' विषयक सर्गों में ही मिलता है। प्रथम सर्ग के अनन्तर, विचार-श्रृङ्खला का अभाव होने के कारण, अन्य सर्गों के चित्रों में चमक नहीं रही; उनकी आभा भी फीकी हो गई है ! यदि शतपथ, महाभारत या श्रीमद्भागवत् के आधार पर कथा का वर्णन किया जाता तो अन्य सर्गों की कथा का सिल-सिला बराबर मिलता। किन्तु इस पर ध्यान न देकर प्रसादजी ने मनु की चिन्ता को उग्ररूप देकर उसका उग्र वर्णन करना ही अभीष्ट समझा !!

इस उग्र चिन्ता का वर्णन अवश्य ही प्रभावोत्पादक हो गया है। किन्तु प्रबन्ध-काव्य के लिए यह हितकर नहीं हुआ। ज्वाला-मुखी का फटना, उल्कापतन, बिजली का गिरना और पंचभूत के ताण्डव नृत्य के अनन्तर सारी सृष्टि जल कर स्वाहा हो पानी में डूबी बता दी गई। किन्तु इसके अनन्तर भी मनु के पास श्रद्धा

का आगमन दिखाया जाता है। प्रश्न होता है, श्रद्धा कैसे बच गई ? उत्तर में श्रद्धा से कहलाया जाता है—

भरा था मन में नव उत्साह,
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान।
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।

उसके शरीर पर भी गान्धार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म बताए जाते हैं :—

मसृण गांधार देश के, नील,
रोमवाले मेषों के चर्म।
ढक रहे थे उसका वपु कांत,
बन रहा था वह कोमल वर्म।

इतने भारी प्रलय के बाद भी गन्धर्व देश और गांधार शायद बचे हुए थे !! उत्तरगिरि की ऊँची-से-ऊँची चोटी पर नाव पहुँच गई थी किन्तु मेरु, मन्दार, गन्धमादन के साथ-साथ अलकापुरी शायद सुरक्षित बनी रही। सारी देव-सृष्टि नष्ट हो चुकी थी; इन्द्रपुरी भी नष्ट हो गई थी; किन्तु गन्धर्व और अप्सरा सभी सुरक्षित बने रहे !!

इसके अनन्तर 'कर्म' सर्ग में आकुलि और किलात भी पहुँच जाते हैं। 'कामायनी' में लिखा है :—

असुर पुरोहित उस विप्लव से
बच कर भटक रहे थे,
वे किलात आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।

बड़े भाग्यवान होंगे जो नाव के सहारे के बिना भी बच गए !! शायद असुरलोक भी बच गया था !!

श्रद्धा के साथ पशु था, वह तो अलग; आकुलि और किलात भी

पशु यज्ञ कराते रहे, और मनु मृगया करते रहे। शायद उनकी मृगया के लिए इतने पशु बचे रहे होंगे!

आगे चलकर और भी नई बात मालूम होती है—इड़ा स्वयं भी बच गई थी और सारे सारस्वत प्रदेश की प्रजा भी बची हुई थी। हिमालय की चोटी तक पानी पहुँच जाने पर भी, पंचभूत का ताण्डव नृत्य होने पर भी, सारस्वत प्रदेश की प्रजा बची रही! शायद देव-सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी, किन्तु गंधर्वलोक, असुरलोक, मनुष्यलोक बचे हुए थे! वास्तव में येन-केन-प्रकारेण, न बचाते तो मनु का प्रजा के साथ संघर्ष कैसे दिखाया जाता?

और यह संघर्ष कैसा है? मनु बुरी तरह घायल हो जाते हैं; परन्तु प्रजा में कितने घायल हुए या कितनों की मृत्यु हुई, इसका हमें पता नहीं चलता! यहाँ अभी हाल की उस लड़ाई में की गई रिपोर्ट की सहसा याद आ जाती है जिसमें लिखा जाता था कि हमारी ओर से १५०० फायर हुए मगर दुश्मन की ओर से यह रिपोर्ट नहीं आई कि उसका कितना नुकसान हुआ?

हमें यह भी पता नहीं चलता कि इड़ा और कुमार ने मिलकर क्या किया? क्या-क्या नवीन विधान बनाए और प्रजा ने उन विधानों को माना या नहीं?

श्रद्धा को तकली कातते हुए दिखाया गया है। किन्तु यह पता नहीं चल पाता कि तकली कोरे सपने बुनती रहती अथवा सूत भी बुनती रहती थी!

महाभारत और श्रीमद्भागवत् में नाव में बैठते हुए सभी प्रकार के बीज मनु महाराज लेते गए दिखलाए गए हैं। 'कामायनी' के मनु अपने साथ केवल चिन्ता-ही-चिन्ता ले गए। बीज लेकर नहीं गए थे; कपास हुआ कैसे होगा? इसलिए श्रद्धा ने कोरी तकली चलाई होगी। 'कामायनी' के मनु ने न तो खेती ही की होगी और न प्रजा-सृष्टि ही की। सिवाय मृगया के और क्या करते रहे—पता नहीं चलता!!

वास्तव में 'कामायनी' के मनु कुछ-कुछ सनकी और आधे पागल से प्रतीत होते हैं। न तो वह अकेले सुखी थे और न श्रद्धा के साथ सुखी रहे। केवल मृगया और पशु-यज्ञ में उनको प्रसन्नता प्राप्त हुई प्रतीत होती है। और जब श्रद्धा के पेट में भावी बालक देखते हैं तो पुत्र प्रेम तो नहीं उमड़ता उल्टे ईर्ष्या के भाव उमड़ आते हैं! मनु गर्भवती श्रद्धा को उसी अवस्था में छोड़कर सदा के लिए चले जाते हैं !!

मनु इड़ा के साथ भी प्रसन्न नहीं रहे। उससे और उसकी प्रजा से भी लड़ते-झगड़ते हैं और जब वहाँ श्रद्धा और कुमार भी पहुँच जाते हैं तो फिर सनकी मनु सबको छोड़कर सहसा एक कन्दरा में भाग जाते हैं! जब वहाँ खोजती-खोजती श्रद्धा पहुँचती है तब उसको लेकर वह हिमालय पर चढ़ते हैं जहाँ श्रद्धा उन्हें रहस्य समझाती है। देवसृष्टि के अवशिष्ट व्यक्ति, एवं मनुष्य-सृष्टि के सृजनहार मनु इतने अनपढ़ और अनुभवहीन बताए गए हैं कि वह ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामंजस्य एवं समन्वय की आवश्यकता का पाठ भी 'कामायनी' के अन्तिम भाग में, पहले पहल श्रद्धा के मुख द्वारा ही सुनते हैं!

मनु का यथार्थ चरित्र-चित्रण कहीं भी नहीं मिल पाता और इड़ा तो बिलकुल गूँगी भोली-भाली प्रतीत होती है। कहीं भी 'तर्कजाल' की भाँति उसका चरित्र नहीं दिखाई पड़ता! श्रद्धा अपना भी काम करती है और बुद्धि का भी! जहाँ 'श्रद्धा' के चरित्र-चित्रण में अतिरञ्जना दिखाई पड़ती है वहाँ 'इड़ा' के चरित्र-चित्रण में अत्यंत अल्परंजना से काम लिया गया है।

रूपक की दृष्टि से भी, कहीं भी मनु, श्रद्धा और इड़ा दोनों को मिला कर नहीं रहे। पहिले श्रद्धा के साथ रहते हैं; वहाँ इड़ा नहीं है। फिर, इड़ा के साथ रहते हैं, वहाँ श्रद्धा नहीं है; और जब थोड़ी देर के लिए श्रद्धा वहाँ आ जाती है तो मनु भाग जाते हैं! श्रद्धा और इड़ा के सहयोग से आनन्द की प्राप्ति का साधन 'कामायनी'

में कहीं भी नहीं बताया गया। न दोनों के सहयोग से मानवता का विकास ही दिखाया गया है। 'आनन्द' सर्ग में भी इड़ा एक मूर्ति की तरह ही बैठी रहती है! 'कामायनी' पढ़ कर यह अन्त तक प्रतीत नहीं हो पाता कि मन के दोनों पक्ष—हृदय तथा बुद्धि—का, कहीं संघर्ष भी हो पाता है; अथवा दोनों के समन्वय से आनन्द ही मिल पाता है!

मनु के मनोविकारों को 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', 'संघर्ष', 'निर्वेद' इत्यादि सर्गों में दिखाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु कई तो अत्यन्त अस्वाभाविक हो गए हैं; और सबसे बड़ी बात यह है कि 'आनन्द' तक पहुँचते-पहुँचते कहीं भी ऐसे रस का उद्रेक नहीं हो पाता जिसके आधार पर हम कह सकें कि—

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति

'कामायनी' में प्रबन्ध-पटुता अथवा प्रबन्ध-निर्वाह का अभाव है। प्रसंगानुकूल भाषा भी कुछ स्थलों पर ही मिल पाती है। कथा-काव्य के अवयवों का उचित समीकरण भी कहीं नहीं हो पाया है। हाँ, कहीं-कहीं विशृंखल भाव बड़े ही गंभीर हैं और प्रकृति का जहाँ-कहीं वर्णन आया है, अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक हुआ है। यदि प्रबंध-कल्पना एवं प्रबंध-निर्वाह पर ध्यान न दें, तो 'कामायनी' में यत्र-तत्र बिखरे गम्भीर भाव एवं प्रकृति-वर्णन अवश्य ही हमारे साहित्य की स्थायी निधि रहेंगे।

(२)

कामायनी में श्रद्धा और इड़ा

'कामायनी' के 'आमुख' में श्रद्धेय 'प्रसाद' जी ने लिखा है—

"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में ऐसी प्राचीन घटना है जिसने मनु को, देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।.........यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए 'मनु', 'श्रद्धा' 'इड़ा' अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

'कामायनी' में कथा यह है कि जल-प्लावन के अनन्तर, मनु ने श्रद्धा को पत्नी रूप में प्राप्त किया, फिर इड़ा की सहायता से सारस्वत प्रदेश की प्रजा का शासन किया। वहाँ प्रजा क्षुब्ध हो गई। संघर्ष में मनु हारे और श्रद्धा के साथ हिम-पर्वत पर वापिस आ गए और उसके अनन्तर श्रद्धा ने इच्छा, क्रिया, और ज्ञान के समन्वय का रहस्य मनु को समझाया।

पहले हम ऐतिहासिक दृष्टि से और तदनन्तर रूपक की दृष्टि से 'श्रद्धा', 'मनु' और 'इड़ा' का निवेचन करने का प्रयत्न करके 'कामायनी' की कथा के औचित्य पर विचार करेंगे।

हमारे शास्त्रों एवं प्राचीन पुराणों के अनुसार, एक सहस्र चतुर्युग में १४ मनु हुआ करते हैं। एक-एक मनु का काल 'मन्वन्तर' कहा जाता है। आजकल सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। प्रथम सात मनु के नाम इस प्रकार हैं:—(१) स्वायंभुव मनु (२) स्वरोचिष मनु (३) औत्तम मनु (४) तामस मनु (५) रैवत मनु (६) चाक्षुष मनु (७) वैवस्वत मनु। इनमें किसी 'मनु' की स्त्री का नाम 'श्रद्धा' नहीं था। वास्तव में जिस 'श्रद्धा' को प्रसादजी ने मनु-पत्नी दिखा दिया है, वह श्रुति के अनुसार महर्षि अत्रि की पत्नी थीं। प्रथम मनु (स्वायंभुव मनु) की कन्या 'देवहूति' थीं। देवहूति की पुत्री यही

'श्रद्धा' थी। 'अत्रि मुनि' को ब्याही गई थी। स्वायंभुव मनु अथवा श्रद्धा के काल में कोई स्त्री 'इड़ा' नाम की नहीं थी।

जल-प्लावन का काल वैवस्वत मनु के समय का है। 'प्रसाद'जी ने यह हाल 'शतपथ ब्राह्मण' से लिया है। उसके अनुसार जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वैवस्वत मनु ने पाक यज्ञ का अनुष्ठान किया। घृत, नवनीत एवं आमिक्षा जल में छोड़ने से सम्वत्सर के मध्य एक कन्या उत्पन्न हुई। बालिका सुस्निग्ध जल से उठी थी। इसी का नाम 'इड़ा' (या इला) हुआ। मनु ने 'इड़ा' की सहायता से कठोर यज्ञ का अनुष्ठान किया।

तात्पर्य यह है कि 'इड़ा' वैवस्वत मनु की दुहिता थी और 'इड़ा' (बुद्धि) की सहायता से वैवस्वत मनु ने रचनात्मक योजनाएँ तैयार कीं।

जल-प्लावन का समय प्रथम ६ मन्वन्तरों में नहीं आ पाया था, इसलिए अन्य मनुओं को सृष्टि-रचना में, 'इड़ा' (बुद्धि) की आवश्यकता नहीं थी।

पुराणों में, प्रथम-मनु की कथा दूसरे ढंग से लिखी हुई है। पुराणों के अनुसार, स्वायंभुव मनु की स्त्री का नाम 'शतरूपा' था। उनके दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद थे और दो कन्याएँ 'आहूति' और 'प्रसूति' थीं। 'प्रसूति' का विवाह 'दक्ष' से हुआ। 'प्रसूति' के २४ कन्याएँ हुईं, जिनमें १३ को 'धर्म' ने पत्नी रूप में वरण किया। इनके नाम हैं—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति।

श्रद्धा ने काम को, लक्ष्मी ने दर्प को, धृति ने नियम को, तुष्टि ने संतोष को, पुष्टि ने लोभ को उत्पन्न किया। मेधा से श्रुति का, क्रिया से दण्ड का, नय एवं विनय का जन्म हुआ। बुद्धि ने बोध को, लज्जा ने विनय को, वपु ने व्यवसाय को, शान्ति ने क्षेम को, सिद्धि ने सुख को और कीर्ति ने यश को जन्म दिया।

स्वायंभुव मनु की यह वंश-परम्परा हमने मार्कण्डेय एवं पद्म पुराण से ही ली है। वेदों और पुराणों में तथ्य-कथन के अतिरिक्त रूपक कथन एवं अतिशयोक्ति कथन भी बहुत मिला करता है। इसीलिए उनके शब्दों के अर्थों पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से ऊहापोह करने की आवश्यकता होती है।

मनु-स्वायंभुव की दोहिती को वैवस्वत मनु की पत्नी दिखाकर 'कामायनी' के कवि ने वेदों एवं पुराणों के प्रति अन्याय किया है। पुराणों या वेदों की परम्परा में परिवर्तन करने की न तो आवश्यकता ही थी और न किसी कवि को ऐसा करना उचित ही है। फिर, 'श्रद्धा' का विवाह 'धर्म' के साथ तो समझ में आ भी जाता है, परन्तु श्रद्धा का विवाह आदि मानव या मनु के साथ किंचित् भी समझ में नहीं आ सकता।

वास्तव में, 'धर्म' के साथ 'श्रद्धा' का बहुत गहरा सम्बन्ध है। कहा भी गया है कि श्रद्धा ही परमधर्म है, श्रद्धा ही ज्ञान, यज्ञ, तप, होम स्वर्ग और मोक्ष है।

'गीता' में भगवान कहते हैं—कि अश्रद्धा के साथ यज्ञ, दान, तप जो कुछ भी किया जाय वह नितान्त साधु-विगर्हित कार्य है। उससे न तो इस लोक का और न परलोक का फल मिल सकता है।

श्रद्धा का लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति से भी निकटतम सम्बन्ध है और इन सबका धर्म के साथ भी निकट सम्बन्ध है।

किन्तु धर्माचरण के लिए श्रद्धा (धर्मकार्यादि में दृढ़ प्रत्यय एवं गुरु और शास्त्र वाक्यों में अटूट विश्वास होना) सबसे अधिक आवश्यक है। इसीलिए लिखा गया है कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा एवं मुमुक्षत्व—इन समग्र गुणों के उदय होने पर ही मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है।

जैन धर्म में भी मुक्ति के साधनों में ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और भावना की आवश्यकता बताई है।

जब तक शास्त्र-वाक्यों में दृढ़ विश्वास न हो तब तक धर्म का प्रारम्भ कैसे किया जा सकता है? इसीलिए धर्म और श्रद्धा का अटूट सम्बन्ध माना जाता है। केवल उन लोगों के लिए जो आस्तिक और धार्मिक हैं, मानव और धर्म का सम्बन्ध भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु मानव का और श्रद्धा का, अथवा मन का और श्रद्धा का, अटूट सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है?

ऐतिहासिक दृष्टि से, अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी 'श्रद्धा' को 'कामायनी' में अत्यधिक महत्व दिया जाना उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्भवतः 'प्रसाद' जी ने 'श्रद्धा' का अर्थ न तो 'चित्त की प्रसन्नता' और न 'शास्त्र-वाक्यों में अटूट विश्वास' किया है। 'कामायनी' पढ़ने पर पता चलता है कि श्रद्धा को 'अनुराग' अथवा भक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

शाण्डिल्य-सूत्र का यह मत यहाँ सहसा याद आ जाता है कि 'नैव श्रद्धा तु साधारणत्वात्' (भक्ति और श्रद्धा एक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा का साधारणत्व दिखलाई पड़ता है।)

'कर्म में श्रद्धा' 'उपासना में श्रद्धा' 'वाक्य में श्रद्धा' इत्यादि प्रकार से 'श्रद्धा' का साधारणत्व नजर आ जाता है। किन्तु भक्ति तो भगवान् में ही हुआ करती है।

अतएव मनु को यदि आदि मानव रूप में लें तो 'श्रद्धा' उसके हृदय का प्रतीक नहीं हो सकती; और यदि मनु को मननशील के अर्थ में लें तो भी 'श्रद्धा' उसके भाव-पक्ष का पर्याय नहीं हो सकती।

श्रद्धा के मुकाबिले में 'इड़ा' (बुद्धि) का महत्व आदि मानव, सृष्टि सृजनहार एवं मन के लिए अत्यधिक है। 'बुद्धि' वह शक्ति है जिसके अनुसार मनुष्य किसी उपस्थित विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार या निर्णय कर सकता है। इसीलिए इसको 'निश्चयात्मिका अन्तःकरण वृत्ति' कहा गया है।

प्रकृति का प्रथम विकास बुद्धि तत्त्व है। सत्वगुण सर्वप्रथम बुद्धि तत्त्व रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। बहुत निर्मल होने के कारण इसे महत्तत्व भी कहते हैं। बुद्धि केवल तर्कजाल अथवा शुष्कज्ञान नहीं है। गीता में सात्विकी, राजसी, एवं तामसी तीन प्रकार की बुद्धि का उल्लेख है। जिसके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्षादि जाना जा सके उसे सात्विकी बुद्धि कहते हैं, जिसके द्वारा धर्म-अधर्म का अथवा कार्य-अकार्य का यथार्थ निर्णय होता है, वह 'राजसी बुद्धि' बताई गई है और जो बुद्धि सब बातों में उल्टी समझ पैदा कर देती है वह 'तामसी बुद्धि' है। 'कामायनी' में 'इड़ा' का जो रूप दिखाया गया है, वह इन तीनों के परे प्रतीत होता है।

वास्तव में, बुद्धि-तत्त्व ही जगत का मूल है। जिस प्रकार नींद टूटने पर आँख खुलते-खुलते सहसा अज्ञानतम का अस्त और ज्ञान का उदय होता है, उसी प्रकार प्रलय होने के अनन्तर जब जगत अपनी सुषुप्तावस्था से उठा करता है तभी महत्तत्व या बुद्धि का विकास हुआ करता है। प्रलय के अनन्तर मनु का इड़ा (बुद्धि) की सहायता से सृष्टि की रचना एवं उस सृजनहार का रहस्य प्राप्त करना समझ में आ सकता है। किन्तु बुद्धि को एक कोने में बैठा कर 'श्रद्धा' द्वारा जगत का रहस्य समझा देना—कामायनी महाकाव्य की बड़ी भूल ही कही जायगी।

हमारे शास्त्रों में बुद्धि का एक विराट रूप दिखाया गया है। निद्रा, वृत्ति, व्यवसाय, चित्तस्थैर्य, संशय और प्रतिपत्ति एक दृष्टि से, बुद्धि के ये पाँच गुण हैं। दूसरी दृष्टि से शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, उपोह और अर्थ-विज्ञान, ये सात गुण हैं।

इनके अतिरिक्त बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ बताई गई हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। 'नित्या' और 'अनित्या' रूपों को छोड़कर नैयायिकों ने बुद्धि के दो भेद और बताए हैं, जिन्हें 'अनुभूति' और 'स्मृति' कहते हैं।

प्राचीन शास्त्रों में दिखाए गए 'बुद्धि' के विराट रूप के आधार पर महाकाव्य का बड़ा सुन्दर भवन निर्माण किया जा सकता था। किन्तु यह सब छोड़कर बुद्धि का एक अत्यन्त संकुचित रूप ही लिया जाकर 'कामायनी' की 'इड़ा' महत्वहीन बना दी गई है।

सत्रह अवयवों से हमारे यहाँ सूक्ष्म शरीर की रचना भी बताई जाती है। सत्रह अवयवों में ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ वायु के अतिरिक्त, दो महत्वपूर्ण अवयव मन और बुद्धि ही हैं।

यदि मनु को मननशील के अर्थ में लें, तो मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मन जहाँ संकल्प और विकल्पादि की अन्तःकरण वृत्ति विशेष है, वहाँ बुद्धि निश्चयात्मिका अन्तःकरण वृति है। सांख्य में, महत्तत्व से ही मन की उत्पत्ति बताई गई है। इसलिए मन और बुद्धि का अटूट सम्बन्ध बताया गया है। मन कहाँ अवस्थित है? इस पर शास्त्रकारों में विभिन्न मत देखे जाते हैं। कोई दोनों भ्रू के बीच में और कोई 'आज्ञा-चक्र' में बताते हैं, इसका कारण यह बताया जाता है कि मन जब चिन्ता-कार्य में प्रवृत्त रहता है, तब मस्तक का तमाम स्नायु-मंडल स्पन्दित होने लगता है और आँख, मुँह भ्रू के विशेष स्थान विशेष रूप से कुञ्चित और विकृत हो जाते हैं।

दूसरे मत वाले कहते हैं मन का स्थान मस्तक न होकर हृदय है। हृदय के भीतर जो अपूराकार मांसखंड 'हृद् पद्म' कहलाता है, उसी मांस-खंड के उदराकाश में ही मन की वासना भूमि है। ध्येय वस्तु हृदयाकाश में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य जो ध्यान व चिन्ता करता है वह हृदय में रखकर ही करता है। इस कारण मन का स्थान हृदय भी बताया गया है।

मनु को मननशील अथवा मन के अर्थ में लेकर, मनु और इड़ा—मन और बुद्धि का सम्बन्ध दिखाकर महाकाव्य की रचना यदि की जाती तो एक नितान्त मौलिक कल्पना होते हुए भी मनो-

वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह सर्वश्रेष्ठ रचना होती। किन्तु 'मनु' और 'इड़ा' का महत्त्व भूलकर 'मनु' और 'श्रद्धा' का ही महत्त्व दिखाना न तो ऐतिहासिक दृष्टि से और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही उचित कहा जा सकता है।

मन अन्नमय अर्थात् खाद्य द्रव्य का परिणाम विशेष भी बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में गुरु उद्दालक और शिष्य श्वेतकेतु की बड़ी सुन्दर आख्यायिका दी गई है। उसका आशय यह है कि आहार के अभाव में मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ सभी क्षीण हो जाती हैं। अन्न मिलने पर, मस्तिष्क में सभी विषयों का फिर उदय होकर मन और बुद्धि ठीक-ठीक काम करने लगते हैं। स्मरण-शक्ति भी आने लगती है।

कार्ल मार्क्स इसी को इस प्रकार कहता है कि भौतिक तत्त्व की उपज ही मन है। इस प्रकार मनु के पाक यज्ञ द्वारा घृत नवनीत से उत्पन्न इड़ा (बुद्धि) का रहस्य समझ में आ जाता है।

अन्न न मिलने पर, धर्म में श्रद्धा भले ही बनी रहे, मन और बुद्धि का ह्रास होने लगता है। इसीलिए श्रद्धा को एक ओर हटाकर मन और बुद्धि का अटूट सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है।

मन और बुद्धि के अमर मानसिक तत्वों को मंगल-सूत्र में पिरोने के स्थान में 'कामायनी' में बुरी तरह उलझा दिया गया है।

(२)

रूप, यौवन एवं प्रणय के वर्णन में अथवा प्रकृति के चित्रण में, आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' जी अद्वितीय हैं। 'कामायनी' में कथा-वस्तु, प्रबन्धत्व एवं चरित्र-चित्रण को अलग हटाकर यदि इन्हीं वर्णनों पर एक दृष्टि डाली जाय तो यहाँ अवश्य मादकता की कमी नहीं मिलेगी।

'श्रद्धा' के सौन्दर्य का निम्नलिखित वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक है:—

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम!
हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु-साल
सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध खुला अङ्ग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रङ्ग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि-धाम।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्त्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्त्ति

उषा की पहिली लेखा कांत,
माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिंब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध !

'श्रद्धा' का शरीर लम्बा और विशाल बताया गया है। हवा से झूमते हुए नवीन शाल वृक्ष के समान वह सुन्दर और सुगन्ध युक्त है। सन्ध्या काल में घिरे हुए काले बादलों के बीच अस्त होते हुए

सुन्दर सूर्य के लाल प्रकाश के समान उसका मुख चमक रहा था। मानो नीलम के पहाड़ की चोटी पर भीतर से फूटकर ज्वालामुखी की सुन्दर लौ वसन्त की रात में अशान्त होकर धधक रही थी !!

उसके घुँघराले बाल कंधे तक लटक रहे थे और मुख पर इस प्रकार छहरा रहे थे मानो सुन्दर और नीले मेघ-शिशु चन्द्रमा के पास अमृत पान करने आए हों। लाल-लाल कोंपल पर बाल सूर्य की एक चमकीली किरण के मृदु-मन्द विहार-सरीखी उसकी मुसकान थी। चिरस्थायी यौवन के सौन्दर्य से युक्त, करुणा की कमनीय मूर्ति—जैसी मुसक्यान अपने मधुर स्पर्श द्वारा जड़ में स्फूर्ति प्रकट करती थी। यह मुसक्यान प्रभात कालीन तारों की गोद में प्रकटित प्रथम ऊषा की किरण के समान सलज्ज, माधुरी से भींगी हुई और मद से भरी हुई थी। उस मुख पर वह सुन्दर मुस्कराहट ऐसी थी मानो किसी कुसुम-कानन के अंचल में—पुष्प वाटिका में—मन्द पवन द्वारा लाया हुआ सौरभ साकार होकर मकरन्द का आधार लेकर, परागप-रमाणुओं द्वारा रचित शरीर धारण कर खड़ा हुआ था; और वासन्ती पूर्णिमा की शुभ्र चाँदी मानों उस पर पड़ कर मन को उमङ्ग से भर रही थी। श्रद्धा के मुख पर, हँसी का यह मद विह्वल प्रतिबिंब, मधुर शरारत सदृश उन्मुक्त था।

लयपूर्ण भाषा में कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान अथवा अभिव्यक्ति अन्यत्र मिलना कठिन है।

इसी भाँति, कर्म सर्ग में श्रद्धा और मनु का प्रणय-वर्णन भी मनमोहक है:—

खुले मसृण भुज-मूलों से
वह आमंत्रण था मिलता,
उन्नत वक्षों में आलिंगन
सुख लहरों सा तिरता ॥

जागृत था सौंदर्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी

रूप–चंद्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा सी नारी ॥
वे मांसल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते,
अलकों की डोरी में जीवन
कण कण उलझे जाते ॥
विगत विचारों के श्रम सीकर
बने हुए थे मोती
मुख मंडल पर करुण कल्पना
उनको रही पिरोती ॥
छूते थे मनु और कंटकित
होती थी वह बेली
स्वस्थ व्यथा की लहरों सी
जो अंग लता थी फैली ॥
जलदागम मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली
श्रद्धा की, धीरे से, मनु ने,
अपने कर में ले ली ॥
अनुनय वाणी में, आँखों में
उपालंभ की छाया,
कहने लगे "अरे यह कैसी
मानवती की माया"

'इड़ा' सर्ग में कामायनी का भाषा-सौष्ठव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। प्रातःकाल के वर्णन के साथ 'इड़ा' का शारीरिक वर्णन रोचक एवं पठनीय है। सुनहरे मंडल के भीतर सूर्य की उपमा, पराग से भरे खिले हुए कमल के फूल से दी गई है। प्रकाश की किरणों से बुने हुए ऊषा के आँचल में जब प्रभात वायु मचल

रही थी उसी समय सुन्दर बालिका 'इड़ा' वहाँ उपस्थित हुई। कवि कहता है कि एक सुन्दर चित्रपट पर एक सुन्दर चित्र खिंच गया। वह बाला नयनों के महोत्सव की प्रतीक, ताज़े कमल फूलों की नव-मालिका थी। उसका मुख मंडल सौन्दर्य की खान था। उसे देखकर जीवन का अन्धकार और वैराग्य लुप्त हो गया। उसकी मुसकान चारों ओर सौन्दर्य बिखेर रही थी।

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में, एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो, श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आन्दोलन अमन्द
करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरन्द
उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुखमा का मंडल सुस्मित सा बिखराता संसृति पर सुराग
सोया जीवन का तम-विराग।

'इड़ा' की अलकें तर्क-जाल सी बिखरी हुई थीं। उसका भाल, विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम अर्ध चन्द्र था। दोनों आँखें कमलपत्र की दो कटोरियों के सदृश थीं जिनसे अनुराग और विराग उँडेला जा रहा था। भ्रमरों से गुंजरित कली के सदृश उसका गान-भरा मुख था; वक्षस्थल पर संसार के समस्त ज्ञान और विज्ञान वह धारण किए हुए थी। एक हाथ में कर्म-कलश था जिसमें जीवन रस का सार भरा था। दूसरे हाथ से विचारों के आकाश को निर्भय होकर थामे थी और चरणों में ताल से भरी गति थी।

ब्रजभाषा की परम्परा में पले हुए कवि प्रसाद 'पजनेस' के 'नीवी तट त्रिबली' 'वली पै द्युति कोसतुंड' के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए और इसीलिये 'इड़ा' की नाभि के ऊपर की तीन रेखाओं की उपमा सत्व, रज, तम तीन गुणों की तरंगों से दे डाली, जिसके ऊपर का लहरिया का लहरदार वस्त्र प्रकाश का आवरण

था। 'इड़ा' का यह वर्णन, गीति-काव्य की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। लिखा है:—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश, वसुधा जीवन रस सार लिए
दूसरा विचारों के नभ को था, मधुर अभय अवलंब दिए
त्रिवली थी त्रिगुण तरंग मयी, आलोक बसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल

'इड़ा' सर्ग कथावस्तु से प्राय: शून्य है। किन्तु इस सर्ग के गेय पदों में कवि ने अन्तर्वाही शैली (Subjective style) अपना कर, मानव हृदय की अन्तरतम भावनाओं का सुन्दर परिचय दिया है। आधुनिक गीति-काव्य में 'कामायनी' का 'इड़ा' सर्ग बेजोड़ है।

'इड़ा' सर्ग के अनन्तर 'स्वप्न' सर्ग में विरह से व्याकुल 'श्रद्धा' का भी वर्णन कम रोचक नहीं है। कामायनी उस फूल के समान पड़ी हुई बताई गई है जिसमें मकरन्द नहीं रह गया था; वह उस रेखाओं के चित्र की तरह थी जिसका रंग फीका हो गया था। वह प्रभात के निस्तेज शशि सी प्रतीत होती थी जिसमें चाँदनी तो क्या एक किरण भी नहीं रही थी अथवा उस सन्ध्या के समान थी जिसमें सूर्य, चन्द्र तारे—कुछ भी नहीं थे। उस सरोवर के समान थी जिसमें लाल, नीले और श्वेत वर्ण के कमल अपनी नालों पर मुरझा चुके थे और जिन पर मधुप नहीं आ रहे थे; अथवा उस जलधर (बादल) के समान थी जिसमें न तो बिजली चमकती है और न श्यामलता है। या यों कहें कि कामायनी शिशिर ऋतु का क्षीण स्रोत थी जो बर्फ बनकर ठंडी पड़ चुकी थी। श्रद्धा, एकान्त की मौन वेदना प्रतीत होती थी जिसमें झिल्ली की झनकार नहीं

थी। संसार की वह अस्पष्ट उपेक्षा थी अथवा 'कसक' मूर्त्ति बन कर खड़ी थी। हरे-भरे कुंज की वह एकमात्र छाया सी रह गई थी; अथवा छोटी-सी विरह-नदी बन गई थी जिसका अन्त नहीं हो रहा था। कवि के ही शब्दों में—

"कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ।
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ॥"
जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आए।
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाए॥
एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही।
हरित कुंज की छाया भर थी, वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

भाषा, भाव एवं शैली की प्रौढ़ता में कामायनी' के ये वर्णन अद्वितीय हैं। किन्तु ऐसे वर्णन सारी पुस्तक में नहीं मिलते।

कहीं अत्यन्त सरस एवं रोचक वर्णन हैं तो कहीं अस्पष्ट भाषा ने नीरसता भी चरम सीमा पर पहुँचा दी है। 'निर्वेद' सर्ग में, युद्ध के अनन्तर, क्षुब्ध एवं मौन सारस्वत नगर का वर्णन करते हुए कवि लिखता हैं—

निशिचारी भीषण विचार के पंख भर रहे सर्राटे।
सरस्वती थी चली जा रही, खींच रही सी सन्नाटे॥

प्रतीत यह होता है कि सारस्वत नगर निवासियों के मस्तिष्क का ऊपरी भाग 'किराये के लिये' खाली था; जिस पर भीषण

विचार के निशाचरों ने अपना अधिकार कर लिया था और उसमें वे अपने पंख फड़फड़ा रहे थे !! जिसको देखकर सरस्वती नदी सन्नाटे खींच कर चलती जा रही थी !! 'सर्राटे' और 'सन्नाटे' की तुक के सिवाय यहाँ कोई भाव नहीं है।

इसी प्रकार 'संघर्ष' सर्ग में

मायाविनि, बस पा ली तुमने ऐसी छुट्टी।
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी॥

'खुट्टी' ग्रामीण भाषा का भद्दा प्रयोग है, इसी प्रकार—

तब सरस्वती सा फेंक साँस
श्रद्धा ने देखा आस पास

अथवा—

उलझन की मीठी रोक टोक
यह सब उसकी है नोक झोंक।

अथवा—

प्रिय अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नहीं रंक।
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक,
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक॥

भाषा प्रवाह को बिगाड़ रहे हैं। जहाँ प्रकृति वर्णन या रूप वर्णन अथवा मनोवेग चित्रण नहीं है वहाँ प्रसाद की लेखनी डगमगाने लगती है।

दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

आह स्वर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए विलीन हुए
भक्षक या रक्षक जो समझो
केवल अपने मीन हुए।

यहाँ केवल 'अपने मौन' हुए का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। इसी प्रकार—

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह
गतिहीन पंगु सा पड़ा पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा डीह

अन्तिम पंक्ति, तुकबन्दी के लिए है जो निरर्थक एवं भद्दी है।

कहीं कहीं प्राकृतिक ऐश्वर्य के वर्णन में अन्त्यानुप्रास (पाद-पूर्ति) की लहर में वर्णन की भाषा बिलकुल बिगड़ गई है। 'वासना' सर्ग में एक स्थान पर यौवन मुग्धा प्रकृति का नीला अंचल ढीला होने पर टिमटिमाते तारों को मंगल खील बिखेरना सा बताया गया है। लिखा है—

राशि राशि नखत कुसुम की, अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है ताम्र-रस सुन्दर चरण के प्रान्त।

'चरण के प्रान्त' केवल 'अर्चना अश्रान्त' की तुक मिलाने के लिए रखा गया है जिससे भाषा-सौष्ठव पर आघात हो रहा है।

मनु इस चाँदनी के सौन्दर्य को अपलक निहारते रहे। आकाश से निरन्तर मदिर कण की वृष्टि हो रही थी। इस का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

मनु निरखने लगे ज्यों ज्यों यामिनी का रूप
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया, फैलती अपरूप,
बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।

"संगीत श्रीमन्त होने लगा था" का क्या अर्थ है? व्याप्त होने लगा था या सुनाई देने लगा था या गूँजने लगा था? 'अनन्त' की तुक मिलाने के लिए 'श्रीमन्त' लाया गया है जो भाव को ठीक व्यक्त नहीं कर रहा।

कवि का ध्यान 'लिंग विचार' पर भी नहीं था—

तुहिन कणों, फेनिल लहरों में
मच जावेगी फिर अंधेर।

में 'अन्धेर' को स्त्रीलिंग बना डाला है।

'श्रद्धा' सर्ग में कामायनी कहती है—

अकेले तुम कैसे असहाय
भजन कर सकते ? तुच्छ विचार,
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलंब ?

नारी के मुख से यह कहलाना कि "तुम्हारा सहचर बनकर मैं उऋण होना चाहता हूँ"—व्याकरण की बिलकुल उपेक्षा करना है।

'एक वचन' अथवा 'बहुवचन' के भेद पर भी कवि ने ठीक-ठीक ध्यान नहीं दिया—

यथा—

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जयनाद
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बन कर मानो दीन विषाद

यहाँ या तो 'पुतले' होना चाहिए या 'तुम्हारे'—

रस-अनौचित्य भी यत्र तत्र दिखाई पड़ता है। वासना की पिपासा में शरीर की क्षणभंगुरता पर प्रेमी और प्रेमिका का ध्यान कब जाता है ? 'कर्म' सर्ग में, केलि के समय, मनु और श्रद्धा का सम्वाद रस-अनौचित्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस संवाद के अनन्तर, मनु और श्रद्धा की रतिक्रिया का संकेत कुशल कवि ने 'व्याकुल चुम्बन' के दृश्य के अनन्तर यह लिख कर किया है कि—

दो काठों की सन्धि बीच उस
निभृत गुफा में अपने
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख सपने

यहाँ 'अपने' शब्द अशुद्ध है ; केवल तुकपूर्ति के लिए लाया गया है। 'अपनी' होना चाहिए।

'काम' सर्ग में एक स्थान पर मनु कह रहे हैं—

आकाश रंध्र हैं पूरित से
यह सृष्टि गहन सी होती है
आलोक सभी मूर्च्छित सोते
यह आँख थकी सी रोती है

भाषा बिलकुल अस्पष्ट है। सृष्टि 'गहन' सी होती है ? क्या रहस्यमयी होने से मतलब है ? या 'गहरी' होने से ? आलोक— (प्रकाश के मानपिंडों का) मूर्छित सोना क्या है ? आँख थक गई है या थकी सी हो गई है ? और, रोती क्यों है ?

संभवत: रहस्यमय सौंदर्य के नशे के कारण आलोक बेसुध हो रहे थे और कवि का भाव यह है कि आँखें उस सौंदर्य का पान करके तृप्त नहीं हो रही थीं और उनकी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। किन्तु, भाषा स्वयं यहाँ रहस्यमयी हो गई है।

इसी के अनन्तर लिखा गया कि :—

सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ
बन कर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहीं
आगे बढ़ने में जाँच रहीं

अन्तिम दोनों पंक्तियाँ निरर्थक सी प्रतीत हो रही हैं। आँखों को वहीं रोक कर, आगे बढ़ने से कैसे जाँच रही होंगी ? शायद रहस्य का पर्दा फाड़ कर आगे जाने में असमर्थता अनुभव कर रही थीं !! आगे का छन्द है :—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस पर्दे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?

सौंदर्य की यवनिका के पीछे "धन" कहाँ से आया होगा ? "अन्य धरा कोई धन है" नीरस तुकपूर्ति है।

एक स्थान पर लिखा है—

श्रुतियों में चुपके चुपके से
कोई मधुधारा घोल रहा
इस नीरवता के पर्दे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा

'कानों' के स्थान में 'श्रुतियों' का प्रयोग आधुनिक हिन्दी में खटकता है। आज अपौरुषेय शास्त्रों को ही हम 'श्रुतियाँ' कहते हैं।

एक दूसरे स्थान पर लिखा है—

था व्यक्ति सोचता आलस में
चेतना सजग रहती दुहरी
कानों के कान खोल करके
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी

लक्षणा शक्ति कितनी ऊँची पहुँची है ? जब मनु का मन तन्द्रा में मस्त था उस समय उनकी चेतना दुगने तेज से सजग हो रही थी। उसने कानों के कान खोलकर गंभीर ध्वनि सुनी !!

प्रथम तो चेतना के कान; फिर उन कानों के कान !! कल्पना की उड़ान ही तो है !! कानों के कान खोलकर सुनना ; आँखों को

आँख खोलकर देखना और नाकों की नाक खोल कर सूँघना !! कितने सुन्दर प्रयोग हैं ?

एक अन्य स्थान पर मनु कहते हैं—

यह छल चलने में अब पंगु हुआ सा समझो
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो

"छल चलने में लँगड़ा हुआ सा समझो"—कितनी अच्छी उक्ति है ? बेचारी 'लक्षणा' की टाँग तोड़ दी है।

इसी के अनन्तर, 'संघर्ष' सर्ग के सुन्दर भाषा-प्रवाह में मनु कहते हैं :—

"देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रन्दन !
किन्तु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में
मेरी छाती में," फिर सब डूबा आहों में !

किसकी आहों में सब डूब गया ? यह स्पष्ट नहीं किया ! सुन्दर भाषा-प्रवाह कवि की आहों में ही डूबा प्रतीत हो रहा है !! यह भी प्रतीत होता है कि मनु ने 'इड़ा' को अपनी बाहों में कस लिया और छाती से लगाने लगे। मनु से यह कहलाना उचित था कि 'तुम मेरी बाहों में बन्दी हो'; किन्तु 'छाती में बन्दी' से तात्पर्य हृदय में बन्दी होने से है जो कवि का यहाँ भाव नहीं है।

'काम' सर्ग के अन्त में मनु की तन्द्रा के स्वप्न जब भंग हुए तो उन्होंने देखा कि सुन्दर प्राची में अरुणोदय का रस-रङ्ग हो रहा है। उस समय कवि ने यह लिखकर 'काम' सर्ग समाप्त किया है कि—

उस लता कुंज की झिलमिल से
हेमाभिरश्मि थी खेल रही
देवों के सोम सुधा रस की
मनु के हाथों में बेल रही

प्रथम दो पंक्तियों में लताकुञ्ज की झिलमिल करती काँपती छाया के साथ प्रातःकाल की सुनहली किरणों की क्रीड़ा का बड़ा हृदयग्राही वर्णन है। उस वर्णन के साथ अन्तिम दो पंक्तियाँ बिलकुल नीरस प्रतीत होती हैं। 'खेल' के साथ 'बेल' की तुकबन्दी के सिवाय यहाँ और कोई भाव भी नहीं है। ऊषा काल में सोमपान कौन करता होगा? और ऊषाकाल में मनु सोमलता की जड़ी बूटी हाथ में लिए क्यों बैठे होंगे? यदि देवों के सोमपान को मनु द्वारा आगे बढ़ाते रहने का संकेत है तो शब्द 'बेल' निरर्थक है।

'निर्वेद' सर्ग में मनु और श्रद्धा के सम्वाद की भाषा ही बिगड़ रही है। मनु श्रद्धा से कहते हैं :—

हाथ पकड़ ले, चल सकता हूँ
हाँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन? परे हट, श्रद्धे!
'आ कि हृदय का कुसुम खिले''

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आँखों में विश्वास भरे
मानो कहती "तुम मेरे हो
अब कोई क्यों वृथा डरे?"

प्रथम छन्द में मनु श्रद्धा के हाथों का सहारा चाहते हैं; किन्तु फिर "वह तू कौन? परे हट, श्रद्धे" कहकर यह बोध कराते हैं कि मनु को होश नहीं रहा था। बीच बीच में बड़बड़ा रहे थे। छन्द में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे यह पता चलता हो कि मनु श्रद्धा से नहीं बल्कि 'इड़ा' से यह कहते थे कि 'तू दूर हट जा'। इस प्रकार 'आ कि हृदय का कुसुम खिले' निरर्थक हो जाता है। दूसरे छन्द में 'नीरव' शब्द देखने योग्य है। 'नीरव सिर' कैसा होता है? शायद श्रद्धा का नीरव भाव से सिर सहलाने से यहाँ तात्पर्य है किन्तु भाषा दूसरी ओर चल रही है! अन्तिम पंक्ति भी

बिलकुल नीरस तुकबन्दी है। किसी व्यक्ति के वृथा डरने से यहाँ प्रयोजन क्या हो सकता है ?

'कामायनी' में कई साधारण शब्दों के अशुद्ध प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। 'रहस्य' सर्ग में मनु कहते हैं :—

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा;
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा

'लड़ना' और 'अड़ना' यहाँ चिन्त्य प्रयोग हैं। आँधी के सामने 'डटे' रहने से प्रयोजन है जिसके लिए 'अड़ न सकूँगा' लिखना अशुद्ध है।

दुर्बल, बीमार, थके हुए मनु आगे चलने में अपने को असमर्थ समझ रहे हैं और वापस लौट चलने को कह रहे हैं किन्तु श्रद्धा के मुख से मनु को कुछ अजीब भाषा में यह कहलाया जाता है :—

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली
"हम बढ़ दूर निकल आए अब
करने का अवसर न ठिठोली"

यहाँ 'ठिठोली' शब्द ग्रामीण भी है और अनुचित भी है। थके मनु गम्भीर थे और मजाक का कोई मौका भी तो यहाँ नहीं था।

श्रद्धा आगे कहती है—

श्रान्त पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहें;
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहें

"ऐसे विहग युगल से आज हम रहें जिनके पङ्ख थक गए हैं और जिन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिए हैं" यह अर्थ तो ठीक है किन्तु 'शून्य' शब्द यहाँ बिलकुल शून्य हो रहा है। यदि 'आकाश'

से तात्पर्य लें तो आकाश और पवन पंख कैसे बन सकते हैं ? पंख उड़ने को होते हैं ; जमने को नहीं अन्तिम पंक्तियों का कुछ अर्थ नहीं होता !

'जकड़ना' शब्द कसकर बाँधना अथवा गतिहीन करने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है किन्तु 'निर्वेद' सर्ग में लिखा है :—

नव कोमल अवलम्ब साथ में
नय किशोर उँगली पकड़े;
चला आ रहा मौन धैर्य सा
अपनी माता को जकड़े

यहाँ 'जकड़े' शब्द अशुद्ध है। संभवतः माता से लिपटे हुए चले आने का मतलब है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है :—

वे अम्लान कुसुम सुरभित
मणि रचित मनोहर मालाएँ
बनी शृंखला, जकड़ी जिनमें
विलासिनी सुर बालाएँ

यहाँ 'जकड़ी' 'लिप्त' होने के भाव में आया है जो भद्दा एवं चिन्त्य प्रयोग है।

'ईर्ष्या' सर्ग में लिखा है—

मृग डाल दिया फिर धनु को भी
मनु बैठ गए शिथलित शरीर

'शिथिल' को 'शिथलित' बना दिया गया है। 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा मनु से कहती है —

मनु क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हन्त ! बची क्या शवता !

तुम्हारी मानवता में क्या सब कुछ ले लेना ही है ? क्या 'शवता' ही बची है ? यहाँ 'शव' से 'शवता' बना डाला गया है; यह एक दूपित प्रयोग है। कवि का भाव यह है कि क्या नव मानवता में स्वार्थ साधन ही ध्येय है और जीवों की हत्या करना ही कर्त्तव्य रह गया है। मगर भाषा अलग चल रही है !!

आगे श्रद्धा कहती है—

ये मुदित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुल कर तो ये मर लें

यहाँ 'मर लें' हास्यास्पद एवं नीरस तुकबन्दी है। भाव यह है कि यह मुदी हुई कलियाँ यदि पत्तियों के भीतर सब सौरभ बन्द कर लें और फिर खुलकर यदि मकरन्द से रसार्द्र न होंगी तो यह नष्ट हो जायँगी। भाषा भाव को व्यक्त नहीं कर रही है।

एक आलोचक ने लिखा है कि 'कामायनी' में हिन्दी के चलते प्रयोग और मुहावरे सारे ग्रंथ में बिखरे पड़े हैं।

मुहावरों का सफल प्रयोग कविता में करना कुछ कठिन है। अवश्य मुहावरों में थोड़े शब्दों में बहुत बातें होती हैं और वे कई मानसिक भावों की सूचक होती हैं। मौलाना हाली ने लिखा था कि "मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जावे तो बिला शुबह पस्त शेर को बलन्द और बलन्द को बलन्दतर कर देता है।" किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि उन्हीं मुहावरों से भाषा में स्फूर्ति एवं जीवन आ सकता है जिनके द्वारा व्यञ्जना का सबसे अधिक विकास होता हो। ध्वनिमूलक व्यञ्जना ही अधिकतर मुहावरों का आधार बताई गई है—अतः व्यञ्जना शक्ति के लिए ही कविता में मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ केवल साधारण वर्णन (अभिधा) ही ध्येय हो वहाँ मुहाविरों का प्रयोग कविता को सुन्दर बनाने के स्थान में बिगाड़ ही देता है।

जैसे "लोहू का घूँट पीना" एक मुहाविरा है जिसका अर्थ है "विपत्तिकाल में जिसने दुख दिया हो उससे असमर्थ होने के कारण बदला न लेकर मन मार कर बैठे रहना और दुःख सहते रहना"। यह छोटा-सा मुहावरा नाना मानसिक भावों की सूचना देता है।

'कामायनी' में इसी मुहावरे को अत्यन्त साधारण तौर से प्रयोग किया गया है। मनु के मृग को आकुलि और किलात मार कर खाना चाहते थे। उस समय आकुलि कहता है—

"क्यों किलात! खाते खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मैं देखूँ जीवित पशु
घूँट लहू का पीऊँ"

यहाँ मुहाविरे की मिट्टी खराब हो रही है। इसी प्रकार एक दूसरे मुहाविरे "चैन की वंशी बजाने" की दुर्दशा हुई है। वही आकुलि कहता है:—

क्या कोई इसका उपाय ही
नहीं कि इसको खाऊँ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ

'चैन की वंशी बजाने' में वर्षों तक आराम करने का भाव निहित है। केवल एक बार मांस भक्षण करके वर्षों तक आराम तो कैसे हो सकता है?

'तिल का ताड़ बनाना' एक अन्य मुहावरा है जिसका अर्थ छोटी बातों को बढ़ा-बढ़ा कर बताना है। 'तिल का ताड़' अपने आप नहीं बनता है; तिलका ताड़ बनाया जाता है। परन्तु 'कामायनी में लिखा है—

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर
काम प्रेरणा मिल के

भ्रान्त अर्थ वन आगे आए
बने ताड़ थे तिल के

यहाँ भूले भटके अर्थ अपने आप तिल के ताड़ बन गए थे !!

बोल-चाल की भाषा में, 'फेरी देना' और 'फेरा डालने' में बहुत भेद है। फेरी वाला गली-गली में 'फेरी दिया' करता है किन्तु भाँवरों के समय ही 'फेरा डाला' जाता है। फेरा डालने में शुभ विवाह का भाव रहता है इसीलिए विरह-वेदना से पीड़ित श्रद्धा जब यह कहती है कि—

अरे! बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा

तो अन्तिम पंक्ति भाषा दोष से दूषित एवं अशुद्ध ग्रामीण भाषा का उदाहरण प्रतीत होता है जिसे सुगमता से बचाया जा सकता था।

हम यह नहीं चाहते कि मुहाविरों का प्रयोग कविता में न किया जाय। हम केवल यही चाहते हैं कि मुहाविरों का तभी प्रयोग किया जाय जब उस प्रयोग से व्यञ्जना-शक्ति में वृद्धि हो सके। किसी भी रूप में अशुद्ध, अनुचित एवं व्यर्थ प्रयोग तो नहीं किये जाने चाहिए।

श्रद्धा ने अपना प्रिय पुत्र मानव जब इड़ा को दे दिया तब मनु को बहुत बुरा लगा। मनु कहने लगे—

कैसा कठोर है तव हृत्तल!
वह इड़ा कर गई फिर भी छल!
तुम बनी रही हो अभी धीर
छुट गया हाथ से आह तीर!

क्रोध के आवेश में कुछ वाक्य मुँह से बिना सोचे समझे निकल जाते हैं और दूसरे के मर्मस्थल को वेध डालते हैं उसके

अनन्तर क्रोधित मनुष्य को क्रोध शांत होने पर जब ज्ञान होता है तब वह पश्चात्ताप के रूप में कहा करता है कि "ओह ! बड़ी ग़लती हो गई, अब क्या करूँ—तीर हाथ से छूट गया !!"

श्रद्धा द्वारा मानव को, सृष्टि के उपकारार्थ, इड़ा के सुपुर्द कर देने के कार्य से किसी को पीड़ा पहुँचने का अन्देशा तो था ही नहीं। फिर मनु का यह कहना कि "छुट गया हाथ से आह तीर !" अनुचित एवं व्यर्थ प्रयोग नहीं तो क्या है ?

एक स्थान पर लिखा है—

> और एक फिर व्याकुल चुंबन
> रक्त खौलता जिससे
> शीतल प्राण धधक उठता है
> तृषा तृप्ति के मिस से

व्याकुल चुम्बन के समय रक्त खौला नहीं करता। क्रोध के समय रक्त खौलता है। चुम्बन के समय, उसके पूर्व, और अनन्तर रगों में खून इधर-उधर दौड़ने लगता है। उस समय के रक्त-संचार अथवा रक्त प्रवाह को "खौलना" कहना अशुद्ध है।

दूसरे चरण में भी भाषा संयत नहीं है। प्यास बुझाने के लिए मन चंचल अवश्य हो जाता है मगर 'तृषा-तृप्ति' के लिए 'शीतल प्राण का धधक उठना' अनुचित अत्युक्ति ही कही जायगी। "तृषा-तृप्ति के लिए" में जो भाव है वही भाव "तृषा-तृप्ति के मिस से" में नहीं आ पाया। 'मिस से' शब्द व्यर्थ एवं निरर्थक प्रतीत होते हैं।

जहाँ 'कामायनी' के चतुर्थांश में कल्पना की ऊँची उड़ान, विलास और ऐश्वर्य की सुन्दर झाँकी, रहस्य की मादकता के साथ आध्यात्मिक भूमि के उच्चतम धरातल का रमणीक वर्णन मिलता है—वहाँ 'कामायनी' का तीन-चौथाई भाग, भाषा-दोष, व्याकरण-दोष, प्रान्तीय प्रयोग, अस्पष्ट प्रयोग, विभक्ति-लोप एवं अनुचित मुहावरों से भरा है।

पन्त का 'गुञ्जन'

प्रो० नगेन्द्र ने पन्तजी के लिए लिखा है "हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसके कलात्मक संकेत पर नाचती है।...... ......भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है। हाँ, कभी कोई नहीं रहा।"

शब्द 'हाँ' पर जोर दिया गया है।

जहाँ तक भावों का सम्बन्ध है, किसी को भी इस बात में सन्देह नहीं हो सकता कि पाश्चात्य लिरिक के ढंग पर गीति-काव्य में कहीं-कहीं पन्तजी ने भाव-जगत् में बड़ा जौहर दिखाया है। विविध चित्रों के सजीव अंकन में पन्तजी ने अपना स्थान बहुतों से आगे प्राप्त कर लिया है। वृक्ष के नीचे अकेली 'छाया' को देख कर पन्त की कविता अपने आप निकल पड़ती है :—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई।

क्या अच्छा होता कि सारी कविता ऐसी ही सुन्दर होती। ऐसे ही कोमल देशज शब्दों द्वारा ऊँची कल्पना प्रदर्शित होती रहती। परन्तु पन्त के ग्रन्थों में ऐसे सुन्दर छन्दों के साथ-साथ व्यर्थ शब्दोंवाले निरर्थक छन्दों की भी भरमार होती है। सच बात तो यह है कि हमारी भाषा में निरर्थक शब्दों से कविता-सुन्दरी को सजाने वाला इतना बड़ा दूसरा कवि अभी तक नहीं हुआ। कवि की इस मनोवृत्ति का सबसे अधिक अनुचित प्रयोग 'गुञ्जन' में मिलता है। यह पुस्तक साहित्य-सम्मेलन तथा इन्टर-

मीडियेट परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक रही है। यह समझ में आना कठिन है कि यह किस कारण से पाठ्य-पुस्तक हुई। यदि 'ऐरावती भाषा' की कल्पना की जा सकती है तो 'गुंजन' उसका बहुमूल्य उदाहरण है।

प्रो० नगेन्द्र ने एक कविता के लिए लिखा है कि इस कविता की शब्द-योजना इतनी विशद है कि पढ़ने पर गुंजन की ध्वनि सुनायी देने लगती है।

जिसने 'गुंजन' पढ़ा है उसे कहीं-कहीं 'नव-वय के अलियों का 'गुंजन' सुनायी देता है तो कहीं-कहीं दूर पर उड़ने वाले वायुयान का गुंजन भी सुनायी देता है—पढ़िए

सुन्दर-सुन्दर जग जीवन !
सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दर तर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे।"

हारमोनियम के सात स्वरों की जगह, जरा से छन्द में, सात बार 'सुन्दर' का प्रयोग कर के और आखिर में 'रे' जोड़कर गीति-काव्य सम्पूर्ण किया है जिसकी प्रशंसा सिवाय नगेन्द्रजी के कौन कर सकता था ? 'सुन्दर तर से सुन्दर तम' क्या वस्तु है ? अंग्रेजी में शायद कवि लिखते रहते होंगे :—

'More Beautiful than Beautiful
Most Beautiful than More Beautiful'

यह हिन्दी भाषा है या हिन्दी-भाषा में निरंकुशता का प्रवाह ? "अवगुंठन-युग" और 'ऐरावती भाषा' का सुन्दर सम्मिलन ?

और सुनिए :—

रह-रह मिथ्या पीड़ा से
दुखता-दुखता मेरा मन
मिथ्या ही बतला देती
मिथ्या का रे मिथ्यापन

'दुखता-दुखता' का दृश्य देखिये। मिथ्या का मिथ्यापन मिथ्या ही बतला देती है, सत्य का सत्यपन सत्य ही बतला देता है, क्रोध का क्रोधपन क्रोध ही बतला देता है, अल्हड़ का अल्हड़पन अल्हड़ ही बतला देता है, छायावादी का छायावादीपन छायावादी ही बतला देता है। कितने सुन्दर गूढ़ प्रयोग हैं !

और देखिए:—

यह जीवन का है सागर
जग-जीवन का है सागर
प्रिय-प्रिय विषाद रे इसका
प्रिय-प्रि, आल्हाद रे इसका

इस छन्द में २० शब्द हैं। दो-दो बार—(१) जीवन (२) का (३) है (४) सागर (५) रे (६) इसका—ये ६ शब्द प्रयुक्त किये गये हैं और ४ बार 'प्रिय' शब्द आया है। फिर भी छन्दमें कोई नयी बात न आ पायी। कविता बुरी तरह लड़खड़ा रही है, मगर समालोचकों ने इसकी भी प्रशंसा कर दी है क्योंकि 'प्रिय आह्लाद' के स्थान में पंतजी ने 'प्रि' आह्लाद लिख दिया है और भूमिका में इस प्रयोग को उचित बतलाया है। 'प्रि' आह्लाद में जादू बतलाया है। समालोचकों ने इस तोड़-मरोड़ की तारीफ करते हुए लिखा कि अब प्राचीन रूढ़ि-ग्रसित भाषा को प्राणमय बनाया जा रहा है !! उसकी लाक्षणिक शक्तियाँ विकसित की जाने लगी हैं !! 'प्रि' आह्लाद में लाक्षणिक शक्तियाँ और व्यञ्जना-शक्तियाँ शायद दोनों ही वर्तमान हैं !!

पन्तजी चिड़ियों को देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं इसकी समालोचकों ने बहुत ही तारीफ की है। वे गुंजन में कह उठे हैं:—

विहग, विहग
फिर चहक उठे ये पुञ्ज-पुञ्ज
चिर सुभग सुभग !

अगर शब्द "चहक उठे" को निकाल दिया जाय तो चार ही शब्दों का सम्मिश्रण रह जाता है। (१) चिर (२) विहग (३) पुंज और (४) सुभग। 'चिर' का क्या अर्थ है ? यहाँ व्यञ्जना-शक्ति है या लक्षणा-शक्ति ? दोनों स्थानों में एक ही अर्थ है या क्या ?

'बच्चन' ने एक जगह लिखा है कि—

यह चिर अनादि से प्रश्न उठा,
मैं आज करूँगा क्या निर्णय
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।

जरा पन्तजी की 'टोन' (Tone) में बदल कर देखिए सौंदर्य बढ़ता है या घटता ? पढ़िए—

चिर-चिर अनादि से प्रश्न-प्रश्न;
क्या हो निर्णय ? क्या हो निर्णय ?
मिट्टी-मिट्टी, मस्ती-मस्ती,
क्षण-क्षण जीवन, परिचय-परिचय।

लघु अक्षरों की आवृत्ति से प्राचीन रूढ़ि-ग्रसित भाषा देखिए तो कितनी प्राणमय बन गयी है !! भाव-अभिव्यक्ति के अनुरूप होने के अतिरिक्त संगीत में भी लाभ-प्रद हो गयी। और देखिए:—

"आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति, चिर-भरिता।"

इसमें जरा हमारी तुकबन्दी भी मिला लीजिए—

आत्मा है कविता के भी
जिससे कविता है कविता
कवि-कवि है, प्रकृति-प्रकृति रे,
गड़बड़, गड़-गड़ चिर भरिता।

पन्तजी जीवन को पूर्ण बनाने के लिए उसके अन्तर में प्रवेश करने की आवश्यकता बताते हैं। कहते हैं—

जीवन की लहर लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

'खेल-खेल' और 'बूड़-बूड़' में शायद ध्वनिमयता का दिग्दर्शन हो सकता होगा! 'बूड़-बूड़' या 'डूब-डूब'? दोनों का प्रयोग अशुद्ध है। अन्तस्तल में पहुँच कर थाह लेने का अर्थ दोनों में किसी से भी नहीं निकल सकता। 'नित बूड़-बूड़' से अर्थ क्या रोजमर्रा के रिहर्सल से है?

और भी बानगी देखिए—टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है:—

(१) शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चंचल-चंचल?
(२) मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल?

[आँसुओं की बूँदों के लगातार झरने से मन की बूँदें भी शायद झरती रहती हैं, और मन पिघल जाता है या गल जाता है? या दोनों हो जाता है? या पिघल करके गल जाता है? 'गलना' एक बात है 'पिघलना' दूसरी है, मगर कवि की नजर में दोनों का मिलन हो रहा है]

(३) मदिर-कोरों से कोमल जाल
बेधते मर्म बार रे बार

('बार-बार'? या 'बार रे बार?')

(४) प्राण ! तुम लघु लघु गात !
नूर्ण-कच, साँस सुगन्ध झकोर
परों में सायं प्रात
विश्व हृत शतदल निभृत निवास
अहर्निशि सांस सांस में लास
अखिल जग जीवन हास विलास
अदृश्य, अस्पृश्य, अजात !

पन्तजी में सबसे बड़ा गुण कल्पना की मूर्ति-विधायनी शक्ति बताया गया है। 'प्राण' के छोटे-छोटे शरीर भी, देखिए, पन्तजी के सम्मुख मूर्त-रूप में आ पहुँचे। 'साँस'-साँस में लास' और 'हास-विलास' का मुकाबिला कर लीजिए। भाव मिले या न मिले—भाषा ठीक हो न हो, तुक मिलायी है। 'सायं प्रात' और 'अहर्निशि' की जोड़ी देख लीजिए।

(५) आज चंचल-चंचल मन प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन भार
आज दो प्राणों का दिन मान
आज संसार नहीं संसार !

('चंचल चंचल' 'मन और प्राण', 'शिथिल शिथिल' 'संसार संसार' के अतिरिक्त 'दिन मान' और 'रात्रिमान' का हिसाब भी देख लीजिए।)

(६) हृदय फूलों में लिए उदार
नर्म-मर्मज्ञ मुग्ध मन्दार

(नर्म और मर्म का अनुप्रास और मुग्ध मन्दार की भाषा देखते ही बनती है)

(७) नवेली बेला उर की हार
मोतिया मोती की मुसकान

मोगरा कर्णफूल-सा स्फार
अंगुलियाँ मदन बान की बान

(बेला, मोतिया, मोगरा का कितना सुन्दर वर्णन है? 'मदन बान की बान' का प्रयोग क्या है? बिहारी का बानिक भी इस पर सकुचाता होगा।)

(८) चींटियों की-सी काली-पाँति
गीत मेरे चल फिर निशि-भोर
फैलते जाते हैं बहु भाँति—
बन्धु छूने अग जग के छोर!

पन्तजी के गीत चींटियों की काली पाँति की तरह रात-दिन चल फिर बहु भाँति फैलते जाते हैं। 'काली पाँति' और 'गीतों की पाँति' में क्या समता है? 'चल फिर' की जगह 'चल कर' कर दीजिए।

(६) नौका से उठतीं जल-हिलोर
हिल पड़ते नभ के ओर छोर

जब तक बड़ा तूफान न हो नाव में बैठे हुए नभ के ओर छोर किस तरह हिलते मालूम पड़ सकते हैं?

(११) जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से

भाव अच्छा है। भाव यह है कि न तो अधिक दुःख हो न अधिक सुख। दोनों बराबर बाँट दिये जायँ। मगर भाषा में यह भाव आ ही नहीं पाया। 'रे' का प्रयोग गलत है। दुःख सुख से किस तरह बँट सकता है? सुख दुख से किस तरह बँट सकता है?

नगेन्द्र जी ने लिखा है कि "पंत की भाषा हिंदी के परिपूर्ण

चरणों की वाणी है। उसमें हिंदी की समस्त शक्तियों का विकास है। शाब्दिक मितव्ययिता कवि में प्रारंभ से ही मिलती है।"

जो उदाहरण अभी देखे हैं, वे शाब्दिक मितव्ययिता के हैं या शाब्दिक अपव्ययता के, पाठक स्वयं समझ सकते हैं। 'गुंजन' ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

'गुंजन' में 'आँगन' 'रुपहले' आदि शब्दों का प्रयोग केवल संगीत के लिए किया गया प्रतीत होता है।

'रुपहले' का अनावश्यक प्रयोग देखिए :—

> रुपहले, सुनहले, आम्रबौर
> नीले, पीले, औ, ताम्र भौर
> रे गन्ध-अन्ध हो ठौर ठौर
> उड़ पाँति-पाँति में चिर-उन्मन
> करते मधु के वन में गुंजन

'आम्रबौर' को सुनहले कहने में अत्युक्ति न होगी, मगर शायद 'मलिहाबादी' सफेद आम के वृक्ष के बौर को 'रुपहला' रंगवाला कह सकते हों! दूसरा तो ऐसा वृक्ष देखा ही नहीं जिसका बौर रुपहला कहा जा सकता हो। अब 'आम्रबौर' आ गया था तो तुक मिलाने को 'ताम्र भौर' भी आना था अन्यथा काले भ्रमर से काम चल सकता था। ताँबे कैसा रंग का भौंरा कहाँ होता है?

'गन्ध-अंध', 'ठौर ठौर', 'पाँति-पाँति' 'चिर-उन्मन' का भी जादू सिर पर चढ़कर बोल रहा है। तभी तो नगेन्द्रजी ने लिखा है कि "गुंजन में कवि की मनन प्रवृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से कवि की कला संयत एवं सुख-सरल हो गयी है।"

❀ ❀ ❀ ❀

प्रो० नगेन्द्रजी ने 'अप्सरा' शीर्षक गीति-काव्य में 'लद्दूपन' का आना बतला दिया है, इसलिए उसका यहाँ जिकर करना व्यर्थ है। परंतु नगेन्द्रजी का यह कहना है कि "गुंजन में अधिकतर

छोटे-छोटे गीत हैं—कारण स्पष्ट है—मनन और चिंतन का निष्कर्ष बहुत अधिक नहीं होता।"

'नौका-विहार' शायद मनन और चिंतन का निष्कर्ष है। उस कविता को न्यायोचित बतलाते हुए समालोचकों का कहना है कि पंतजी ईश्वर की महत्ता के साथ जीवन की महत्ता भी कम नहीं मानते। कवि प्रकृति को भी सत्य मानता है, क्योंकि वह ईश्वर का ही प्रतिबिंब है।

भाषा भी ईश्वर का ही प्रतिबिंब है तभी तो 'पल्लव' में पंतजी ने लिखा है—

"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह उसकी हृत्तन्त्री की झङ्कार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।"

तभी तो प्रकृति, पुरुष, नौका, विहार, भाषा, स्वर, व्यञ्जन, सभी पंतजी को शाश्वत प्रतीत हुए; और इसी लिए प्रार्थना है कि, शाश्वतमयी कविता के इस अंश को भी देखने का कष्ट कीजिए। पंतजी 'नौकाविहार' में लिखते हैं :—

इस धारा सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम
शाश्वत नभ का नीला विकास
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग जीवन के कर्णधार
चिर जन्म मरण के आर पार
शाश्वत जीवन नौका विहार !!

भाषा में जो रेशमी मार्दव 'गुंजन' में आ गया बतलाया जाता है, यह पद्य उस रेशमी मार्दव का ही शाश्वत स्वरूप है। भगवान

करे भाषा का यह शाश्वत स्वरूप पंतजी के कर कमलों से फलता-फूलता बना रहे।

इस शाश्वत सा ही कवि का क्रम
शाश्वत इस कविता का उद्गम
शाश्वत उन्मन, शाश्वत गुंजन
शाश्वत हृत्तन्त्री का कम्पन !
शाश्वत युग, युग-भाषा हिन्दी;
हिन्दी-सिर 'शाश्वत' की बिन्दी !
'शाश्वत' शाश्वत' गुंजार दिया
भाषा का पुनरुद्धार किया !!

'निराला' का 'तुलसीदास'

पंडित सुमित्रानन्दन पन्त ने एक स्थान पर लिखा है:—"जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गला कर कोमल, करुण, सरस प्राञ्जल कर लेना पड़ता है !"

हमारे नवयुवक कवियों ने भी पन्तजी की राय को सही मान कर भाषा को हृदय के ताव में गला कर कोमल कर के उस भाषा की बड़ी चुवानी प्रारम्भ कर दी। यह भूल गये कि खाने के पहले इन बड़ियों को अग्नि और जल की सहायता से गला लेने की अत्यन्त आवश्यकता हुआ करती है। कच्ची बड़ियों को खाने में आनन्द नहीं आ सकता। आनन्द आये या नहीं इसकी परवाह नहीं। जैसे पन्तजी ने कहा वैसी ही बड़ी चुवादीं, यह कौन-सी कम बात है। 'निराला' जी के 'तुलसीदास' में ऐसी ही बड़ियों की भरमार है। कहीं से कोई छन्द उठा लीजिये कच्ची बड़ी का स्वाद मिलता चला जायगा।

जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकाल कर भारतेन्दुजी ने स्थिर किया—जिसको पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी तथा अन्य महारथियों ने परिमार्जित एवं नियंत्रित किया—निरालाजी के 'तुलसीदास' में वही खड़ी बोली फिर से पूर्व काल के अनस्थिरता-भँवर में इधर-उधर बुरी तरह भटकने लगी। आज भाषा के सम्मुख वे ही विकट प्रश्न उपस्थित हैं जो भारतेन्दुजी के पूर्व उपस्थित थे।

ग्रन्थ 'तुलसीदास' लिखने के बाद निरालाजी को शायद यह बात मालूम हुई कि ग्रन्थ की भाषा साधारण मनुष्यों की समझ

के बाहर है, इसलिए उन्होंने हर एक छन्द का अर्थ भी बतला देना उचित समझा। हिन्दी-साहित्य इस कार्य के लिए उनका चिर-कृतज्ञ रहेगा। भाव, भाषा के अनुसार है? भाषा भाव के अनुसार है? या भाव और भाषा अलग-अलग अपना-अपना राग अलाप रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर छन्द और अर्थ पढ़ कर पाठक स्वयं दे देंगे, ऐसी आशा है।

निरालाजी ने उस समय का वर्णन किया है जब भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्त हो चुका था और मुस्लिम सभ्यता का चंद्रमा उदय हो रहा था। इस पुस्तक में राहु-केतु का कोई वर्णन नहीं जो सूर्य-चन्द्र दोनों को निगल गये।

खैर, उस समय का वर्णन करते समय सहसा उनको कालिञ्जर के गढ़ की याद आ जाती है और वे कालिंजर किले के लिए लिख उठते हैं:—

"वीरों का गढ़, वह कालिंजर
सिंहों के लिए, आज पिंजर
नर हैं भीतर, बाहर किन्नर-गण गाते
पीकर ज्यों प्राणों का आसव
देखा असुरों ने दैहिक दव
बन्धन में फँस आत्मा-बान्धव दुख पाते।"

अर्थ देखिए, कहते हैं "कालिंजर का गढ़ किसी समय वीरों का दुर्ग था आज उनके लिए पिंजर—बन्दी-गृह है।" शायद उसमें 'डेटेन्यू' भर दिये गये!! पढ़ लेने पर अर्थ यह मालूम होता है कि किसी समय वीरों का गढ़ था आज सिंहों के लिए चिड़ियाघर बना दिया गया है।

अन्दर उसके 'नर' हैं—मगर बाहर उसके 'किन्नर-गण' गा रहे हैं। किन्नर गाने के लिए कहाँ से आ कूदे? निरालाजी अर्थ में यह बात साफ करते हैं:—'किन्नर' का अर्थ 'नपुंसक'। यानी

कालिंजर के बाहर "नपुंसक उत्सव मना रहे हैं, अपनी दासता पर मग्न होकर।" कितने विलक्षण अर्थ हैं ? नपुंसक कहना हो तो आयन्दा 'किन्नर' कहा करिए। सिवाय कालिंजर-गढ़ के सामने और कहीं किन्नर-गण गाते निरालाजी को नहीं मिल पाये !!

दूसरे भाग का अर्थ करते हैं—

"प्राण-शक्ति की मदिरा पीकर जैसे असुरों ने दैहिक यातना भोगी। आध्यात्मिक शक्तियाँ जैसे माया के बन्धनों में पड़ कर दुःख झेलती हैं (उसी प्रकार भारतीय-वीर इस समय यंत्रणा पा रहे हैं)।"

कितने शुद्ध अर्थ हैं ?

'बन्धन में फँस आत्मा-बान्धव दुःख पाते' कितना शुद्ध प्रयोग है ? 'आत्मा-बांधव' का अर्थ "आध्यात्मिक शक्तियाँ" हुआ। क्यों ? 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं।

'नर' और 'किन्नर' का अन्तर बता दिया गया, अब राजपूत और राजा के वेष में सूतों का अन्तर दिखाते हैं:—

"लड़-लड़ जो रणबाँकुरे, समर
हो शयित देश की पृथ्वी पर
अक्षर, निर्जर, दुर्धर्ष अमर, जग तारण
भारत के उर के राजपूत
उड़ गये आज वे देवदूत
जो रहे शेष, नृप-वेश, सूत-बन्दी-गण।"

'निर्जर' का अर्थ 'जराहीन यानी देवता' किया है। कहते हैं जो सच्चे राजपूत थे वे तो देश के लिए लड़ कर स्वर्ग चले गये, जो बचे हैं वे सूत बन्दी मात्र हैं।

'भारत के उर के राजपूत'—यानी भारत के हृदय के राजपूत तो आज देवदूत बन कर उड़ गये 'जो रहे शेष'—का क्या अर्थ है ? जब सभी उड़ गये तो शेष कौन रहा ? शायद भारत के दिमाग के (मस्तिष्क के) राजपूत शेष रहे। और जो शेष रहे वे

सूत-बंदी-गण हो गये ! शायद सूत-वन्दी-गण में मस्तिष्क अधिक अच्छा होता होगा !

आगे कहते हैं :—

"झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन, संजीवन।"

अर्थ करते हैं—"मुस्लिम सभ्यता के चन्द्र का उदय हुआ है, उसका अमृत प्रेयसी पृथ्वी के अधरों को सींचता है" (निःस्वन = चुपचाप !)

'संजीवन' का अर्थ बतलाते हैं—

"झरते अमृत के चुम्बन पृथ्वी को जीवन देते हैं। अर्थात् सब लोग भोग-विलास में लिप्त हैं।"

कितना प्रखर अर्थ है ? यदि 'संजीवन' का यह अर्थ हनूमानजी को भी ज्ञात होता तो वे भी लक्ष्मणजी को मृत्युशय्या पर पड़ा छोड़ कर इसी बात पर सोच-विचार करते !! खैर, अगर अब कहना हो कि 'भोग-विलास में लिप्त हैं' तो "ज्योतिर्मय-प्राणों के चुम्बन संजीवन" से काम चल जायगा।

व्यंजना-शक्ति, लक्षणा-शक्ति, सभी शक्तियों का शनैः-शनैः विकास हो रहा है।

आगे कहते हैं :—

"भूला दुख, अब सुख-स्वरित जाल
फैला—यह केवल कल्प—काल—
कामिनी कुमुद-कर-कलित ताल पर चलता;
प्राणों की छवि मृदु-मंद-स्पंद
लघु-गति, नियमित-पद, ललित छन्द
होगा कोई, जो निरानन्द, कर मलता।"

यह विलास-पूर्ण जीवन का चित्रण बतलाया जाता है। सब लोग दुःख भूल गये। 'सुख-स्वरित जाल' यानी सुख के स्वरों (?)

से बुना जाल फैल गया। सुख के स्वरों से जाल बुना गया था--सुख के व्यंजनों से नहीं !! लेकिन यह सुख 'केवल कल्प-काल' है। अर्थ करते हैं कि वास्तविक आनन्द से हीन है, केवल कल्पना में सुख देनेवाला है। 'कल्प' का अर्थ 'कल्पना' हुआ तो 'जल्प' का अर्थ 'जल्पना' होगा। अब बताइए 'कल्प-काल' का छन्द है या 'जल्पकाल' का ?

और सब से बड़ी बात क्या कह दी ? 'कामिनी-कुमुद-कर' 'कलित ताल पर चलता'—यानी "समय की गति सुन्दरियों के इशारे पर निर्भर है।" 'कलित ताल' का अर्थ हुआ समय की गति !

अब 'प्राणों की छवि' की भी शोभा देख लीजिए। पन्त के 'गुंजन' में "प्राण ! तुम लघु-लघु गात" देख चुके हैं। यहाँ प्राणों की छवि देखिए ! प्राणों की छवि मृदु है, मन्द है, स्पन्द है। 'स्पन्द' क्या ? कहते हैं प्राणों का स्पन्दन भी अत्यन्त मधुर और मन्द होता है। उसकी लघु गति होती है—नियमित पद है—ललित छन्द हैं। यानी "जीवन सजा-बजा, सधे ताल पर चल रहा है; मुक्त प्रवाह उसमें नहीं है।" ये अर्थ कहाँ से निकल आये ? खैर, कहीं से हों, अर्थ यही किये गये हैं। एक जगह प्राणों की छवि है तो दूसरी जगह प्राणों का स्पन्द है, यानी स्पन्दन है ! वास्तव में, भाषा की लाक्षणिक शक्तियों का स्पन्दन हो रहा है !!

ऐसे स्पन्दन में शायद ही कोई ऐसा होगा जो निरानन्द होकर कर मलता हो !! निरालाजी अर्थ करते हैं:—"शायद ही कोई ऐसे में विलास से विमुख स्वतन्त्रता की साधना में मग्न होगा।"

यह तो भूमिका का दिग्दर्शन है। अब तुलसीदासजी के जन्म पर आते हैं। उनकी जन्म-भूमि राजापुर का वर्णन सुनिए :—

"पड़ते हैं जो दिल्ली पथ पर
यमुना के तट के श्रेष्ठ नगर,
वे हैं समृद्ध की दूर—प्रसर माया में

यह एक उन्हीं में राजापुर
है पूर्ण, कुशल, व्यवसाय प्रचुर
ज्योतिश्चुम्बिनी कलश-मधु-उर छाया में।"

यमुना के तट के श्रेष्ठ नगरों में राजापुर है। कौन से यमुना-तट-नगरों में? केवल उन नगरों में जो दिल्ली पथ पर पड़ते हैं। दिल्ली-पथ का क्या मतलब? आगरा से दिल्ली के रास्ते में अथवा प्रयाग से दिल्ली-पथ पर या मथुरा से दिल्ली के रास्ते में या जमनोत्तरी से दिल्ली के रास्ते में? निरालाजी साफ नहीं बतलाते क्योंकि उनकी दुनिया बिल्कुल गोल है। जैसा वे चक्कर लगा रहे हैं आप भी चक्कर लगाइये, दिल्ली पथ पर ही पहुँच जायँगे।

'दूर प्रसर माया' का अर्थ है—दूर तक फैली हुई माया में।

"ज्योतिश्चुम्बिनी कलश-मधु-उर-छाया में"—कितना सुन्दर पद है? इसका अर्थ किया है:—

"उस छाया में छाया जो ज्योति को चूमती है, जिसके हृदय में मधु से भरे कलश हैं, यानी गुम्बददार धन-धान्य-पूरित मकानों की छाँह में राजापुर के लोग रहते हैं।"

समझिये!

कल्पना का काल यानी कल्प-काल है। अब अर्थ लगाने में भी कल्पना करनी पड़ेगी!! अर्थ समझने में भी!!

आगे तुलसीदासजी के शारीरिक गठन, उनके विद्याध्ययन का परिचय दिया जाता है। कहते हैं—

युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन
समधीत-शास्त्र काव्या-लोचन
जो तुलसीदास, वही ब्राह्मण कुल-दीपक
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मन्द-स्मित परिचय, संस्मारक

कहते हैं कि तुलसीदासजी युवकों में प्रमुख रत्न नहीं थे बल्कि प्रमुख रत्न-चेतन थे। 'रत्न-चेतन' का अर्थ बतलाया है "रत्न के समान अपनी चेतना से शोभित"!! और वे 'समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन' भी थे। अर्थात् वे ऐसे थे "जिसने शास्त्र, काव्य, और आलोचनायें पढ़ी हैं!"

वे अपने प्रकाश में भी 'नि:संशय' थे। योग्यता में नहीं, प्रतिभा में नहीं, बल्कि प्रकाश में नि:संशय थे। क्यों प्रकाश में नि:संशय थे? केवल इसलिये कि प्रतिभा की मन्द मुस्कान लिए हुए परिचय उनके पास था, और 'संस्मारक' क्या? शायद वह स्मारक बना रहे होंगे!!

निरालाजी अर्थ करते हैं "प्रतिभा का सुचारु परिचय देनेवाला और उसे दूसरों के लिए स्मरण करने के योग्य बनाने वाला है!!" समझ में आता हो तो समझ लीजिए। यह क्लिष्ट भाषा और 'क्लिष्ट' अर्थ!!!

सरल भाषा

पन्तजी ने 'पल्लव' में 'स' का बहुत प्रयोग किया। 'गुंजन' में 'रे' को अपनाया। 'ग्राम्या' में 'गा' का प्रयोग किया और सरल से सरल भाषा लिखी है।

निरालाजी ने इसी पद्धति को सही मान कर एक ही पुस्तक 'तुलसीदास' में सातों स्वर 'सा रे गा मा पा धा नि' का प्रयोग कर दिया है। इसी में 'ग्राम्या' जैसी सरल भाषा भी मिल जायगी। एक-दो बानगी तो देखिए! तुलसीदास की स्त्री रत्नावली को तुलसीदास के साले लेने आये। शायद निरालाजी के 'तुलसीदास' उनको अपने श्वसुरालय न भेजते होंगे। भाई अपनी बहन से कहता है:—

"हो गयी रतन, कितनी दुर्बल,
चिंता में बहन, गयी तू गल?

माँ, बापूजी, भाभियाँ सकल पड़ोस की,
हैं विकल देखने को मत्वर;
सहेलियाँ सब ताने देकर,
कहती हैं, बेचा वर के कर, आ न सकी !"

सारे पड़ोस की लाखों भाभियाँ चाभियाँ हिलाती-हिलाती व्याकुल हो रही हैं !! भाभियाँ ताने नहीं दे रहीं। रत्नावली की सहेलियाँ रत्नावली के भाई को ताने दे रही हैं कि अरे कमबख्त, तूने अपनी बहन को 'वर के कर' बेच डाला। अगर तेरे बाप का कसूर होता तो हम खामोश रहतीं !! और सुनिए:—

"तुझ से पीछे भेजी जाकर
आयीं वे कई बार नैहर
पर तुझे भेजते क्यों श्रीवर जी डरते ?
हम कई बार आ-आकर घर
लौटे पाकर झूठे उत्तर
क्यों बहन, नहीं तू सम, उन पर बल करते"

'नहीं तू सम, उन पर बल करते' समझने योग्य है। आपने अर्थ किया है "उन पर बल दिखाते हुए क्या तू उनकी बराबरी नहीं हो सकती ?"

यह प्रगतिवाद की कविता है !! भाई बहन से कहता है "क्या श्रीवरजी का हाथ मरोड़ कर पीठ में दो घूँसे तू नहीं लगा सकती ? स्त्री-पुरुष बराबर हैं फिर क्या श्रीवरजी का सिर फोड़ उनको समता का नया पाठ नहीं पढ़ा सकती ?" और भी घर का सम्वाद सुनिए:—

"आँसुओं भरी माँ दुख के स्वर
बोली रतन से कहो जाकर
क्या नहीं मोह कुछ माता पर अब तुमको ?

जामाताजी वाली ममता
माँ से तो पानी उत्तमता
बोले बापू, योगी रमता मैं अब तो"

निरालाजी ने अर्थ किया है कि "माँ खुद जामाताजी वाली ममता को बढ़ा देती हैं। लड़की को पति का प्यार सिखा देती हैं—उलाहने के रूप में कहा गया।"

यह बतलाने की कृपा नहीं की कि यह उलाहना किसने किसको दिया! भाई ने बहन को? या पुत्र ने माता को?

पन्त ने लिखा था—

"सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम"

निरालाजी लिख सकते थे।

उत्तम से नित उत्तमतर
उत्तमतर से उत्तमतम"

मगर आपने "उत्तमतम" न लिख कर इसी तर्ज पर 'उत्तमता' लिखा है। इसी 'उत्तमता' से घबड़ाकर शायद बापूजी 'योगी रमने' के लिए किसी आश्रम में प्रस्थान करने को उद्यत हो गये होंगे!!

और भी सुनिए, भाईजी कहते चले जाते हैं:—

"हम, बिना तुम्हारे आये घर,
गाँव की दृष्टि से गये उतर
क्यों बहन, ब्याह हो जाने पर, घर पहला
केवल कहने को है नैहर?
दे सकता नहीं स्नेह आदर?
पूजे पद, हम इसलिए अपर? उर दहला"

कहते हैं कि हमने पैर पूजे हैं इसीलिए हम 'अपर', दूसरे हो गये? 'उर दहला' सांकेतिक शब्द है—जैमिनिसूत्र की बानगी है!! अर्थ करते हैं कि इतना सुनना था कि "रत्नावली का हृदय काँप उठा"।

सरल भाषा के कितने सुन्दर उदाहरण हैं ? इसी कविता को लक्ष्य करके तो पन्तजी ने लिखा था—

'मतलब ही है इनका मन
निरालापन है आभूषन'

सांकेतिक शब्द योजना

'तुलसीदास' सांकेतिक शब्दों से भरा पड़ा है। ऐरावती भाषा की कल्पना अगर पन्त के 'गुंजन' में की ही जा सकती है तो निराला के 'तुलसीदास' में वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। एक-दो उदाहरण देखिए:—

तुलसीदासजी को स्त्री के अपने भाई के साथ चले जाने पर उनको चैन नहीं मिलती। वह भी दो एक दिन बाद ससुराल पहुँचते हैं, उसका वर्णन सुनिए—

"सुनते सुख की वंशी के सुर
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर
लख सादर, उठी समाज श्वसुर-परिजन की
बैठाला देकर मान-पान
कुछ जन बतलाये कान-कान
सुन बोली भाभी यह पहचान रतन की"

पढ़ लेने पर ज्ञात यह होता है कि भगवान् कृष्ण कोई वंशी बजा रहे थे, उसकी भनक तुलसीदासजी के कानों में पड़ी। परन्तु निरालाजी अर्थ करते हैं 'सुख की वंशी' का अर्थ है 'प्रकृति के मोहक स्वर'। 'वंशी' अब 'प्रकृति' का पर्य्यायवाची शब्द समझा जायगा !!

'रत्नधर' का अर्थ है, 'रत्नावली के पति और रत्न को धारण करने वाले'।

'रमा के पुर' का अर्थ है "लक्ष्मी, अपनी स्त्री के गाँव।" इस

तरह से प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी ससुराल को 'रमा का पुर' कह सकता है।

'कुछ जन बतलाए कान-कान'—यानी कुछ मनुष्य 'मान-पान' के समय 'कान-कान' बतलाने लगे। मुँह से नहीं—शायद कान से बात करने लगे !!

परन्तु निरालाजी ने अर्थ किये हैं कि "कुछ लोगों ने काना-फूसी की कि इतनी जल्दी कैसे आ गये"।

यह कानाफूसी सुनकर 'भाभी' ने कहा यह रतन की पहचान है। किसकी भाभी ? तुलसीदासजी की या रत्नावली की ? आप अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं दे दीजिए। निरालाजी अर्थ करते हैं कि भाभी ने कानाफूसी सुनकर कहा कि इतनी जल्दी आना तुलसीदास का अपनी पत्नी के प्रति प्रेम सूचित करता है।

रत्नावलीजी को इस बात पर गर्व होना चाहिए था, मगर वह भाभी के इन वचनों को व्यंग्य समझी। अंगों में आग लग गयी, चंचल नेत्रों में अग्नि जल उठी:—

"जल गये व्यंग्य से सकल अङ्ग
चमकी चल दृग ज्वाला तरंग
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला
पति की इस मति-गति से मरकर
उर की उर में, ज्यों तापत्तर
रह गयी सुरभि की म्लान—अधर वर माला"

'पति की इस मति-गति से मरकर' कितना अजीब प्रयोग है !

यह सब सांकेतिक शब्द-योजना है। 'तापत्तर' का अर्थ है आन्तरिक ताप से पीड़ित; 'पापत्तर' का अर्थ होगा आन्तरिक पाप से पीड़ित; और अगर इंजन खराब हो जाय तो आप कह सकेंगे 'भापत्तर' अर्थात् आन्तरिक भाप से पीड़ित !! शब्द-योजना कितनी अच्छी ? और फिर—

'रह गयी सुरभि की म्लान-अधर वरमाला'

अर्थ करते हैं "मुरझायी दलों की खुशबूवाली वरमाला के समान रत्नावली रह गयी"

'अधर' का क्या अर्थ है? और अप्रसंग क्या? रत्नावली बाला कैसे बन गयी? और अप्रसंग किस तरह हो गयी? जवाब नदारद है! इसके आगे रत्नावली के चित्त की दशा का वर्णन है :—

"बोली मन में होकर अक्षम,
रक्खो मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का;
खींचता छोर, यह कौन और
बैठा उनमें जो अधम चोर?
खुलता अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का!"

'अक्षम' और 'अक्लम' व्यर्थ के शब्द ठूँसे गये हैं। 'अक्षम' का अर्थ असमर्थ और 'अक्लम' का अर्थ न थकने वाले किया गया है। अब 'कल्प काल' का नया नमूना देखिए!! अर्थों में बतलाया गया है कि रत्नावली मन में कहती है कि 'हे नाथ, पुर की लज्जा रूपिणी साड़ी का अंचल खुल रहा है।' 'पौर साड़ी' कितने अधिक सांकेतिक शब्द निकले!!

'खींचता छोर यह कौन और
बैठा उनमें जो अधम चोर'

एक नयी समस्या उत्पन्न कर देता है। निरालाजी कहते हैं कि रत्नावली कहती है कि तुलसीदास के मन में कौन चोर बैठा हुआ उसके वस्त्र को खींच रहा है? निरालाजी टीका-टिप्पणी करते हैं "मोह का चोर दुःशासन है, रत्नावली द्रौपदी है जिसका चीर खींचा जा रहा है"

ऐसे कहिए तो बेहतर होगा कि "छायावाद का कवि दुःशासन है; भाषा द्रौपदी है जिसका चीर खिंचता चला जा रहा है!!"

"कुछ काल रहा यों स्तब्ध पवन
ज्यों आँधी के उठने का क्षण
प्रिय श्रीवरजी को जिवाँ शयन करने को
ले चली साथ भावज हरती
निज प्रियालाप से वश करती
वह मधु-शीकर निर्झर झरती झरने को"

अर्थ करते हैं—'आँधी उठने के पहले जो क्षणिक निस्तब्धता रहती है, वही इस घर में व्यापी थी'। मगर आँधी आयी नहीं! या श्रीवरजी का जीमना ही आँधी सदृश हुआ!! और 'निर्झर झरती झरने' का 'मधुशीकर' कितना सुन्दर हुआ? प्रकृति पर्यवेक्षण है या नेचर निरीक्षण? या केवल "भाभी के वश में हुआ झरने का निरीक्षण?

बाद में तुलसीदास को डाट पड़ती है। रत्नावली कहती है:—

"धिक! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म धूत।
राम के नहीं काम के सूत कहलाए।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़ चाम।
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये।"

'अनाहूत' का अर्थ है "विना बुलाए हुए"। 'धूत' को आप 'धूर्त' भी पढ़ सकते हैं मगर अर्थ है 'पवित्र'!! 'विराम' क्या? कौमा, सैमीकोलन या और कुछ? अर्थों में केवल यही लिखा है "नारी के चरणों पर जीवन निछावर करने के लिए तुलसीदासजी आये, शिक्षा का यह परिणाम उसे अच्छा नहीं लगा।" नारी के चरण भविष्य में कौमा, सैमीकोलन, कोलन सरीखे विराम-चिह्न समझे जायँगे!!

तुलसीदासजी की जगह अगर महाकवि 'चचा' होते तो स्त्री की डाट डपट सुनते ही कह गुजरते:—

"बहुत विलम्ब लगाया तूने
बहुत बताया बुत्ता
मैं हूँ तेरा पति परमेश्वर
नहीं पालतू कुत्ता"

मगर तुलसीदासजी ने ऐसा नहीं कहा! उनको ज्ञान उमड़ पड़ा। उनके हृदय में जड़ और चेतन का भयानक संग्राम शुरू हो गया। उनके हृदय में इतना भयंकर संग्राम हुआ हो या नहीं, कहा नहीं जा सकता मगर निरालाजी के छन्दों में इतना अधिक भयानक संग्राम शुरू हो गया कि चेतन शब्द भी जड़ प्रतीत होते हैं। यहाँ उन छन्दों को उद्धृत करना व्यर्थ समय नष्ट करना होगा। आप कच्ची बड़ी खाते-खाते थक जायँगे मगर निरालाजी कच्ची बड़ी चुवाते-चुवाते नहीं थकेंगे। जो सज्जन फिर भी देखना चाहें वह पढ़ने का कष्ट उठावें। शेष छन्दों में उनको और भी विहंगम दृश्य दिखलायी पड़ेगा। न शब्द समझ में आवेंगे और न अर्थ! मूल से भाषा कठिन प्रतीत होगी!! तभी तो राय कृष्णदासजी ने भूमिका में लिखा है:—

"कवि का क्षेत्र नवीन है। रहस्यवाद का कथा रूप में उसने एक नया चित्र खींचा है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण उसका ध्येय है। अतः, उसे अपनी भाषा बहुत कुछ गढ़नी पड़ी है"। आगे लिखा है:—

"निरालाजी अपनी कविता में ओजगुण के लिए प्रसिद्ध हैं। उसका यहाँ पूर्ण विकास हुआ है। भाषा के साथ छंद का ओज देखते ही बन पड़ता है।"

जैसा हमने ऊपर दिखाया है छंद में अलग ओज है, भाषा में अलग, और अर्थ में अलग ही ओज है। फिर 'तुलसीदास' की 'ओजबाजी' क्यों न प्रसिद्ध हो? हमारी राय में छंदों में 'ओजबाजी' फूट-फूट कर निकल पड़ी है, और वह देखते ही बन पड़ती है!!

जो कुछ भी हो, निराला का 'तुलसीदास' हिंदी-भाषा में एक नयी चीज है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है !!

प्रतिक्रिया अथवा दासता ?

छायावाद में रहस्य-प्रवृत्ति का प्राधान्य बताया गया है। अद्भुत और रहस्य उसके आधार-भूत-तत्व बताये गये हैं।

प्रो० नगेन्द्र ने लिखा है और बहुत से हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने इस मत का समर्थन किया है कि द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि उनका निकटवर्ती पार्थिव संसार रह गया था। अत: स्वभावत: ही उनका विरोध करनेवाले कवि दूर, धुँधले एवं रहस्यमय लोक की ओर बढ़ने लगे।

अन्य ग्रन्थकारों तथा लेखकों ने लिखा है कि कवि-समाज का ही प्रतिनिधि है और इस समय के समाज में राजनीतिक तथा आर्थिक निराशा फैली हुई है। इसी का प्रतिबिंब साहित्य में छायावाद के रूप में दृष्टिगोचर हुआ है।

हमारी राय में दोनों मत सत्य से दूर हैं। छायावादी कवि यदि समाज का प्रतिनिधि होता तो उसकी कविता समाज के शिक्षित पुरुष समझने में समर्थ होते, परन्तु बात यह है कि एक प्रतिशत शिक्षित मनुष्य भी आज इस कविता को समझने में असमर्थ हैं।

द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि पार्थिव संसार हो गया था इसमें सन्देह नहीं; परन्तु यह बात न भूल जाना चाहिए कि इसका कारण अत्यन्त विलास-प्रिय शृंगार-रस की कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही थी।

द्विवेदीकालीन कवियों का प्रयत्न हिन्दी-साहित्य को उस गर्त से बचाने का था जहाँ पर अत्यन्त शृङ्गारमयी कविता किसी भी साहित्य को ले डूबने की सामर्थ्य रखती है। इसीलिए वे पार्थिव

संसार की तरफ मुड़े थे। हिन्दी-साहित्य उनके समय में वास्तविकता (Realism) की ओर प्रवृत्त हुआ था। हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्ति अगर उसी तरफ यानी यथार्थवाद की तरफ रहती तो साहित्य के साथ-साथ देश की भौतिक उन्नति भी हो सकती थी। उन द्विवेदी कालीन कवियों को यह पता न था कि शृङ्गार के विरुद्ध प्रतिक्रिया का यह फल भी हो सकता है कि शृङ्गार-रस के साहित्य के साथ-साथ भाषा का शृङ्गार भी हाथ से चला जायगा और मतिराम, घनानन्द, रसखान, मीरा, सूर, हरिश्चन्द्र की लावण्यमयी कविता के स्थान में हिन्दी-साहित्य में ऊबड़-खाबड़, नीरस और शुष्क छायावादी कविता ही दृष्टि गोचर होगी।

प्रतिक्रिया की इतनी जल्दी प्रतिक्रिया का होना असम्भव है। न छायावाद प्रतिक्रिया के रूप में ही आया है। जिस रहस्यवाद का नाम लिया जा रहा है वह रहस्यवाद हमारे यहाँ—हिन्दी-साहित्य में—सैंकड़ों वर्षों से विद्यमान है। वह कोई नयी वस्तु नहीं है। वह महाशृङ्गारी कवियों की कविता में—देव और बिहारी में—भी कई स्थलों पर मिल जायगा। कबीर, दादू, सुन्दर, भूधर इत्यादि ने तो सिवाय रहस्यवाद के और कोई विषय अपनाया ही नहीं।

मगर वर्तमान छायावाद एक नयी वस्तु केवल इसलिए है कि वह पाश्चात्य और मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य के 'रोमांटिक' युग की कविता पर निर्भर है। इसमें साहित्यिक प्रतिक्रिया की बू नहीं है, बल्कि साहित्यिक दासता की ऐसी छाप लगी हुई है जो दूर से ही दिखाई पड़ती है। हमारा जीवन आज अधिकतर अंग्रेजी प्रभावों से निर्मित है। ऐसी परिस्थिति में अगर हमारे नवयुवक कवि, वर्डस्वर्थ, शैली और कीटस् से प्रभावित हुए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दुःख केवल इस बात का है कि अंग्रेजी साहित्य के 'रोमांटिक' युग के कवियों का हमारे कवियों ने कोई विशेष अध्ययन नहीं किया है। उनकी फिलॉसफी, उनका दर्शन हमारे कवियों ने

समझने का प्रयत्न तक नहीं किया। केवल नकल की है। और जैसा नकल का नियम है ऊपर की थोथी बातें हम लेते रहे, वास्तविक गुण नहीं ले पाये। वास्तविक गुण, पाश्चात्य काव्य की भावुकता, पाश्चात्य दार्शनिकता और दोनों का सुन्दर समन्वय तब तक समझ में ही नहीं आ सकता जब तक कि उस वातावरण में हमारा पालन-पोषण नहीं हुआ हो जिसमें अंग्रेजी कवियों ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी। उनके भावों का असली आशय समझ में आना कठिन है और उनके भावों को बिना अच्छी तरह समझे, अपनी भाषा में ढालना और भी कठिन है। बिना भाव अच्छी तरह समझे जब हम उन भावों को अपनी भाषा में लिखने का प्रयत्न करने लगते हैं तो हमारी भाषा क्लिष्ट हो जाती है। प्रसाद गुण जो कविता के लिए आवश्यक है, लुप्त हो जाता है। परिणाम यह हुआ है कि न तो वह कविता हमीं समझ सकते हैं न दूसरे ही समझ सकते हैं। अगर कोई भाव हमारी समझ में आ चुके हैं तो हम दूसरों को भी सुगमता से समझा सकते हैं। अगर उन भावों से हमारा समस्त अन्तर्बाह्य एक साथ झंकृत हो चुका है तो हमारी कविता में भी एक ऐसी तल्लीनता आ जायगी जो दूसरों को भी आनन्दित कर सकेगी।

स्वामी रामतीर्थ को शैली और कीट्स की नकल करने की आवश्यकता नहीं थी। उनको पाश्चात्य 'रोमांटिक' युग के कवियों के भावों को अपनी भाषा में ढालने की जरूरत नहीं थी। अणु-अणु में उनको परमात्मा का आभास दिखाई पड़ता था, आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रहा था। हर वस्तु में अपनी ही रंगत, अपनी ही शान, अपनी ही बू मालूम पड़ती थी।

उन्होंने पाश्चात्य भावों को अपनी भाषा में ढालने का प्रयत्न नहीं किया। न ऐसे भाव ही कविता में लाने का प्रयत्न किया जो वे स्वयं न समझे हों।

छायावाद में और प्रगतिवाद में वर्तमान समय में ऐसे पाश्चात्य

या विदेशी भावों से कविता सुन्दरी को सजाने का प्रयत्न किया जा रहा है जो कवि महोदय स्वयं ही नहीं समझते। नतीजा यह हुआ कि दिन-दिन भाषा की दुर्दशा होती चली जा रही है। भाव भले ही अच्छा हो मगर जब तक भाव अच्छी तरह समझ में न आवे सुगम भाषा में लिखा नहीं जा सकता। इसीलिए ऐसी अशुद्ध और उदंड भाषा प्रयुक्त की गई है कि भाव उसी तरह दब गया है जिस तरह घूँघट (अवगुण्ठन) के कारण किसी सुन्दरी का चन्द्रमुख दबा रहता है। इस "अवगुंठन युग" का एकमात्र कारण साहित्यिक दासता है और इसको जितनी जल्दी समाप्त कर दिया जाय उतना साहित्य और भाषा के लिए अच्छा होगा। इन्हीं कवियों की कविता में जहाँ-जहाँ भारतीय सिद्धान्त की छाप है वहीं भाषा भी सरस और प्राञ्जल हो गयी है।

श्री महादेवी वर्मा की 'यामा'

हमने ऊपर लिखा है, छायावाद की भाषा बिना समझे हुए बौद्धिक निरूपणों से अत्यन्त बोझिल हो गई है। साहित्यिक दासता के कारण बहुत से कवि रहस्यवाद में घुल-मिल नहीं सके। वे उसकी बाह्य रूप-रेखा तक ही सीमित रहे। नवीन शब्दावली, नवीन छन्द, नवीन संगीत-ध्वनि को ही उन्होंने रहस्यवाद की विशेषता मान ली। सचाई के साथ उसमें प्राण न फूँक सकने के कारण उनकी कविता काव्य क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं पा सकी। हमारी भाषा इस शैली के कारण उत्तरोत्तर विकृत होने लगी।

परन्तु जहाँ पङ्क होगा वहाँ कमल भी उत्पन्न होगा ही। अगर छायावाद की पंकिलता में कुछ कमल भी खिले हों तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है!

छायावाद की लहर न उठती तो हिन्दी-साहित्य पन्तजी के कितने ही सुन्दर सरस गीतों से वंचित ही रहता। 'प्रथम रश्मि' की ऊँची कल्पना और सु-मधुर संगीत हिन्दी-साहित्य की विभूति कैसे बन पाता। 'बाल विहङ्गिनि' से यह कौन कह सकता था:—

"तूने ही पहिले बहुदर्शिनि गाया जागृति का गाना
श्रीसुख सौरभ का नभचारिणि गूँथ दिया ताना-बाना।
निराकार तम मानो सहसा ज्योति-पुञ्ज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धर कर नाम रूप नाना।

\+ \+ \+ \+

"प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि
तू ने कैसे पहिचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहङ्गिनि
पाया यह स्वर्गिक गाना?"

अगर छायावाद और रहस्यवाद का प्रभाव न होता तो 'बच्चनजी' अपने 'आत्म-परिचय' में किस तरह कह देते:—

"मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिन को छू कर
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ
+ + + +
मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूँ
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूँ
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर
मैं, हाय, किसी की याद लिये फिरता हूँ

कौन कहेगा कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में ऐसे छन्दों और गीति-काव्य के द्वारा जो नवीन क्षेत्र निकला है वह बिलकुल ही उपेक्षा के योग्य है? कौन कहेगा कि सूक्ष्म की रहस्यानुभूति पर आश्रित 'कामायनी' का साहित्य में कोई मूल्य ही नहीं है? कौन कहेगा कि 'मंगल-घट' में 'क्षार पारावार' 'नक्षत्र निपात' 'पुष्पांजलि' 'झंकार' 'कीर' 'चयन' 'संलाप' और 'निर्झर' छायावाद से प्रभावित नहीं हुए? कौन कहेगा कि रहस्यवाद के रंग में रंगी हुई 'निराला' की निम्न-लिखित स्वर-झंकार में माधुर्य का अभाव है?

जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर-स्वर-झङ्कार।
बहु सुमन, बहु रङ्ग, निर्मित, एक सुन्दर हार;
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
गन्ध-शत अरविन्द नन्दन, विश्व-वन्दन-सार,
अखिल-उर-रञ्जन निरञ्जन एक अनिल उदार।
सतत सत्य अनादि निर्मल सकल सुख विस्तार,
अयुत अधरों में सुसिंचित एक किंचित् प्यार।

तत्व-नभ तम में सकल-भ्रम-शेष श्रम निस्तार,
अलक-मण्डल में यथा मुख चन्द्र निरलङ्कार।
जग का एक देखा तार !!

परन्तु ये सब नियम के अपवाद जैसे यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं। अधिकतर आधुनिक कवियों ने स्वप्निल भावनाओं को कहीं न कहीं टाँगने के लिए छायावाद को केवल खूँटी समझा है। सुतराँ उन कविताओं में भाव और भाषा का समन्वय भी नहीं हो सका।

छायावाद की शुष्कता को स्निग्ध बनाने का कार्य अत्यन्त कठिन था परन्तु उस कठिन कार्य को महादेवीजी सरीखी कवयित्री ने अत्यन्त सुगम कर दिया।

नवीन शब्दों की सहायता से, पुराने रहस्यवाद में नवीन जीवन डाल कर, अपनी सूक्ष्म-तम भावनाओं को प्रगट करने के लिए, कोमल-तम शब्द चयन करके, रंगीन और अत्यन्त रोचक कल्पनाओं के द्वारा मनुष्य के हृदय को सन्तुष्ट करने का उनका प्रयत्न निःसन्देह प्रशंसनीय है।

'यामा' की भाषा एक सजीव भाषा है। उसने छायावाद की कठोरता, कर्कशता और विषमता को एक ऐसी स्निग्धता से ढँक दिया है जिसकी प्रशंसा बरबस करनी पड़ती है। जहाँ दूसरे छायावादी कवियों की कविताएँ विरली ही हृदयग्राही होती हैं, वहाँ 'यामा' में अनेकानेक स्थल ऐसे हैं जिनकी भाषा इतनी कोमल और इतनी सुन्दर है कि भाव तुरन्त ही समझ में आ जाता है और कविता पढ़ते ही हृदय में बैठ जाती है।

कविता कौन सी अच्छी होती है और कौन सी बुरी, इस विषय में अनेकानेक वाद-विवाद हो चुके हैं। परन्तु सर्व सम्मति यही रही है कि जिसमें प्रसाद गुण अत्यधिक हो वही कविता सब से सुन्दर मानी जानी चाहिए। मौलाना हसरत मोहानी ने एक जगह लिखा है:—

"शेर दर असल है वही 'हसरत'
सुनते ही दिल में जो उतर जाये।"

वास्तव में जो काव्य सुनते ही हृदय के दूर के कोने तक तुरन्त नहीं पहुँच जाता वह काव्य कहलाने योग्य नहीं। जहाँ तक छायावाद की कविताओं का सम्बन्ध है 'यामा' में कल्पना के सूक्ष्म रंग, भावना की मर्मस्पर्शिता और संवेदना की गहराई का बड़ा सुन्दर समन्वय है। वेदना की गहरी रेखाओं की विविधता, एवं करुणा के अतल गाम्भीर्य के साथ-साथ हृदय की विह्वल प्रसन्नता का एक अजीब दृश्य है जो देखते ही बनता है। राय कृष्णदासजी के शब्दों में "यदि यह अश्रुमुखी वेदना के कणों से भीगी हुई है तो साथ ही आत्मानन्द के मधु से मधुर भी है।" इसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। इस वेदनामयी कविता के दो उदाहरण देने अनुचित न होंगे।

(१)

अपने इस सूनेपन की
मैं रानी हूँ मतवाली
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली!
मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में!!

(२).

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा!

वास्तव में, आदर्श-सौन्दर्य के एक निरपेक्ष आकार हैं सच्चिदानन्द परमात्मा। प्रकृति में उन्हीं परमात्मा का सौन्दर्य परिस्फुट है। सारी विश्व-प्रकृति उस अदृश्य परमात्मा के सीमा-हीन आनन्द का प्रतीक है। 'प्रतीकता' के कारण सीमा के भीतर असीम की व्यंजना आती है। कवि सर्वदा उसी की ओर इङ्गित करता रहता है। विश्व के समग्र सौन्दर्य और माधुर्य के अन्तस्तल में पहुँच कर कवि अपना संयोग स्थापित कर लेता है और इसी प्रकार उसके साथ विश्व-कवि का अविराम संयोग होता रहता है, क्योंकि प्रकृति के मुग्धकारी चित्रों द्वारा परमात्मा की असीम ज्योति जीवात्मा के असीम अन्तःकरण में समाहृत होती है। अपने जीवन को अनन्त में विलीन करने की उसकी इच्छा होती है और जब परमात्मा की आभा उसे दिखलायी पड़ती है तो उसके सामने आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता:—

'जीवन में खोज तुम्हारी है
मिटना ही तुमको छू पाना!'

इन शब्दों में इस बात का कितना अच्छा संकेत है!! वास्तव में, वेदना और आनन्द की सीमा मिली हुई है:—

"चिर ध्येय यही जलने का
ठंडी विभूति बन जाना
है पीड़ा की सीमा यह
दुःख का चिर सुख हो जाना।"

सृष्टि के अन्तर्निहित एकत्व की उपलब्धि के लिए आत्मा को व्यक्तिगत जीवन से विश्व-जीवन में प्रसारित कर देने में ही सच्चा

आनन्द मिल पाता है। आत्मा के वियोग-जन्य दुःख का अन्त तभी होता है जब आत्मा और परमात्मा—व्यक्ति जीवन और विश्व-जीवन—ओत-प्रोत रूप में मिल जाते हैं। और तभी सच्चे आनन्द की अनुभूति होती है।

बूँद का असली ध्येय नदी में मिल कर अपने को नष्ट कर देना ही है !! मिर्जा गालिब का कितना बढ़िया शेर है—

इशरते क़तरा है, दरिया में फ़ना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना !!

संसार में सुख, दुःख, दवा और दर्द एक दूसरे से इतने अधिक मिले हैं कि यह पता नहीं चलता कि उनकी सीमा का कहाँ अन्त होता है ? और जहाँ एक की सीमा (हद) समाप्त होती है दूसरे की सीमा वहीं प्रारम्भ भी हो जाती है। हद से ज्यादा दर्द ही दवा बन जाता है। बूँद (कतरा) को आनन्द ही तभी आता है जब वह नदी या समुद्र में अपने को नष्ट कर देता है।

रंज से ख़ूगर हुआ इंसां
तो मिट जाता है रंज
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी
कि आसाँ हो गयीं

रंज बहुत ही ज्यादा जब हो जाता है तब रंज भी मिट जाता है। स्वामी रामतीर्थ के शब्द कितने मर्मस्पर्शी हैं:—

"सब्र कर, ए दिल सितम, उसके उठा
'उफ़' अगर निकली ग़ज़ब हो जायगा
रंज की जब इन्तहा हो जायगी
चैन का आग़ाज तब हो जायगा।"

स्वर्गीय आनन्द तभी आता है जब आत्मैक्य बोध होता है। जब अपना ही रूप सभी जगह ज्ञात होता है—और, जब बूँद और सागर में भी कोई भेद नहीं रह जाता। जिगर साहब कहते हैं—

"जब देख न सकते थे तो
दरिया भी था क़तरा
जब आँख खुली क़तरा भी
दरिया नज़र आया।"

तभी तो महादेवीजी ने लिखा है:—

"बिखर कर कन-कन के लघु-प्राण
गुनगुनाते रहते यह तान,
अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।"

अमरता जीवन का ह्रास है या नहीं, मृत्यु जीवन का चरम विकास है या नहीं—जहाँ तक आत्मैक्य-बोध से सम्बन्ध है इसमें दो मत नहीं हो सकते। 'रत्नाकरजी' के 'उद्धव शतक' में जब उद्धव ने गोपियों को यही उपदेश दिया कि 'आत्मा को परमात्मा में लीन करो तभी तो आनन्द की प्राप्ति होगी', तो गोपियों ने इस आदेश को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि एक बूँद के सागर में, गिर पड़ने से सागर की 'सागरता' में घटा-बढ़ी तो क्या होगी? मगर एक बूँद की 'बूँदता' व्यर्थ में नष्ट हो जायगी। रत्नाकरजी का यह विचार हमारे साहित्य में नितान्त मौलिक है—

"कान्ह दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप,
धारे पन फेरन कौं मति ब्रजबारी की।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीति रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की।
मान्यौ हम कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यौ जो तुम,
तौ हू हमैं भावत न भावना अन्यारी की।
बिगरि न जैहै कछु बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

क्या अच्छा हो अगर बूँद अलग भी रहे और सागर से

मिलती भी रहे !! बूँद की 'बूँदता' भी बनी रहे और उसका अन्तिम ध्येय सागर के पास पहुँचना भी सफल हो जाय !! क्या यह संभव भी है ? महादेवीजी का ध्येय यही है । इसी में वास्तविक आनंद है !!

"चिर मिलन-विरह-पुलिनों की,
सरिता हो मेरा जीवन !
प्रति-पल होता रहता हो,
युग कूलों का आलिङ्गन !
इस अचल क्षितिज-रेखा से,
तुम रहो निकट जीवन के !
पर तुम्हें पकड़ पाने के,
सारे प्रयत्न हों फीके !!"

दिवस रजनी का मिलन संध्या समय ही होता है। महादेवीजी कहती हैं कि उनका जीवन वास्तव में सांध्य-गगन-सा ही है।

प्रिय ! सांध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण—अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीत राग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !
साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन
संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन !
लाता भर श्वासों का समीर
जगसे स्मृतियों का गन्ध धीर
सुरभित हैं जीवन—मृत्यु—तीर
रोमों में पुलकित कैरव—वन !

अब आदि—अन्त दोनों मिलते
रजनी-दिन-परिणय से खिलते
आँसू मिस हिम के कण ढुलते
ध्रुव आज बना स्मृति का चल-क्षण !

ऐसे सांध्य-गगन जीवन में सुख-दुःख दोनों एक समान हो गये हैं !

दुख में जाग उठा अपनेपन का सोता संसार
सुख में सोई री प्रिय सुधि-सी अस्फुट सी झङ्कार
हो गये सुख-दुःख एक समान !!

दुःख भरे—सागर में उत्ताल तरंगों के बीच में भी प्रिय की अस्फुट-सी झङ्कार जब कभी आ जाती है तो हृदय को आनन्दित कर देती है। विरह की पीड़ा भी मधुर ज्ञात होती है; उसको सहन करने की शक्ति दे देती है। इसी लिए इस वियोग-वह्नि में भी मनुष्य जलते रहने पर भी जीवित रहता है:—

इन उत्ताल तरङ्गों पर,
सह झञ्झा के आघात
जलना ही रहस्य है, बुझना
है नैसर्गिक बात !

हवा के झोंकों के बीच में बुझ जाना स्वाभाविक बात है, जलता रहना अस्वाभाविक रहस्यमय है ! इसी विचार को एक उर्दू शायर ने दूसरी तर्ज में मगर अच्छे ढंग से प्रकट किया है। वह कहता है—श्वास प्रतिश्वास से (साँस के आने जाने से ही) दिल का दाग जल रहा है। देखो तो हवा में चिराग जल रहा है !

"नफ़स् की आमदो शुद्
दिल का दाग़ जलता है
खुदा की शान हवा में
चिराग़ जलता है !"

महादेवीजी की 'यामा' से ये उद्धरण देने का तात्पर्य केवल यह है कि 'यामा' की भाषा ऐसी नहीं है जो समझ में न आवे। भाव भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें समझने में बुद्धि को बहुत दौड़-धूप करनी पड़े। जन्म, मृत्यु, मिलन विच्छेद, मानव के सदा से सहचर बने हैं।

भारतीय दर्शन "वसुधैव कुटुम्बकम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अहम् ब्रह्मोऽस्मि" के सिद्धांत का सदा से ही प्रतिपादन करता आता है। हमारे यहाँ प्रकृति परमात्मा की सदा से ही बाल रूप मानी गयी है। प्रकृति इसी लिए कविता का प्रधान विषय बनी रही है। कवियों ने लता-पादपों के अंतर की वेदनाओं का अनुभव किया है। क्षुद्र बालुका-कण में असीम विश्व के दर्शन किये हैं। मेघ को दूत बनाकर नायक की प्रियतमा के पास ऐसे संदेश भिजवाये हैं जो संसार के साहित्य में अमूल्य हैं। वृक्षों के प्रशांत अवयव में, वायु-प्रवाह की सन-सनी में और जलधि के अविराम नर्तनों में सजीवता का सदा ही अनुभव किया गया है। और इसलिए पत्रों की मर्मर-ध्वनि में, परिवर्तनशील नभोमण्डल में, मेघों के गंभीर गर्जन में, तारक-राशि की दीप्ति में, वसंत रजनी में जब महादेवीजी ससीम और असीम का खेल दिखाकर एक सजीव मूर्ति प्रस्तुत करती हैं तो कविता की मधुरिमा और भी बढ़ जाती है। 'यामा' की रचनाओं में आवेग की प्राणस्पर्शिता है और कल्पना की अबाध गति। और इसका एक मात्र कारण यह है कि 'यामा' में साहित्यिक दासता का अभाव है। वर्डस्वर्थ, शैली और कीटस की नकल में महादेवीजी ने कम समय नष्ट किया है। 'लूसी ग्रे', 'डैफोडिल', 'स्काई लार्क' और 'क्लाउडस्' इत्यादि की छाप उनकी कविता में न होकर अधिकतर भारतीय दार्शनिक सिद्धांत और प्राचीन रहस्यवाद की परिपाटी ही अपनायी गयी है। कृत्रिम भाषा का जो छायावाद में अधिकाधिक प्रयोग हुआ है वह भी 'यामा' में दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा कम ही है।

यह बात नहीं कि अँग्रेजी कवियों की छाप का बिलकुल ही 'यामा' में अभाव हो। सांध्यगगन के, (संध्या के) स्थान पर बार-बार विवरण में कहीं-कहीं शैली Shelly के Alastor के निम्नलिखित पद्य की छाप प्रतीत होती है:—

Twilight, ascending slowly from the East
Entwined in duskier wreaths her braided locks.
O'er the fair front and radiant eyes of day.

परन्तु जैसे-जैसे कविता बढ़ती गई है, वैसे-वैसे ही भारतीय वातावरण में परिणत होती चली गयी। कितना सुन्दर प्रतीत होता है—

यह संध्या फूली सजीली!
आज बुलाती है विहगों को नीड़ बिन बोले!
रजनी ने नीलम मंदिर के वातायन खोले!
एक सुनहरी उर्मि क्षितिज से टकराई बिखर
तम ने बढ़कर बीन लिए वे लघुकण बिन तोले।
अनिल ने मधु-मदिरा पीली!

* * * *

भाती तम की मुक्ति नहीं, प्रिय रागों का बंधन।
उड़-उड़ कर फिर लौट रहे हैं, लघु उर में स्पन्दन।
क्या जीने का मर्म यहाँ मिट-मिट सबने जाना,
तर जाने को मृत्यु कहाँ, क्यों बहने को जीवन।
सृष्टि मिटने पर गर्वीली!

कवि शैली का Ode To Night एक बड़ा प्रसिद्ध गीत काव्य है जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

Wrapt thy form in a mantle gray star inwrought.

इस पद्य की छाया स्थान-स्थान पर 'यामा' में दृष्टिगोचर होती है। रात्रि के मिलने के लिए कवि शैली अत्यन्त कातर हो जाता था। महादेवीजी भी कहने लगती हैं—

आ मेरी चिर-मिलन यामिनी !
तम मयि घिर आ धीरे-धीरे
आज न सज अलकों में हीरे
चौंका दें जग श्वास न सीरे
हीरे झरें शिथिल कबरी में
गूँथे हर शृङ्गार कामिनी !

❀ ❀ ❀ ❀

अलक हैं अलसाये लोचन
मुक्ति बन गये मेरे बन्धन
है अनन्त अब मेरा लघु क्षण
रजनि ! न मेरी उर कम्पन से
आज बजेगी विरह-रागिनी !

विचार शैली का ही है परन्तु 'यामा' में एकदम भारतीय रंग में रँगा हुआ है। star-in-wrought का स्थान-स्थान पर आभास मिलता है।

(१) तारांकित नभ सेज से वे
रश्मि अप्सरियाँ जगातीं
अगरु गन्ध बयार ला-ला
विकच अलकों को बसातीं

(२) तारकमय नव वेणीबंधन

परन्तु जिस प्रकार से वर्णन किया गया है, आद्योपान्त भारतीय ढङ्ग ही है।

लोकमान्य तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "ओरायन (Orion) में शिवमहिम्नस्तोत्र को एक स्थान पर बहुत प्राचीन शिव-स्तोत्र

बताया है। यह स्तोत्र रहस्यवाद से ओत-प्रोत है। हमारे यहाँ शिव और काली की मूर्तियाँ रहस्यवाद की सजीव प्रतिमाएँ हैं। शिव-महिम्न में बताया गया है कि यह विश्व ही शिव-स्वरूप है। शिव और विश्व में कोई भेद नहीं है। शिव का सिर ही आकाश है। उस आकाश में जो नभगङ्गा है वही शिव के सिर की गंगा है, जो शुभ्र तारागण के गुणित फेनों के उद्गम के कारण और भी शुभ्र और उज्ज्वल प्रतीत होती है। इतनी बड़ी नभ-गंगा सारे संसार को चारों ओर से घेरे हुए है, परन्तु शिव के सिर में एक बूँद के समान ही प्रतीत होती है। हे शिव तुम्हारा यह विराट् शरीर और कितना विराट् है?

वियद्व्यापी तारा-गण-गुणित-फेनोद्गम रुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषत लघु दृष्टः शिरसि ते।

इस नभ-गंगा के दृश्य का भारतीय कवियों ने कई स्थान पर सुन्दर वर्णन किया है। नभ-मंडल को अधिकतर एक अपार नीला समुद्र माना है जिसमें ताराओं को इस समुद्र की लहरों से उठता फेन बतलाया गया है। 'साहित्य दर्पण' की यह पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है:—

"नेदं नभो-मंडलमम्बुराशि
नैनाश्च तारा नव फेन भंगाः"

भारतीय साहित्य में इस दृश्य का इतना रोचक वर्णन मिलता है जो दूसरे साहित्य में कम मिलता है। महादेवीजी ने भी इसी परिपाटी को अपनाया है। स्थान-स्थान पर इसका आभास प्रतीत होता है।

(१)

शृङ्गार कर ले री सजनि!
नव-क्षीर-निधि की उर्मियों से रजत झीने मेघ सित;
मृदु फेनमय मुक्तावली से तैरते तारक अमित,
सखि सिहर उठती रश्मियों का पहिन अवगुंठन अवनि

(२)

श्याम तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल-कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभ-गङ्गा की रजत धार में
धो आयी क्या इन्हें रात ?

तात्पर्य यह है कि 'यामा' में भारतीय भावों का ही अधिकतर समावेश है।,जहाँ भारतीय भाव नियम हैं, विदेशीय भाव नियम के अपवाद ही हैं ! भाषा सरल, सुबोध है और कोमलकांत पदावली में ही सारा गीतिकाव्य लिखा गया है।

महादेवीजी छायावाद के कवियों की प्रतिनिधि और उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। भाषा और भाव का इतना सुन्दर समन्वय और दूसरे छायावादी कवि की कृति में नहीं मिलेगा।

'यामा' का छायावाद

जब 'यामा' में अधिकतर प्राचीन परिपाटी के रहस्यवाद को ही अपनाया गया है तो प्रश्न यह होता है कि आधुनिक छायावाद का ग्रन्थ उसको किस तरह कहा जा सकता है ? वास्तव में कोई ऐसी बात भी उस ग्रन्थ में प्रतीत नहीं होती। अगर नवीन शब्दावली में, नवीन छंदों में और नवीन गीति-काव्य में ही रहस्यवाद को वर्णन करना छायावाद ग्रन्थ है तो यामा अवश्य छायावादी ग्रन्थ है। हाँ, 'आधुनिक कवि' की भूमिका जो गद्य में कवयित्री ने अपने 'दृष्टिकोण' को प्रकट करने के लिए लिखी है, वह अवश्य छायावाद से ओत-प्रोत है। जहाँ हम 'यामा' का पद्य और गीति-काव्य की भाषा और भाव समझ लेते हैं, वहाँ गद्य में लिखी भूमिका समझ में नहीं आती ! क्या अच्छा होता कि यह दृष्टिकोण—यह भूमिका, शुद्ध संस्कृत-भाषा में ही लिखी जाती !!

और यह दृष्टिकोण क्या है ? एक अजीब तर्क से छायावाद को सब के ऊपर बैठाने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ गद्य की भाषा में कृत्रिमता की झलक है वहाँ तर्क की शैली तो अधिकाधिक कृत्रिम हो गई है। "ठोक-पीटकर वैद्यराज", "मार-मार कर हकीम" और "मान न मान मैं तेरा महमान" वाली कहावतें चरितार्थ की गयी हैं। इस अनुपयुक्त और असंगत तर्क का भाषा-भाषियों पर क्या असर हो सकता है यह कवयित्रीजी स्वयं समझ सकती हैं। भाव जहाँ कुहेलिका के समान नीचे के आकाश को आवृत कर रखता है, वहाँ अमृत-वर्षण के आनन्द की आशा करना व्यर्थ है ! यदि हम कहें कि 'यामा' के छायावाद का प्रस्फुटन 'आधुनिक कवि' में ही हुआ है तो अत्युक्ति न होगी।

'अवगुंठनयुग' का कुछ तो प्रभाव पड़ना ही था ! 'यामा' के नाम के गुण का कुछ तो परिचय प्राप्त करना ही था ! हमारे साहित्य में पुस्तकों का नाम इस तरह रखा जाता था कि नाम सुनते ही पुस्तक के विषय का अनुमान हो जाता था। 'रामचरित-मानस' के नाम से ही हम समझ सकते हैं कि उसका विषय क्या है। मेघदूत, कुमार-सम्भव, किरातार्जुनीय, कादम्बरी, नैषध-चरित, राज-तरंगिणी में जो विषय वर्णन किये गये हैं वे ऐसे नहीं हैं जिनकी सूचना उनके शीर्षक से न मिल पाती हो। शिवाबावनी, जगद्विनोद, रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, भाषा, भूषण, रामचन्द्रिका इत्यादि के नाम ऐसे हैं जिनसे पुस्तकों के पाठ्य-विषय का पता पठन के पूर्व भी लग जाता है। परन्तु हिन्दी-साहित्य के 'अवगुंठन-युग' में नामकरण संस्कार भी छाया के अन्तर्गत ही करना आवश्यक माना गया है।

'मंगल-घट' यह समझ कर लिया कि किसी मंगलमय अवसर पर घट-स्थापना का काव्य में वर्णन किया गया होगा; परन्तु वह गुप्तजी की छोटी-मोटी रचनाओं का संग्रह ही निकला। प्रभात-फेरी' में न प्रभात का ही दृश्य है न स्वयंसेवक की प्रभात-फेरी का।

नरेन्द्रजी की कविताओं का वह संग्रह है। होली के अवसर पर होली के कुमकुमों का विचार करते हुए "कुंकुम" उठाया तो उसमें प्रथम पंक्ति ही जेल की चक्की चलाने के विषय में थी। नवीनजी की कविताओं का संग्रह है। 'अनामिका' देखी तो 'अंगुष्ठाभ्यां नमः' प्रत्यक्ष दिखाई देता था। मध्यमा, कनिष्ठका, तर्जनी और अनामिका का कहीं पता न था। यह निरालाजी की कविताओं का संग्रह था। कितना नवीन युग है? नाम बड़े और दर्शन थोड़े; अथवा ऊँची दूकान फीका पकवान!! हर पुस्तक, हर कविता, इस युग में पर्दे में रहना ही पसन्द करती है। शेख 'जुरअत' का शेर कितनी अधिक समीचीन प्रतीत होता है:—

"उस पर्दानशीं से कोई कैसे नर आये
जो ख्वाब में भी आये, तो मुँह ढाक कर आये"

ऐसे युग में यदि 'यामा' का नामकरण हुआ हो तो आश्चर्य की कौनसी बात है? 'याम' शब्द से 'यामा' बना दिया गया। शायद बहुवचन होगा। 'रामः रामौ रामाः।" इसी तरह "यामः यामौ यामाः।" अब प्रथम याम का नाम 'नीहार' पड़ा; द्वितीय याम का नाम 'रश्मि' हुआ, तीसरे का नाम 'नीरजा' और चौथे का 'सांध्य-गीत' रखा गया। नाम अलग-अलग हैं; परन्तु लगभग चारों में एक ही विषय हैं। शब्द भी एक से हैं। भाव भी एक से हैं। सिवाय इन नामों के और कहीं छायावाद का दिग्दर्शन नहीं होता। चारों में स्थान-स्थान पर 'पीड़ा' बिखरी हुई प्रतीत होती है। पीड़ा का इतना अधिक साम्राज्य है कि यदि छायावादी समाज में महा-देवीजी को मूर्तिमती पीड़ा माना जाता तो वह भी अनुपयुक्त नहीं होता। उनका जन्म ही पीड़ा और वेदना में हुआ है—

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात!
जीवन विरह का जलजात!

ऐसी पीड़ा दूसरा और कौन पाल सकता है ?

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा ?

मगर यह पीड़ा आनन्दमयी पीड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्वर्गीय पीड़ा है। इसमें रुदन नहीं—चीत्कार नहीं—भय नहीं—कोलाहल नहीं। रस है, आनन्द है, संगीत है, शोभा है, ऐश्वर्य है। ऐसी पीड़ा क्यों न मनोमोहक होगी? पीड़ा होते हुए भी 'यामा' में सौन्दर्य ही सौन्दर्य बिखरा दिखाई देता है। सौरभ का केश जाल, मर्मर का मधु सङ्गीत, रश्मियों की रजत धारा, ज्योत्सना का रजतपारावार, अवनि अम्बर का रुपहलापन, सुनहले आँसुओं के हार, मकरन्दपगी केसर पर जीती-जागती मधुपरियाँ, संध्या के शुभ्र मुख पर किरणों की फुलझड़ियाँ, चन्द्रमा की चाँदी की थाली, मरकत का सिंहासन, नभ की दीपावलियाँ, चाँदनी का शृङ्गार, कुन्द-कुसुम के मधुपुञ्ज, नीलम रज भरे चूनरी के अरुण-पीले रंग, नव अशोक का अरुण राग, मधुर रजनीगन्धा का पराग, मृदु पराग की रोली, अरुण सजल पाटल की वर्षा, बालशिखी-मन में मधुर संगीत की ध्वनि, रजत श्याम तारों की शुभ्रजाली, मेघों का मतवालापन, मन्द मलयानिल के उच्छ्वास, छलकता मधु का कोष, शतरंगों के इन्द्र-धनुष, बुद्बुद् की लड़ियों में गूँथा हुआ श्यामल केशकलाप, तारकमय नववेणी-बंधन, शशि का नूतन शीश-फूल, मधुर-मधुर नूपुर-ध्वनि, अलिगुञ्जित पद्मों की किंकिणि, छवि का मकरंद बरसाते हुए सजल इन्द्रमणि से जुगनू, नीलम मन्दिर की हीरक प्रतिमा-सी चपला और छिन्न मुक्तावलियों के अभिराम वन्दनवार—एक से एक बढ़ कर सुन्दर और रंगीली कल्पनाओं से 'यामा' का कलेवर सजाया गया है। पढ़ते-पढ़ते हृदय आनन्द से पूरित हो जाता है। महादेवीजी ने प्रकृति के रंगीन दृश्यों को और

भी रंगीन बना कर 'छायावाद' को लोक-प्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। यह कार्य आसान नहीं है; अत्यन्त कठिन है और इस कठिन कार्य में वे अत्यन्त सफल हुई हैं, इसमें संदेह नहीं है।

परन्तु यह बात भी सत्य है कि रहस्यवाद का सुन्दर पक्ष ही 'यामा' में लिया गया है। दूसरे पक्ष का किंचित् मात्र भी आभास नहीं मिलता। वही वृक्ष सैकड़ों वर्ष एक तरह ही खड़े रहते हैं। शीत, गर्मी, ओस, धूप, लू, तुषार, ओले और वर्षा, आँधी और तूफान सभी एक ही भाव से सहते रहते हैं; परन्तु उनकी वेदनाओं का इतने बड़े ग्रंथ में कहीं भी इशारा नहीं है। 'यामा' में अशोक, बकुल, मौलश्री, हरशृंगार, गुलाब, रजनी-गन्धा, पारिजात पुष्पों का ही जिक्र है। उन छोटे-छोटे फूलों का वर्णन किंचित् मात्र भी नहीं है जिनमें रूप नहीं, गंध नहीं, रंग नहीं, आकर्षण शक्ति नहीं। आक और अड़ूसा, धतूरे और कनेर के वृक्षों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया गया। कंटकित रसाल का वर्णन है, मगर झरबेर की परवाह नहीं की गई, जो अपना शरीर काँटों से आहत कर कर के भी श्रद्धानुसार मिष्ट फल कुछ-न-कुछ दे ही देते हैं। पिक, चातक, मत्त मयूर और मधुप का बार-बार वर्णन है; मगर उन खगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है जो बोलना नहीं जानते, परन्तु जिनकी मूक निश्वास संसार का हृदय दहलाने की शक्ति रखती है। इन्हीं कारणों से 'यामा' में अत्यन्त सौंदर्य होते हुए भी वह मादकता, वह तल्लीनता नहीं है जो रहस्यवादी साधु-संतों के संगीत में हुआ करती है। 'यामा' में अपार ऐश्वर्य है। ऐशो-आराम की सारी सामग्री है। हीरा, पन्ना, मोती, नीलम, माणिक्य विद्रुम, कनक और रजत, यत्र-तत्र जड़े हुए हैं, परन्तु लोहा तो क्या, पीतल और ताँबे का कहीं भी नाम नहीं। प्रतीत यह होता है कि मध्य-वर्ग की सामग्री भी 'यामा-संसार' से जान बूझ कर निकाल कर फेंक दी गई है। कल्पना

भी सम्पन्न कुल के व्यक्तियों के समझने की वस्तु हो गई है। जिसे हीरा, मोती, प्रवाल, कनक और रजत के दर्शन नहीं हुए वह शिक्षित परन्तु दरिद्र पुरुष 'यामा' की कल्पना का मूल्यांकन कर क्या सकता है? अगर इस प्रकार कल्पना ही सीमित रह गई हो तो आश्चर्य नहीं। एक बार जुगनू को हीरा के कणों में देखा जाता है, द्वितीय बार कनक के फूल बन जाते हैं, तृतीय बार वही जुगनू रजत में परिवर्तित हो जाते हैं। कविता में यह दोष भले ही हो परन्तु संगीत-माधुरी और 'यामा' की सरस मादकता में इस बात का हमें पता भी नहीं चलता।

वास्तव में 'यामा' में साहित्यिक सामन्तिक प्रवृत्ति (Aristocratic trend of literature) प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होती है। इसीलिए कदाचित् 'आधुनिक कवि' की भूमिका में हिन्दी-साहित्य की उस धारा को उपेक्षा की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है जिसको आज-कल 'प्रगतिवाद' का नाम दिया जाता है। और ऐसा क्यों न हो? प्रियतम की याद का मूल्यांकन जहाँ 'हीरा' में किया जाय तो वहाँ अपना जीवन कम से कम सुवर्ण तो समझा ही जाना चाहिए:—

हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,
जल-जल तप-तप किन्तु
खरा इसको है होना!

इस हीरा और सोने के जीवन में यदि दरिद्र नारायण की सुधि न रहे तो दोष क्या है? और प्रगतिवाद को ठुकराने का प्रयत्न किया जाय तो अनुचित क्यों हो? महादेवीजी के अनुसार "भविष्य में प्रगतिवाद की जो दशा होगी उसकी कल्पना अभी समीचीन नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि यह श्रमिकों की वाणी में बोलने वाली कविता मध्यमवर्ग के कण्ठ से उत्पन्न हो रही है। इसे समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठ भूमि चाहिए।"

प्रगतिवाद से आपको निराशा है, परन्तु छायावाद सदा इसी प्रकार सिंहासन पर बैठा रहेगा, ऐसा आपका दृढ़ विचार है। प्रगतिवाद को हम ऐसी निराशा की दृष्टि से नहीं देखते, न देखना उचित ही है। जहाँ छायावाद का विकास बहुत कुछ हो चुका है, प्रगतिवाद का अभी शैशव-काल प्रारम्भ ही हुआ है। छायावाद के मानसिक शून्यवाद ने जितना भारतवर्ष और भारत की राष्ट्र-भाषा का अहित किया है, वह किसी से छिपा नहीं है। हमें आशा है कि छायावाद द्वारा की हुई हानि को प्रगतिवाद का उज्ज्वल भविष्य बहुत शीघ्र ही पूरा कर देगा। और तभी महावीरप्रसाद द्विवेदी स्कूल के यथार्थवाद का स्वप्न सत्य हो सकेगा। यथार्थवाद का वास्तविक उद्देश्य ही तो श्रम और श्रमार्जित धन का सुन्दर सामंजस्य स्थापित करके देश को उन्नतावस्था पर पहुँचाने का है। और वह प्रगतिवाद ही का विषय है। दूसरे शब्दों में भौतिकवाद और यथार्थवाद के सुन्दरतम रूप को ही प्रगतिवाद कहा जाता है। संसार के नियम के अनुसार प्रगतिवाद की सुन्दर कविता मध्य वर्ग के कण्ठों से ही उत्पन्न होकर श्रमिकों को न्याय दिलाने में सफल होती रही है और संसार की सहसा परिवर्तन की स्थिति को देखते हुए यह आशा करना भी अनुचित नहीं कि छायावाद को त्याग कर शीघ्र ही महादेवीजी भी प्रगतिवाद की वीणा लेकर अपने नवीन-स्वरों में नये संगीत की रचना करके हिन्दी-भाषा-भाषी संसार को अनुगृहीत करने में सफल होंगी।

भाषा-प्रवाह

अभी तक हमने यामा में भाव और भाषा के सुन्दर समन्वय का ही विवेचन किया है। अब भाषा प्रवाह और भाषा-दोषों पर भी एक दृष्टि डालनी उचित होगी। कविता में सुन्दर प्रवाह बहुत आनन्द देता है इसके लिए समशक्ति शब्दों के एक तार की आवश्यकता है। कविता के स्वर-माधुर्य का प्रभाव वाग्यन्त्र और

श्रवणेन्द्रिय पर जब तक नहीं पड़ता तब तक कविता का उद्देश्य भी सफल नहीं होता। रस के अनुसार भाषा के शब्द कोमल अथवा कर्कश होना चाहिए। कोमल शब्दों की भरमार में एक भी कर्कश शब्द आ जाने से भाषा का प्रवाह रुक जाता है। रस-भंग हो जाता है। उसी प्रकार कर्कश शब्दों के मध्य में एक भी कोमल शब्द आ जाने से प्रवाह में कमी होती है। खड़ी बोली के बीच में एक व्रजभाषा का कोमल शब्द अथवा व्रजभाषा के कोमल शब्दों के बीच में खड़ी बोली का कर्कश शब्द भाषा के प्रवाह को बिगाड़ देता है। उसी तरह शुद्ध संस्कृत पदावली में एक भी उर्दू का शब्द प्रवाह के रोकने में सफल हो सकता है। अगर कठोर शब्दों के अनन्तर कोमल पदावली लानी होती है तो धीरे-धीरे उतरना पड़ता है। एक दम उतरने में ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की धारा अपने प्रवाह को छोड़ कर एक ऐसे गड्ढे में गिर गयी है जो सहसा सतह के नीचे धसक जाने से बन गया है। एक उदाहरण देखिए—

निर्झर

प्लावित कर पृथ्वी के पर्त्त
समतल कर बहु गहर गर्त्त
दिखला कर आवर्त्त विवर्त्त
आता हूँ आलोड़ विलोड़
निकल चला मैं पत्थर फोड़

यहाँ 'पत्थर फोड़' में भाषा को फोड़ कर निकल भागने का आभास प्रतीत होता है।

सौभाग्य से, 'यामा' में इस तरह के भाषा-प्रवाह-दोष कहीं पर भी दृष्टि-गोचर नहीं होते।

अब दो एक उदाहरण खड़ी बोली के शब्दों के मध्य व्रजभाषा के शब्द आने के देखिए।

नवीनजी के 'कुंकुम' में 'अपूर्ण यात्रा' पर अच्छी कविता है। एक स्थान पर है—

मचल गया यह मनुआ भोला
तव दर्शन पाने को—
चन्द्र-खिलोने से अथवा फिर
अपना मन बहलाने को।

'मनुआ भोला' बुरी तरह भटका हुआ प्रतीत होकर भाषा प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करता है। 'मचल गया मन मेरा भोला' कर लीजिए तो कुछ अच्छा लगे। और "मचल गया मेरा मन चंचल" कर लेते तो कोई भी दोष नहीं रह जाता।

'जादूगरनी' में हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने लिखा है—

भीनी-भीनी मधुर बदरिया में
छिप कर मुसकाती है
जग चकोर की आँखों को
तू आकुलता बन जाती है।

यहाँ भाषा की दृष्टि से 'बदरिया' कानों को खटकता है। उच्चारण में भी "बदरि" करना पड़ेगा। अगर पहिली दो पंक्तियाँ इस तरह हो जातीं—

झीने-झीने मेघ-पुंज में
छिपकर तू मुसकाती है।

तो बेहतर होता। चारों पंक्तियां भी एक-सी हो जातीं।

'याना' में भी ऐसे दोष यत्र-तत्र हैं। 'हौले' शब्द का हर स्थान पर इसी प्रकार प्रयोग किया गया है। यथा 'हौरे शिथिल कवरी में गूँथे हरशृङ्गार कामिनी।" और भी "मुखर पिक! हौले-हौले बोल!" 'धीरे-धीरे बोल' में आपत्ति क्या थी? एक स्थान पर लिखा है—

पोंछती जब हौले से वात
इधर निशि के आँसू अवदात
उधर क्यों हँसता दिन का बाल
अरुणिमा के रंजित कर गाल ?

यहाँ 'हौले' की जगह "धीरे" बेहतर रहता क्योंकि सारा वातावरण 'धीरे' शब्द का ही है। यह नहीं कि ये शब्द अशुद्ध हैं। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर ही शोभा देता है। उपयुक्त वातावरण होना चाहिए:—

शून्य नभ में तम का चुम्बन
जला देना असंख्य उडुगण
बुझा क्यों उनको जाती मूक
भोर ही उजियाले की फूँक

भोर और 'उजियाले की फूँक' से भाषा-प्रवाह बिगड़ता है।

जैसे 'फूँक' का प्रयोग किया है वैसे ही 'फीके' शब्द का भी अनुपयुक्त स्थानों में अशुद्ध प्रयोग हुआ है। यथा:—

(१) पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हो फीके
(२) यह मुरझाये फूलों का
फीका सा मुसकाना है
(३) चुका पायेगा कैसे बोल!
अञ्चल में मधु भर जो लातीं
मुस्कानों में अश्रु बसातीं
बिन समझे जग पर लुट जातीं
उन कलियों को कैसे
ले यह फीकी स्मित बेमोल!

(४) यह दोनों दो ओरें थीं
संसृति की चित्रपटी की
उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी !

(५) निराशा का सूना निर्माल्य
चढ़ाकर देखा फीका प्रात

'फीका' और 'फीकी' अनुपयुक्त स्थानों पर हैं; और "ओरें" अशुद्ध प्रयोग है। दोनों 'ओर' अथवा दोनों 'छोर' ही कहे जाते हैं। परन्तु महादेवीजी ने दोनों 'छोरें' का भी प्रयोग किया है। यथा:—

"हो मेरे लक्ष्य-क्षितिज की
आलोक तिमिर दो छोरें"

शुद्ध संस्कृत शब्दों के मध्य में 'यामा' में कुछ 'उर्दू' शब्दों का सहसा आकर, प्रवाह की अबाध गति को, रोकने के दृश्य को देखिए:—

(१) कुमुद दल से वेदना के दाग़ को
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ

(२) जो रहता तम के मानस में
ज्यों पीड़ा का दाग़
आलोकित करता दीपक सा
अन्तर्हित अनुराग

(३) छोड़कर लघु-वीणा के तार
शून्य में लय हो जाता राग
विश्व छा लेती छोटी आह
माया का बंदीख़ाना त्याग

(४) फैला अपने मृदु स्वप्न पंख
उड़ गयी नींद निशि क्षितिज पार

अधखुले दृगों के कंज—कोष
पर छाया विस्मृति का .खुमार

(५) हँस उठे छूकर टूटे तार
प्राणों में मँडराया उन्माद
व्यथा मीठी ले प्यारी प्यास
सो गया बेसुध अन्तर्नाद
घूँट में थी साक़ी की साध
सुना फिर-फिर जाता है कौन ?

बच्चन की 'मधुशाला' और 'मधुबाला' में भी साक़ी, खुमार, दाग़ शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है, परन्तु वहाँ वातावरण ही उन शब्दों का था। यहाँ पर ये शब्द वातावरण की अनुपस्थिति में बिलकुल अलग दिखाई देते हैं:—

अशुद्ध प्रयोग

अब कुछ उदाहरण अशुद्ध प्रयोगों के भी दिखलाना अनुचित न होगा। इतनी बड़ी पुस्तक में अशुद्ध प्रयोग निकल आना आश्चर्य नहीं:—

(१) मैं आज चुपा आई चातक
मैं आज सुला आई कोकिल
कंटकित मौलश्री हरश्रृंगार
रोके हैं अपने श्वास शिथिल

'चुप कर आयी' के स्थान में 'चुपा आयी' बिलकुल अशुद्ध प्रयोग है।

(२) वेदना गगन से रजत ओस
चूचू भरती मन कंज कोष
अलि सी मँडराती विरह पीर

'चू चू' में एक शब्द-शक्ति (ध्वनि-शक्ति) का आभास है जो अनुपयुक्त है। विरह की पीर सा भँवर का मँडराना एक अजीब प्रयोग है !!

(३) झिप-झिप आखें कहती हैं
यह कैसी है अनहोनी
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँखमिचौनी !

'झपक-झपक' के स्थान में 'झिप-झिप' का प्रयोग ठीक नहीं प्रतीत होता।

(४) विधु की चाँदी की थाली
मादक मकरन्द भरी सी
जिसमें उजियारी रातें
लुटतीं घुलतीं मिसरी सी

"मिसरी सी लुटतीं घुलतीं" का प्रयोग चिन्त्य है। मिश्री किस प्रकार लुटती है ?

(५) तारों में प्रतिबिंबित हो
मुस्काएँगी अनन्त आँखें
होकर सीमाहीन, शून्य में,
मँडराएँगी अभिलाषें

'अभिलाषाओं' के स्थान में 'अभिलाषें' कर दिया गया है। इसी प्रकार 'अप्सराओं' का 'अप्सरियाँ' कर दिया गया है।

(६) निर्घोष घटाओं में छिप
तड़पन चपला की सोती
झंझा के उन्मादों में
घुलती जाती बेहोशी

प्रबल वायु के झकोरों से बेहोशी क्या, कोई अन्य वस्तु भी

नहीं घुल सकती, उड़ अवश्य जायगी, अगर वास्तव में वे झकोरे। परन्तु झकोरों के उन्मादों से तो कोई वस्तु नहीं घुल सकती। और यदि बेहोशी घुल भी जाय तो शायद होश आ जायगा। जो यहाँ असङ्गत होगा।

(७) अनवींधे मोती यह दृग के
बँध पाये बन्धन में किसके ?
पल-पल बनते पल-पल मिटते
तू निष्फल गुथ गुथ हार न कर ?
कहता जग दुख को प्यार न कर

"तू निष्फल आँसुओं को हार में गूँथ रहा है, निष्फल मत गूँथ"—की जगह 'गुथ-गुथ हार न कर में' भाषा भी लड़खड़ा रही है। कई स्थान में 'गूँथ' का भाव नहीं आ पाया है। कई जगह 'गूँथ' का उपयुक्त प्रयोग नहीं हो पाया। यथा:—

समीरण के पंखों में गूँथ
लुटा डाला सौरभ का भार
तरंगें उठीं पर्वताकार
भयंकर करतीं हाहाकार

जिसने समुद्र देखा है वह कह सकेगा कि तूफान के समय समुद्र की लहरें गरजती हैं-वहाँ 'हा-हाकार' का आभास नहीं होता, 'हुँकार' प्रत्यक्ष सुनायी देती है। 'हा-हाकार' 'सामूहिक चीत्कार' या 'सामूहिक रुदन' को कहते हैं जिसमें भय का भाव प्रमुख है-अन्याय, अत्याचार, आपत्ति और अत्याचारी पीड़ा के भाव भी मिश्रित होते हैं।—समुद्र के गरजते समय 'हा-हाकार' का प्रयोग अशुद्ध है।—इसी प्रकार निम्नलिखित प्रयोग भी अशुद्ध हैं:-

तब बुझते तारों के, नीरव नयनों का
यह हा-हाकार
आँसू से लिख-लिख जाता है
"कितना अस्थिर है संसार !"

'हा-हाकार' ऊँची आवाज में हुआ करता है 'नीरव नयनों' का 'हा-हाकार' कैसा ? रहस्यवाद में भी यह कल्पना कठिन है !! ध्वनि-शक्ति भी नहीं है। विपरीत भावों का समावेश है। इसी प्रकार अकेली पीड़ा का ही हा-हाकार" बताया गया है जो शुद्ध नहीं हो सकता।

शून्य से टकराकर सुकुमार
करेगी पीड़ा हा-हाकार

चल चपला के दीप जलाकर
किसे ढूँढ़ता अन्धाकार

* * * *

जहाँ रोता है मौन अतीत
सखी तुम हो ऐसी झङ्कार
बनती! आलोक समाधि
तुम्हीं हो ऐसा अन्धाकार

दोनों स्थान में 'अन्धकार' को बिगाड़ा गया है। इसी प्रकार—

(क) डूब कर हो जाओगे पार
विसर्जन ही है कर्णाधार

(ख) विसर्जन करो मनोरथ कूल
न लाये कोई कर्णाधार

(ग) नहीं है तरिणी कर्णाधार
अपरिचित है वह तेरा देश

इन स्थानों में 'कर्णधार' होना चाहिए।

पुनरुक्ति-दोष

'यामा' में छायावाद के 'बेसिक' शब्दों को इतनी बार दुहराया गया है कि एक शब्द को बार-बार सुनते-सुनते कान थक जाते हैं। कहीं-कहीं कवयित्रीजी के शब्द-कोष के सीमित होने का संदेह

होने लगता है। प्रारम्भ में हम 'अवगुंठन' शब्द का प्रयोग देख चुके हैं। यहाँ 'चल' शब्द के बार-बार प्रयोग के कुछ उदाहरण समीचीन होंगे। 'चल' का अर्थ है 'अस्थिर' या 'चंचल'। संसार में कौनसी वस्तु 'स्थिर' है ? फिर हर वस्तु को अस्थिर बताने से भी क्या लाभ हो सकता है ? असंख्य वस्तुएँ चंचल हैं। फिर बार-बार 'चल' कहने का क्या लाभ ? कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) चल चपला के दीप जला कर
(२) समीरण का छूकर चल छोर
(३) गुलाबी चल चितवन में बोर
सजीले सपनों की मुसकान
(४) चल चितवन के दूत सुना
उनके, पल में रहस्य की बात
(५) अनिल के चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाती झंकार
(६) लोल तारक भी अचंचल
चल न मेरा एक कुन्तल
(७) मलयानिल का चल दुकूल अलि !
(८) फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ

यह 'यामा' के 'चल' के बहुत थोड़े उदाहरण हैं। अगणित 'चल' 'यामा' में भरे पड़े हैं। ज्ञात होता है कि 'यामा' में यदि कोई वस्तु अचल है तो वह शब्द 'चल' ही है !!

प्याला या प्याली !

'यामा' आद्योपान्त पढ़ जाने पर 'यामा' के 'प्याले' और 'प्यालियों' का भी दृश्य अच्छा प्रतीत होता है। पता नहीं इतनी

अधिक बार 'प्याली' और 'प्याले' का प्रयोग क्यों किया गया है? शंका उत्पन्न होती है कि 'जीवन-प्याला' शुद्ध प्रयोग है अथवा 'जीवन-प्याली'? प्रश्न यह भी है कि 'प्याला' और 'प्याली' एक ही वस्तु हैं या इन दोनों में भेद है? हमारे विचार में यह प्रश्न महादेवीजी स्वयं सुलझा नहीं सकीं, इसीलिए दोनों को समान रूप से प्रयोग में लायी हैं। कहीं-कहीं एक ही छन्द में, एक ही भाव में 'प्याला' और 'प्याली' दोनों का प्रयोग किया है? प्रश्न का उत्तर दिये बिना हम भी कुछ उदाहरण पाठकों के सन्मुख बिना टीका-टिप्पणी के उपस्थित करना उचित समझते हैं।

(१) इस मीठी-सी पीड़ा में
डूबा जीवन का प्याला
लिपटी-सी उतराती है
केवल आँसू की माला

(२) छलकती जाती है दिन रैन
लबालब तेरी प्याली मीत
ज्योति होती जाती है क्षीण
मौन होता जाता संगीत

(३) उस मतवाली वीणा से
जब मानस था मतवाला
वे मूक हुईं झङ्कारें
वह चूर हो गया प्याला

(४) अपना सुख बाँट दिया हो
जिसने इस मधुशाला में
हँस हालाहल ढाला हो
अपनी मधु सी हाला में
मेरी साधों में निर्मित
उन अधरों का प्याला हो!

(५) कितनी करुणाओं का मधु
कितनी सुषमा की लाली
पुतली में छान भरी है
मैंने जीवन की प्याली!

(६) अश्रु सिक्त रज किसने, निर्मित
कर, मोती सी प्याली;
इन्द्र-धनुष के रङ्गों से, चित्रित
कर, मुझको दे डाली।

(७) पलक प्यालों से पी-पी देव
मधुर आसव सी तेरी याद

प्याले और प्यालियाँ 'यामा' की प्रदर्शिनी में इतने प्रकार के रखे हुए हैं कि गिनते-गिनते थक जायँगे तो भी पूरा गिन नहीं सकेंगे। इसलिए कुछ थोड़े उदाहरण ही उद्धृत किये जा सकते हैं। हमारा विचार है कि दोनों की संख्या समान होगी। यह कहना कि 'प्यालों' का उपयोग शुद्ध है, 'प्यालियों' का अशुद्ध—क्योंकि एक जोरदार है दूसरी कमजोर– सही प्रतीत नहीं होता। शायद इसीलिए महादेवीजी ने दोनों को समान बनाकर छोड़ा है।

उपसंहार

'यामा' के कुछ दोष हमने ऊपर दिखाये हैं, वे दोष, अनगिनती गुणों के सम्मुख, कुछ भी नहीं हैं। 'यामा' की स्निग्धता से दबे हुए भी हैं; और अधिक से अधिक वे चन्द्रमा के काले दाग या कुसुम के कंटक ही प्रतीत होते हैं। जहाँ 'यशोधरा', 'निशा-निमंत्रण', 'गुञ्जन' और 'तुलसीदास' में दोषों ने गुण दबा दिये हैं वहाँ 'यामा' में गुणों ने दोष दबा लिये हैं।

वर्तमान साहित्य में कोई भी ग्रन्थ दोष-रहित नहीं है, यह देखकर खेद होता है। छोटे-छोटे दोष तो बड़े-बड़े कवियों की

कृतियों में भी मिलते हैं, परन्तु जो दोष हमने दिखाये हैं ये छोटे दोष नहीं हैं। वे बहुत बड़े-बड़े दोष हैं। नामी कवियों की कविताओं में इतने बड़े दोष बहुत संख्या में होने से भाषा-विकृत होने का भय होता है। इस युग में जहाँ राष्ट्रभाषा के मञ्च पर हिन्दी के बैठालने का प्रयत्न किया जा रहा है, जहाँ हिमालय से कन्याकुमारी और कच्छ से कामरूप तक सारे देश की भाषा हिन्दी बनायी जा रही है, वहाँ प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी का कर्तव्य है कि भाषा को अत्यन्त परिमार्जित करने का अत्यधिक प्रयत्न करे। जिस भाषा में सुन्दर प्रवाह नहीं, जिस भाषा में मनमानी-घरजानी चल रही है, जिस भाषा का रूप दिनों-दिन विकृत होता चला जा रहा है, जिसमें अच्छा साहित्य पैदा नहीं हो रहा है, जिसमें मौलिकता का अभाव बढ़ रहा है, वह भाषा राष्ट्र-भाषा के योग्य नहीं समझी जा सकती और यदि राष्ट्र-भाषा हो भी जाय तो उसका जीवित रहना कठिन है। हमारे सम्मुख नागरी लिपि और रोमन लिपि का प्रश्न उतना कठिन नहीं है जितना भाषा को परिमार्जित और व्यापक बनाने का। असंख्य दोषों से भरी हुई और ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर चलने वाली चीनी और जापानी लिपि में भी अत्यन्त रोचक साहित्य है और ये लिपियाँ भी बड़े-बड़े देशों की भाग्य विधात्री बनी हुई हैं।

मनुष्य समाज में, भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय भाषा के ही द्वारा हुआ करता है। भाषा ही साहित्य की मूलाधार है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जितनी ही भाषा परिमार्जित होगी उतना ही साहित्य भी मनोहर और भव्य होता जायगा। जितना साहित्य मनोहर होगा उतनी ही उस देश की संस्कृति उन्नत मानी जायगी। देश को उन्नतावस्था पर पहुँचाने के लिए परिमार्जित भाषा एक बहुत बड़ी सीढ़ी है। इसीलिए कालिदास ने भी वाक् और अर्थ—भाषा-चमत्कार और

अपूर्व भाव की प्रतिपत्ति के लिए पार्वती और परमेश्वर की 'रघुवंश' के प्रारम्भ में प्रार्थना की थी।

राष्ट्र के सम्मुख आज परिमार्जित भाषा में नवीन साहित्य सृजन करने का प्रथम कार्य है और यह कार्य तब तक प्रारम्भ नहीं हो सकता जब तक नवयुवकों के मस्तिष्क से वह आवरण न हटा दिया जावे जो 'अवगुंठन-युग' की दूषित भाषा से चारों ओर आच्छादित है। राष्ट्र के नाते प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि बिना किसी भय के उस काव्य को निन्दनीय कहे जो भाषा-दोषों से भरपूर हो। गद्य की अपेक्षा पद्य की भाषा सदा ही नवीन मस्तिष्क को शीघ्र ही प्रभावित किया करती है। इसीलिए कविताओं की भाषा को परिमार्जित रखने की अत्यंत आवश्यकता है।

इस उद्देश्य से लिखे हुए इस लेख में यदि कहीं व्यङ्ग की भाषा कठोर हो गई हो तो वह क्षम्य है। गुप्तजी, बच्चन, पंत, निराला और महादेवीजी ने अथक परिश्रम से हिन्दी संसार में अपना स्थान प्राप्त किया है। उनसे इतनी ही प्रार्थना है कि शान्त चित्त से वे अपनी कृतियाँ पढ़ें और देखें कि जो दोष हमने दिखाये हैं वे वास्तव में सही हैं या नहीं और उनसे भाषा के अहित होने की संभावना है या नहीं।

विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा था कि नीचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेना (कारखाने से राजप्रासाद में पहुँच जाना) अवश्य ही दुर्लभ और सुन्दर है। परन्तु अपनी भूल स्वीकार करना और भी दुर्लभ तथा और भी सुन्दर है।

हमें पूर्ण आशा है कि हमारे श्रद्धेय कविगण और भी दुर्लभ तथा और भी सुन्दर बनने से पीछे पैर न हटावेंगे।

नवयुवक कवियों से, इस लेख माला द्वारा यह कहना अनुचित न होगा कि अपूर्व भावों के साथ-साथ भाषा चमत्कार अथवा पद-लालित्य की ओर भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। युवावस्था में परिश्रम किया भी जा सकता है। एक-एक शब्द को

तोल-तोल कर कविता में यदि रखा जायगा और अभी से इसका अत्यधिक अभ्यास कर लिया जायगा तो अपने आप श्रुति-मधुरता कविता में आने लगेगी। परन्तु अभ्यास और परिश्रम की आवश्यकता है। कविता का भाव स्वतः ही हृदय में जन्म लेता है यह सही है, परन्तु भाव, विचार या कल्पना अपने हृदय में ही विलीन हो जायँ तो उनका लाभ ही क्या है? दूसरों को उस भाव, विचार अथवा कल्पना से प्रभावित करने के लिये परिमार्जित भाषा के साँचे में ढालना होता है जिसमें एक-एक शब्द के प्रभाव को देखना आवश्यक है। एक अँग्रेजी समालोचक ने लिखा है कि कविता में भाव की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी परिश्रम की।

"More Perspiration than Insi iration".

संसार के जितने बड़े-बड़े कवि हुए हैं प्रारम्भ में सभी ने अत्यधिक परिश्रम किया है।

वास्तव में, ऊँचे स्वर में प्रत्येक पुरुष चिल्ला सकता है परन्तु जो उस ऊँचे स्वर को नियंत्रित करने की क्षमता रखते हैं वे ही संगीत की अमृत-वर्षा कर सकते हैं, दूसरे नहीं। प्रत्येक कला में नियन्त्रण की आवश्यकता है। काव्य-कला इस नियन्त्रण के नियम का अपवाद नहीं। नियन्त्रण के बिना, कोई कला आनन्ददायिनी नहीं हुआ करती और कला के आनन्ददायिनी होने में ही उसकी सार्थकता है। नियन्त्रण के नियम और उसके सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में अनन्त समय लगा है। कविता करने के पूर्व इन सिद्धान्तों पर भली भाँति मनन कर लिया जाय यही हमारी प्रार्थना है।

द्वितीय भाग

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटनी' इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' और पं० केशव मिश्र के मेघदूत का पद्यानुवाद

वर्तमान हिन्दी भाषा में थोड़े समय में ही खड़ी बोली की कविता ने, सर्वतोमुखी होकर, जो चारों ओर अधिकार जमा लिया है, वह किसी से छिपा नहीं है। अति-मधुर शब्दों की प्रचुरता से भाषा भी अब अधिक संगीतमय होती जा रही है। नाना प्रकार के छन्दों से भी हिन्दी-कविता-सुन्दरी को भली-भाँति सज्जित किया जा रहा है। यह शुभ लक्षण अवश्य है। परन्तु जहाँ तक भाषा से सम्बन्ध है, बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियों ने भी, कविता की भाषा पर भली भाँति अभी तक उतना ध्यान नहीं दिया जितना आवश्यक था। फल यह हुआ कि ऊबड़-खाबड़ भाषा, व्याकरण और कहावतों के अशुद्ध प्रयोग, बड़े-बड़े कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं में भी मिल जाते हैं। संस्कृत, उर्दू और ब्रजभाषा का खड़ी बोली पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और इन्हीं के शब्दों का बाहुल्य खड़ी बोली में पाया जाता है। कहीं-कहीं इन तीनों का सम्मिलन या 'मिश्रण' एक ही छन्द में कविता को अत्यधिक नीरस बना डालता है। कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ कि कविता के लिए भाषा में व्यवहृत और प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उपयुक्त नहीं हुआ करता। थोड़े से शब्द ऐसे होते हैं जो कविता में सजीवता प्रदान करते हैं; थोड़े से शब्द ऐसे होते हैं जो कविता में सरसता बढ़ाते हैं।

यह विचार सही नहीं है कि उर्दू शायरी में इस्तैमाल किया हुआ और अच्छा माना गया लफ्ज खड़ी बोली में भी उसी प्रकार ही कविता में जान फूँक सकेगा। यह मान लेना भी ठीक नहीं

हो सकता कि रीति-कालीन ब्रजभाषा का एक अत्यन्त मधुर शब्द खड़ी बोली की कविता में भी श्रुति-मधुर बना रहेगा।

'हाथी' या 'बैल' या 'भैंसा' किसी वृत्त, टीला या दीवार से उसको उखाड़ने की चेष्टा में अपना सिर खुजलाता है तो संस्कृत में इस क्रिया को 'वप्रक्रीड़ा' कहा जाता है। कवि-सम्राट कालिदास ने अच्छे-अच्छे स्थानों में इस 'वप्रक्रीड़ा' का वर्णन करके काव्य-माधुरी की मनोरम छटा दिखलाई है। यदि खड़ी बोली में कलिदास का अनुकरण करके कोई कवि 'वप्रक्रीड़ा' प्रयुक्त करें तो निःसन्देह वह शब्द नीरस प्रतीत होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कविता का, और उसके अन्तर्गत प्रत्येक छन्द का, एक वातावरण हुआ करता है और ऐसे शब्द ही प्रयोग किये जाने चाहिए जो उस वातावरण के अनुकूल हों। इस दृष्टि से, वर्तमान काल की अधिकतर रचनाएँ भाषा दोषों से भरी हुई हैं। हमारे वर्तमान कवियों में अच्छी काव्य-प्रतिभा है। उन्होंने वर्तमान काल में जो काव्य-धारा बहाई है उसके लिए प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी उनका आभारी है। केवल दुःख इस बात का है कि कवि लोग इस बात को सोचते तक नहीं कि जो भाषा प्रयुक्त की जा रही है वह भाव व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है या नहीं। भाषा की ओर न कवियों का ध्यान है न समालोचकों का ही, बड़े-बड़े महारथियों ने भी भाषा की अव्यवस्था को हटाने का प्रयत्न नहीं किया। आधुनिक काव्य ग्रन्थों में ऐसी रचना एक भी नहीं मिली जिसका आद्य से अन्त तक एक-सा भाषा-प्रवाह बना रहा हो या जिसमें अत्यन्त साधारण भाषा-दोष प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होते हों। उदाहरण सहस्त्रों की संख्या में पहुँच सकते हैं परन्तु कुछ यहाँ दिखाने अनुचित नहीं होंगे।

ये उदाहरण छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं दिये जा रहे। जिन कवियों की रचनाओं से ये उदाहरण लिये जा रहे हैं उनके

प्रति अत्यन्त श्रद्धा दिखलाते हुए भाषा के नव-कवियों से हम यही कहेंगे कि यह भाषा-दोष ही गिने जायेंगे। जो सज्जन यह कहा करते हैं कि ऐसे ही भाषा-दोष, कबीर, जायसी, तुलसी, मीरा इत्यादि पुराने कवियों में पाये जाते हैं उनसे अत्यन्त विनय के साथ हम यही निवेदन करेंगे कि उस काल में और वर्तमान काल में आकाश पाताल का अन्तर है। मुस्लिम काल में हिन्दी भाषा को वह साधन उपलब्ध नहीं थे जो आज हैं। उस समय हिन्दी न तो दरबारी भाषा थी, न राष्ट्रभाषा थी और न देश की ही भाषा थी। राजाश्रय में जो कवि रहा करते थे उन्हें भाषा की क्या परवाह हो सकती थी? व्यक्तिगत प्रसन्नता और अप्रसन्नता का जहाँ सर्वदा विचार रखना पड़ता था वहाँ भाषा-सुधार का प्रयत्न कोई भी नहीं किया करता होगा। छापेखाने न होने के कारण न तो इतनी पुस्तकें ही छपती थीं और न विचार विनिमय ही (भाषा की दृष्टि से) हो सकता था। फिर भी उस काल की भाषा बहुत परिष्कृत है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के मंच पर आसीन हो चुकी है। पुस्तकों पर पुस्तकें छपती चली जा रही हैं। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों की अभिवृद्धि हो रही है। रेडियो पर कवि-सम्मेलन और कविताओं पर आलोचनाएँ सुनाई पड़ती हैं। विश्वविद्यालयों में एम० ए० तक तो हिन्दी की शिक्षा दी ही जाती है। उसके अनन्तर रिसर्च स्कालर होकर पी-एच० डी० या डी० लिट० की बड़ी बड़ी डिगरियाँ भी मिलने लगी हैं। साहित्य सम्मेलन-सी संस्थाएँ अलग परीक्षाएँ लेती हैं। पारितोषिक अलग वितरण हो रहे हैं। ऐसे समय में भी यदि भाषा के परिमार्जित होने का प्रश्न उपस्थित न हो पाया तो फिर हो भी कब सकेगा? पद्य की भाषा सदा ही गद्य और नाटकों की भाषा को प्रभावित करती रही है। इसीलिए पहले पद्य की भाषा पर ध्यान आकृष्ट करके बाद में 'नाटकों की भाषा' एवं 'गद्य की भाषा' पर ध्यान दिलाना हम उचित समझते हैं। भाषा के रक्षणार्थ, जहाँ

उर्दू मूप" का सक्रिय विरोध करना हमारा कर्तव्य है वहाँ अपनी आन्तरिक बुराइयों पर दृष्टि डालना एवं भाषा में आये हुए दोषों को एक-एक निकाल कर बाहर फेंक देना भी हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है।

हिमकिरीटनी

पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटनी' बड़े ऊँचे भावों से भरी हुई है। राष्ट्रीय काव्य-ग्रन्थों में 'हिमकिरीटनी' जैसे उच्च भाव अभी तक अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिले। 'कैदी और कोकिला' शीर्षक कविता भी उसमें बहुत अच्छी है और उसका भाषा-प्रवाह भी सुन्दर है।

उसमें कैदी और कोकिल की अवस्था का मुकाबिला करते हुए जब कवि कहता है कि—

तेरा नभ भर में संचार।
मेरा दस फुट का संसार!
देख विषमता मेरी तेरी
बजा रही तिस पर रण-भेरी

तो हृदय पर एक ऐसा प्रभाव होता है जिसको वर्षों तक सुगमता से हटाया नहीं जा सकता। परन्तु उसी रचना में निम्न-लिखित पंक्तियाँ पढ़ कर भाषा पर सहसा तरस भी आने लगता है।

हूँ मोट खींचता, लगा पेट पर जूआ
ख़ाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।

इनको पढ़ते ही निम्नलिखित पंक्तियों की याद भी आ जाती है :—

"हिन्दी-कविता में बड़ा भला यह हूआ
तुम अब लिख सकते "छूआ", 'दूआ', 'सूआ'"

उसी 'क़ैदी और कोकिला' में एक स्थान पर लिखा है:—

तोता नहीं, नहीं तू तूती
तू स्वतंत्र बलि की गति कूती

यहाँ 'तोता' जब आ चुका था तो 'तूती' को भी लाकर 'द्वैत-वाद' का भाव प्रदर्शित करना व्यर्थ था।—वातावरण के अनुकूल भी न था।

'अमर राष्ट्र' सम्बन्धी कविता बड़ी अच्छी है। उसमें एक स्थान पर लिखा है—

जिस रस में कीड़े पड़ते हों
उस रस पर विष हँस हँस डालो!

सोचने की बात है कि जिस रस में कीड़े पड़ रहे हैं वह विष समान तो है ही—विष डालने की आवश्यकता ही क्या?

संस्कृत-उर्दू और संस्कृत-ग्रामीण मिश्रित प्रयोग भी एक-ही पंक्ति में मिल जाते हैं :—

जिसके स्नेह-ज़ोर से आँखें प्रलय कारिणी मीचे
बिजली तक चीत्कार किए, आ पड़ती भू पर नीचे

'स्नेह' और 'ज़ोर'; और 'प्रलय-कारिणी' और 'मीचे' का सम्मिलन ध्यान देने योग्य है।

एक दूसरे स्थान पर शुद्ध संस्कृत शब्द को उर्दू के साथ देख कर भाषा घबड़ाती सी प्रतीत होती है। लिखा है:—

सद्य-स्नाता भू रानी के गोद भरे अहसान
अत्याचारों में लहराने वाले जग-वरदान

कहाँ 'सद्य-स्नाता' शुद्ध संस्कृत शब्द और कहाँ उर्दू का 'अहसान'? एक सज्जन ने लिखा।

"सद्य-स्नाता भू रानी के गोद भरे अहसान
'हिमकिरीटिनी' में देखो 'उर्वर-ज़रख़ेज़' मिलान"

ऐसे बेमेल मिलान मौके बेमौके मिलते चले जाते हैं। एक स्थान पर लिखा है:—

चाँदी सोने की आशा पर
अंतस्तल का सौदा
हाथ पाँव जकड़े जाने का
आमिष-पूर्ण मसौदा

'अन्तस्तल का सौदा' और 'आमिषपूर्ण मसौदा' कर्णकटु मिश्रित भाषा का नया पौधा मालूम होता है। सौभाग्य से, कहीं-कहीं भाषा में बड़ा अच्छा प्रवाह आ गया है और उच्च विचारों के कारण, भाषा-दोष दबे से ज्ञात होते हैं।

× × ×

विजनवती

पंडित इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' में एक स्थान पर है :—

वह सरिता की ललित कलित गति
सागर का फेनिल कल्लोल
उपवन की वह मृदु मादकता
कानन का मर्मर हिल्लोल
मधु-आसव से गन्ध-विधुर वह
मलयानिल का मादरोच्छ्वास
उच्छल-फेनिल-जलधि - विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास

यहाँ संस्कृत शब्दों के मध्य में अकेली 'पुरवैया' प्रतिकूल वातावरण में ऐसी प्रतीत होती है मानो बिचारी शून्य में भटकती हुई उसासें ले-लेकर कह रही है:—

"मैया गई माइके जु भैया घर नाहीं आजु
नन्द के कन्हैया मेरी गैया दुहि दीजिए"

'विजनवती' में कहीं-कहीं नवीन भाषा गढ़ी गई है और वह भाषा अत्यन्त हास्यास्पद हो गई है, यथा :—

नन्दन-वन की पवन-मलय मद दलनी
इसके मन में हहर हहर हहराई।
विकल पिपासा की क्या आशा छलनी
तम हृदय में गहर गहर गहराई॥

इससे तो निम्नलिखित छन्द अच्छा रहता :—

"हिमगिरि पर कविता भी लगै मचलनी
कवि ने उसको महर महर महराई
खा खा चोटें, भाषा लगै उछलनी
'विजनवती' में घबर घबर घबराई।"

एक दूसरे स्थान पर लिखा हुआ है :—

तनी हुई थी उसके तन की तनिमा
कल उल्लसित विभा उसकी विलसित थी।
श्याम कुंज-सम सघन दृगों की घनिमा
किस रस से सरमाकर मृदु-अलसित थी।

टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। निम्नलिखित पद्य भी मनन योग्य है :—

उसके मुख में बिजली क्षणिक जलाकर
विभ्रम झलकाती अलका की ललना
कभी कुंवर का कोमल हृदय गला कर
छलछल छलकाती नयनों में छलना

'तनिमा' और 'घनिमा' तो अजीब हैं ही। 'छल-छल छलकाती छलना' क्या वस्तु है ?

एक स्थान पर 'विजनवती' में आया है :—

रोई, बाला, रोई, व्याकुल रोई
फूट फूट कर खा पछाड़ वह बिलखी
था न वहाँ मन समझाने को कोई
लीन हुई निर्जन में आहें दिल की।

तीन बार 'रोई' 'रोई' 'रोई' फिर 'फूट फूट कर बिलखी' लिख कर विचारी भाषा को ही रुलाया गया है। प्रतीत ऐसा होता है मानो कवि कह रहा है:—

"रोई, भाषा, रोई, व्याकुल रोई
बिजनवती में फूट फूट कर बिलखी
मार्ग-प्रदर्शक था न वहाँ पर कोई
कवि के हिय में लगी हुई थी हिलकी।"

'विजनवती' में अनेकों उदाहरण ऐसे मिल जायँगे।
'विजनवती' की 'शकुन्तला' एवं 'महाश्वेता' पठनीय हैं।

× × × ×

मेघदूत का नया पद्यानुवाद

कलिदास के मेघदूत के पद्यानुवाद भाषा में कई हो चुके हैं। अभी हाल में पंडित केशवप्रसादजी मिश्र का पद्यानुवाद साहित्य-संसार में आया है। यह अनुवाद अत्यन्त सफल हुआ है। खड़ी बोली में इतना सरल और सरस अनुवाद अभी तक नहीं हुआ। पंडित केशवप्रसादजी संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हैं और अनुवाद में काव्य-प्रतिभा के साथ उनका पांडित्य भी भली भाँति झलकता है। भाषा और शैली दोनों ही अच्छी हैं। भाव सुलझे हुए हैं और भाषा अत्यन्त सुथरी हुई एवं परिमार्जित है। एक दो स्थान पर यदि कहीं भाषा-शैथिल्य आ गया है तो वह क्षम्य है। 'तुक' मिलाने के लिए कहीं-कहीं भाषा तोड़नी-मरोड़नी भी

पड़ती है। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। उत्तर मेघ के सैंतालीसवें श्लोक का अनुवाद है:—

मिटा शाप ज्यों ही हरि जागे, तजकर शेषनाग की सेज
आँख मूँद कर चौमासे की विरह वेदना और अंगेज
पूर्ण करेंगे तव वियोग में गुने हुए मन के अभिलाष
शरत काल की खिली चाँदनी रातों में कर विविध विलास

'अंगेज' शब्द अकेला घबरा कर कह रहा है कि "मिश्र जी ने अनावश्यक होते हुए भी केवल तुक मिलाने को, घसीट कर, प्रतिकूल वातावरण में, जबरदस्ती बैठा दिया है। मेरा क्या कसूर है?"

'शेष नाग की सेज' से मालूम यह पड़ता है कि शेषनाग ने अपने सोने को शय्या तैयार कराई हो। विष्णु भगवान् ने उनको उठाकर स्वयं उस पर अधिकार जमा लिया हो और फिर सोच-विचार कर दूसरे की सेज छोड़ दी हो।

'मूँद' और 'चौमासा' के स्थान में "आँख बन्द कर चतुर्मास की" लिखा जा सकता था। परन्तु कुछ-कुछ व्रजभाषा और कुछ-कुछ "उप-उप-भाषाओं" से प्रेम प्रतीत होता है। इसलिए लिखा गया है।

मरा नहीं है कुशल पूँछता, कह विरहिन अपनी दिन रात
अब तब गए जनों का जीते रहना मुख्य चहेती बात

'चहेती' व्रजभाषा का शब्द है इसीलिए अभी हाल में प्रकाशित 'कालिदास ग्रन्थावली' में भी चहेती शब्द की यत्र तत्र छटा दिखाई पड़ती है। उप-उप-भाषाओं के ऐसे शब्द 'खड़ी बोली' को पड़ी बोली' बनाने में समर्थ हो सकेंगे !! "अब-तब-गए जनों" का अर्थ क्या है? समझ में नहीं आता। अशुद्ध प्रतीत होता है।

एक स्थान पर यह छन्द है:—

फड़क उठा ऊपर को तेरे जाते मृगनयनी का नैन
होगा मछली की मचलन से चंचल कमल कान्ति का ऐन

यक्ष मेघ से कह रहा है कि तेरे वहाँ जाने पर मेरी प्रिया का नयन फड़क उठा है ऐसा मालूम होता है। वह फड़कता नयन ऐसा शोभित हो रहा है मानो सरोवर में मछली के चलने से कमल हिल रहा हो।

'ऐन' और 'नैन' की तुक भद्दी मालूम होती है। 'ऐन' 'अंगेज' की तरह अकेला हिल रहा प्रतीत होता है। कालिदास का भवा भी भाषा में भली भाँति व्यक्त नहीं हो पाया। 'अयन' को शायद 'ऐन' बनाया गया है॥

उत्तर मेघ के ४४ वें श्लोक का अनुवाद किया गया है:—

देवदार की नई कोंपलें चिटकाकर जो चली बयार
हिम गिरि स दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार

हमारी सम्मति में चिटकाकर शब्द अशुद्ध है। कवि कालिदास ने शब्द "भित्वा" लिखा है जिसका अर्थ "तोड़कर" है; न कि "चिटकाकर"। हिन्दी कविता पढ़कर देव कवि की प्रसिद्ध पंक्ति "मदन महीपजू को बालक बसन्त ताहि प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै" याद आ जाती है। अनुवाद करते समय शायद यही पंक्ति मिश्र जी के चित्त में थी। गुलाब का फूल प्रातः खिलते ही धीरे से 'चट' की आवाज किया करता है। इसीलिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले महाकवि देव ने 'चटकारी' शब्द का प्रयोग किया था। उत्तर से दक्षिण आती हुई वायु कोंपलों को तोड़ डालती है जगाती नहीं है। इसलिए भी 'चिटकाकर' अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

जिस तरह कोंपलों का 'चिटकाकर' लिखा गया है उसी भाँति पपीहों का 'पिहकना' और 'चहचहाना' लिखा गया है यथा:—

मन्द मन्द अनुकूल पवन यह तुझको सीधे बहा रहा
तेरा सगा पपीहा बाएं पिहक रहा चहचहा रहा

कवि-कुल-गुरु कालिदास ने तो केवल "नदति मधुरं" लिखा है। चातक के लिए 'नदति' शब्द अत्यन्त स्वाभाविक भी है। 'मधुर' भी है। अनुवाद में मधुर का तो भाव आया तक नहीं, परन्तु प्रतीत यह होता है कि अनुवादक ने 'चातक' को कोई साधारण चिड़िया समझा है जो कर्कश स्वर में "चहचहा रही" है। पपीहा की आवाज "पी" "पी" की ही होती है यही मानी भी गई है।

श्री महादेवी जी वर्मा का प्रसिद्ध कवित्त है—

"अब सीख ले मौन का मंत्र नया,
यह 'पी' 'पी' घनों को सुहाता नहीं"

अथवा

"यह कौन सा 'पी' है पपीहा तेरा,
जिसे बाँध हृदय में बसाता नहीं"

अन्य कवियों ने भी 'पी-पी' का ही प्रयोग किया है। कालिदास का भाव यदि व्यक्त नहीं हो पाता तो कोई बात नहीं थी। कम से कम ऐसे अस्वाभाविक वर्णन को बचा देना चाहिए था।

एक दूसरे स्थान पर है:—

पर्वतीय नदियों के तट पर फूले जूही के आराम
उन्हें सींचते आगे बढ़ना, थोड़ा सा करके विश्राम

यहाँ 'आराम' का अर्थ 'उद्यान' 'बाग' या 'उपवन' है। परन्तु आराम और विश्राम एक ही प्रतीत हो रहे हैं। 'ऐन' और 'अंगेज' से ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक ही है।

एक अन्य श्लोक का अनुवाद है:—

> विधि-वस स्वजनों से बिछुड़ा मैं
> हुआ आज याचक तेरा
> नहीं अधम से माँगा मिलना,
> उत्तम से अच्छा फेरा

'उत्तम' से 'अच्छा' क्या होगा ? और 'उत्तम से अच्छा फेरा' का अर्थ क्या है ? भाषा अस्त-व्यस्त हो रही है !!

एक दूसरा छन्द है:—

> वहाँ रात को नहीं सूझती घनी अँधेरी में जब राह
> तभी रमणियाँ जाती होंगी रमणों के घर भरी उछाह
> कनक कसौटी की रेखा-सी, बिजली से दिखलाना बाट
> डरी नारियों को न डराना, बरस या कि दे गर्जन डाट

पद्यानुवाद में इस छन्द की भाषा सबसे अधिक शिथिल है। 'रमण वसतिं योषितां' बड़े अच्छे शब्द हैं। इनका 'रमणियाँ' और 'रमणों' के घर जाने का अनुवाद सजीव भाषा में नहीं कहा जा सकता। और फिर "दिखलाना बाट" या 'डरी नारियों को न डराना' कहाँ से आ गया ? 'राह दिखलाना' और 'बाट दिखलाना' में फर्क है। "बरस या कि दे गर्जन डाट" कर्कश भाषा के साथ-साथ अशुद्ध भाषा भी है।

'दिनकर' के 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती'

बिहार प्रान्त के युवक कवि 'दिनकर' ने 'रेणुका' और 'हुङ्कार' में देशभक्ति के साथ-साथ आत्माभिमान और आत्मगौरव का आदर्श सम्मुख रखकर बड़ी सुन्दर रचनाएँ साहित्य को प्रदान की थीं जिनमें माधुर्य और ओज उचित अनुपात में दिखाई देते हैं। 'दिनकर' की इन रचनाओं में से कई साहित्य की अनमोल निधि हैं। 'रेणुका' से मुख्यतः यह आशा हुई थी कि जैसे-जैसे अवस्था और अनुभव कवि का बढ़ेगा वैसे-वैसे काव्य-प्रतिभा और भी प्रस्फुटित होती रहेगी। यह कहना अभी कठिन है कि यह आशा किस समय तक पूर्ण हो सकेगी। परन्तु 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती' देखकर तो कुछ निराश होना पड़ा। दोनों में भाषा-शैथिल्य के साथ-साथ तन्मयता का अभाव प्रतीत होता है।

दोनों ग्रन्थ पढ़कर यही मालूम होता है कि कवि का हृदय किसी दूसरे स्थान पर है। कवि हृदय से नहीं, किसी अन्य कारण-वश कुछ न कुछ कविता लिख रहा है और उस कविता में कवि को अत्यधिक परिश्रम उठाना पड़ रहा है। कहीं-कहीं भाव अवश्य अच्छे हो गए हैं। परन्तु अधिकतर भाव साधारण ही रहे हैं और फिर भी भाषा सम्हल नहीं पाई। यथा:—

अपनी बात कहूँ क्या, मेरी
भाग्य-लीक प्रतिकूल हुई
हरियाली को देख आज फिर
हरे हुए दिल के फोले!

× × ×

हाँ, सच है, छाया सुरूर तो
होम और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिए प्रेम रस
जिए अगर बाउर होले ।

'फफोलों' को 'फोले' और 'पागल' को 'बाउर' लिखकर भी काव्य में कोई चमत्कार नहीं आ पाया।

'भाग्य-लीक' से 'भाग्य-रेखा' अच्छा शब्द है। शायद टेढ़ी 'लकीर के फ़क़ीर' या 'चर्वित चर्वण' भाषा वाले 'प्रतिकूल-लीक' कहते होंगे !! फिर 'सुरूर' और 'बाउर' का सम्मिलन कवि की यात्रा को सुखदायक रहा होगा। कहाँ उर्दू अदब का 'राजा सुरूर' और कहाँ बिचारा ग्रामीण 'बाउर तेली !' परन्तु कवि ने दोनों को एक ही छन्द में पास-पास बैठाकर 'विश्ववाणी' के नवीन साहित्य के लिये शब्द-सृष्टि प्रारम्भ कर दी है ! तुलसीदासजी का प्रसिद्ध पद है :—'बावरो रावरो नाह भवानी" वे भी 'नाथ' लिख सकते थे परन्तु 'बावरो' के साथ 'रावरो' और 'नाह' लाकर भाषा अच्छी बना दी है। वातावरण के उपयुक्त शब्द होने चाहिए।

दिनकर ने स्थान-स्थान पर 'याकि' का भी अनावश्यक प्रयोग कर डाला है। 'अथवा' के स्थान में फ़ारसी भाषा में 'या' का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में भी यही 'या' अव्यय माना जाता है। 'ताकि' के मुकाबिले में किसी पुराने ज़माने में 'याकि' का प्रयोग उर्दू में होता था। वर्षों पहिले यह 'याकि' सिर्फ 'या' ही बना दिया जा चुका है। परन्तु 'द्वन्द्व-गीत' और 'रसवन्ती' में 'याकि' अब भी शोभा बढ़ा रहा रहा है। एक-दो उदाहरण अनुचित नहीं होंगे ?

(१) भींग रहीं अलकें सन्ध्या की
रिमझिम बरस रहे जलधर
फूट रहे बुलबुले याकि मेरे दिल के छाले सजनी !

(रसवन्ती)

(२) खिल पायें तो कुसुम, खिलाओ
नहीं, करो पतझाड़ इसे
या तो बाँधो हृदय फूल से
याकि इसे आज़ाद करो
(द्वन्द्वगीत)

यहाँ भाषा के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो रहा है। एक स्थान पर यही लिख दिया है :—

तेरी याद, ध्यान में तेरे
विरह-निशा कटती सुख से
हँसी हँसी में किन्तु हाय,
दृग से पड़ता यह चू क्या है ?

'हाय,' शब्द बिलकुल निरर्थक एवं व्यर्थ घुसेड़ा गया है। और केवल 'तुक' मिलाने को 'यह क्या चू पड़ता है ?' को बिगाड़ कर 'पड़ता यह चू क्या है' कर दिया गया है।

एक सज्जन ने इसको देखकर लिख मारा :—

मैं नहीं जानता था अब तक
तुकबन्दी में 'हा हू' क्या है।
'द्वन्द्वगीत' की "हँसी हँसी" पढ़
समझा यह "चू चू" क्या है !!

एक दूसरे स्थान पर 'संध्या' काव्य में ही "इन्द्वा" चलता दिखाई पड़ रहा है।

अब साँझ हुई, किरणें समेट
दिनमान छोड़ संसार चला
यह ज्योति तैरती ही जाती
मैं डाँड़ चलाता हार चला

"दो डाँड़ और दो डाँड़ लगा"
दो डाँड़ लगाता मैं आया
दो डाँड़ लगी क्या नहीं, हाय,
जग की सीमा कर पार चला।

नवग्रह की जगह कवि ने शायद नव डाँड़े लगाने का प्रयत्न किया! सात सफल हुईं। दो शायद नहीं लगीं। तो भी सीमा पार कर चला। कौन? उत्तर 'हाय' में मिल जायगा। क्योंकि और किसी का तो जिकर तक नहीं किया गया। और, डाँड़ें लगाईं किस में? सूर्य में, या संध्या में, या भाषा की 'तैरती ज्योति' में ही? कुछ पता नहीं चल रहा है। भाषा बुरी तरह बिगड़ी है।

यदि आलोचक भी कवि की अन्तरात्मा से 'समान-वेदन-जनित' सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे तो सहसा कह उठेगा।

'हुंकार', 'रेणुका' को लिख कर
मैं अपना भार उतार चला;
'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत' में अब
करने कृत्रिम मनुहार चला!!
भाषा की 'ज्योति तैरती' में
'डाँडों' की दे दे मार चला!
तम से घबड़ा, कवि हार चला;
दिनकर भी कन्धा डार चला!!

निराला जी ने एक बार लिखा था:—

"तुम दिनकर के खर-किरण जाल
मैं सरसिज की मुस्कान"

शायद इसको पढ़कर खिलते हुए कमल पुष्प के समान कविता बनाने की सूझी हो!! परन्तु जहाँ हृदय में, कमल के स्थान में

चिनगारी हो वहाँ कमल स्थापित करने का प्रयत्न सफल कैसे हो सकेगा ? इसीलिए 'द्वन्द्वगीत' में कृत्रिम सौंदर्य की भरमार मिलती है। एक-दो उदाहरण देना अनुचित न होगा।

यह फूलों का देश मनोरम
कितना सुन्दर है रानी
इससे मधुर स्वर्ग ? परियाँ
तुझसी क्या सुन्दर कल्याणी ?
अरे, मरूँगा कल तो फिर क्यों
आज नहीं रसधार, बहे
फूल फूल पर फिरे न क्यों
कविता तितली-सी दीवानी ?

जहाँ फूलों का देश 'मनोरम' बताया गया है वहाँ अधिक मनोरम की बात पूछनी ठीक ही होती है। 'क्या स्वर्ग इससे भी मनोरम है ?' यह प्रश्न उचित होता। परन्तु "अधिक मधुर" का प्रश्न कहाँ से उत्पन्न हो गया ? क्या कहीं मिठास का भी वर्णन किया गया है ? या 'मधुर' और 'मनोरम' पर्यायवाची शब्द हैं ? और "परियाँ" कहाँ से आ गईं ? हे कल्याणी ! क्या तुझ सी सुन्दर "परियाँ" हैं ? इस छन्द में यह प्रश्न बेतुका सा है। शायद 'तितली सी दीवानी' कविता 'फूलों' को ही 'परियाँ' समझ रही हो ?

इसी प्रकार 'गीले सुख', 'नलिनी' 'अलिनी' 'शबनम' 'प्याला', 'हिमकण से भींगे गुलाब', 'पुलक स्मृति' को छन्दों में बाँधने का स्थान-स्थान पर प्रयत्न किया गया है। पर न तो कोई नवीन भाव ही आ पाया है; न काव्य कोई चमत्कार ही है। एक स्थान पर लिख दिया है

यह नलिनी-सी आँख जहाँ
काजल बन लघु अलिनी सोई

× × × ×

किस विरही ने तनु की यह
धवलिमा आँसुओं में धोई

क्या बात हुई ? भाषा की 'धवलिमा' 'पछीट पछीट' कर धोई जा रही है !!

पन्त जी का प्रसिद्ध छन्द है—

"वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान"

उर्दू और अंग्रेजी साहित्य में भी इसी भाव की सुन्दर कविताएँ हैं। क्रौंच पक्षी का विलाप सुनकर बाल्मीकि की भी कविता अनायास हृदय से निकल पड़ी थी। संस्कृत में अनेकों पद्य इसी भाव के हैं। इन सब को पढ़कर भी 'पन्तजी' के ऊपर लिखे छन्द में एक ऐसा सौंदर्य मिलता है जिसकी हृदय पर छाप लग जाती है और उसमें एक नये ढंग की 'मौलिकता' का आभास प्रतीत होता है। इसी भाव को 'बच्चन' ने बड़ी अच्छी भाषा में व्यक्त किया है—

मैं रोया, तुम इसको कहते हो गाना
मैं फूट पड़ा तुम कहते छन्द बनाना
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।

भाषा-प्रवाह के साथ इसमें एक ऐसी मस्ती मिलती है जो पाठक के हृदय के कोने-कोने में पहुँच कर उसे आनन्द-विभोर कर देती है।

'द्वन्द्वगीत' में भी कवि ने इसी भाव को अपना कर छन्द के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। परन्तु मस्ती के अभाव में छन्द निम्नलिखित हो पाया है:—

मेरे उर की कसक हाय
तेरे मन की 'आनन्द हुई
इन आँखों की अश्रुधार ही
तेरे हित मकरन्द हुई
तू कहता कवि मुझे किन्तु
आहत मन यह कैसे माने
इतना ही है ज्ञात कि मेरी
व्यथा उमड़ कर छन्द हुई

न तो भाषा-प्रवाह ही बन पाया है और न भाव ही ठीक-ठीक व्यक्त हो पाया है। किसी की आँखों के आँसू दूसरे 'के हित' मकरन्द कैसे बन जायँगे? 'तू' से क्या ईश्वर से तात्पर्य है या संसार से? यदि हृदय से उमड़ कर व्यथा चली होती तो वह वास्तव में उत्तम छन्द बन जाती पर कवि को इसका ज्ञान भी नहीं हो पाता। पन्तजी ने इसीलिए "वही होगी कविता अनजान" लिखा था!! 'इतना ही है ज्ञात' लिखकर कवि दिनकर यहाँ पर उसका ज्ञान होना स्वीकार भी कर रहा है। वास्तव में यह 'उर की कसक' नहीं है इसीलिए हृदय-द्रावक नहीं रही।

कहाँ 'पन्त' और 'बच्चन' की भाषा; कहाँ दिनकर की नक़ल का तमाशा? आकाश और पाताल का अन्तर है! 'रसवंती' के 'कवि' में भी दिनकर ने इन्हीं भावों को फिर से व्यक्त करने के प्रयत्न किये हैं परन्तु वहाँ भी प्रयत्न असफल हुए हैं। जिस विषय पर महारथियों ने अच्छी तरह लिख डाला हो, जिसमें ज़रा भी गुंजाइश नहीं रही हो उसी विषय पर कविता लिखने का प्रयत्न करना समय नष्ट करना नहीं तो और क्या है? प्रोफ़ेसर आज़ाद ने एक जगह लिखा था :—

"गोया खाए हुए, बल्कि औरों के चबाए हुए नेवाले हैं। हम

उन्हीं को चबाते हैं और ख़ुश होते हैं। ख़्याल करो, इसमें क्या मज़ा रहा ?"

यह आदेश हिन्दी के नवयुवक कवियों के लिए अत्यन्त महत्त्व का है। आज से सवा दो सौ वर्ष पूर्व 'खड़ी बोली' में 'शीतल' कवि ने जो सुन्दर भाषा-प्रवाह प्रदर्शित किया था उसी का विकृत एवं अशुद्ध रूप 'द्वन्द्वगीत' में देख कर किसको दुःख न होता होगा ?

× × × ×

अपनी इस कमी को समझ कर कवि ने 'रसवन्ती' की लम्बी भूमिका में अपने दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न किया है। 'विजनवती' में भी श्री इलाचन्द्र जोशी ने ऐसी ही बड़ी भूमिका लिखी थी। दोनों मानसिक अस्वास्थ्य के रोगी प्रतीत होते हैं। कितने पाठकों ने इन लम्बी भूमिकाओं को पढ़ने का कष्ट उठाया होगा, यह तो परमात्मा ही बता सकता है ! परन्तु यह सुगमता से कहा जा सकता है कि यदि गोस्वामी तुलसीदास जी इसी पद्धति पर चले होते तो गद्य में भूमिका-रूप उन्हें अयोध्याकाण्ड के बराबर एक दूसरा काण्ड लिखने पर मजबूर होना पड़ता !!

ऐसी भूमिका के पूर्व, दिनकर ने पद्य में भी एक भूमिका लिख दी है। यह भी लगभग १६ छन्दों में है। इसको मंगल-वचन कहना अच्छा रहेगा। इसका एक छन्द है :—

> निपुण गायकों की रानी, इनकी भी एक कथा है
> सुन लो, क्या कहने आये हैं, ये तुतली-सी लय से।

'रसवन्ती' के गीत 'तुतली वाणी' में नहीं बोलते, तुतली-सी वाणी में भी नहीं। तुतली-सी लय में बोलते हैं। छायावाद की भाषा में, गीतों को बच्चों के रूप में देखा जा सकता है, "तुतलाते बच्चों के रूप में भी"। परन्तु कहा यह ही जायगा कि यह गीत

"तुतली-सी लय में कथा कह रहे हैं। दूध के दाँत वालों की 'लय' तुतली ही होती है वाणी ठीक होती होगी !

रुनझुन-झुन पैंजनी चरण में
केश कुटिल घुँघर ले
नील नयन, देखो माँ ! इनके
दाँत धुले हैं पय मे ॥

किसी बच्चे के पैर में 'पैंजनी' 'रुनझुन-रुनझुन' की आवाज़ करती है परन्तु 'रसवन्ती' के गीतों की पैंजनी [रुनझुन-रुनझुन — (ऋण) रुन = रुनझुन-झुन] केवल 'रुनझुन-झुन' की आवाज़ ही करती है। क्यों ? का उत्तर 'नीरसवन्ती' में मिला करता है; 'रसवन्ती' में नहीं इसमें तो वेदान्त सूत्र की भाषा है। "रुनझुन-झुन पैंजनी चरण में" इतना कह कर कवि छोड़ देता है। पाठक अपने दिमाग़ में भाषा को इस तरह ठीक कर सकते हैं कि "रुनझुन-झुन करके पैंजनी चरणों में बजती हैं" या ऐसी बजनेवाली पैंजनी गीतों के चरणों में हैं। कवि की तो केवल सांकेतिक भाषा है।" "दाँत दूध के हैं—" यह न कह कर, वह केवल यह कह देता है कि इनके दाँत पय से धुले हुए हैं। यह 'पय' मातृस्तन का है या बाज़ार का—कवि नहीं बतलाना चाहता !

यह तो मंगल वचन-की भाषा है। इसमें बता ही दिया गया है कि इन गीतों के दाँत दूध से धोकर साफ़ कर दिये हैं। दात देखो तो स्वच्छ पाओगे। पैरों में पायजेब हैं जब नाच-गान होगा तो यदि एक 'रुन' टूट न गया होता तो समताल की भनक पड़ती। परन्तु अब 'तुनती लय' सुनाई देगी। "फिर भी इनकी कथा सुन ही ली जानी चाहिए" कवि ऐसी प्रार्थना कर रहा है। कथा सुनते समय निम्नलिखित आशय ध्यान में रखना चाहिए—

रुनझुन-रुनझुन का 'रुन' टूटा,
गाते तुतली लय से !
बात-बात में, "दूध-धुले" कह,
दाँत दिखाते हय से ॥

× × × ×

जहाँ प्रारम्भ में ही यह हाल हो वहाँ भाषा और भाव में किसी सौंदर्य की आशा करना व्यर्थ है। बिना विशेष टीका-टिप्पणी के, 'कथा' के निम्नलिखित उद्धरण पढ़ लेने चाहिए:—

(१) चिलचिलाती धूप का यह देश
कल्पने ! कोमल तुम्हारा वेश
लाल चिनगारी यहाँ की धूल
एक गुच्छा तुम जुही के फूल

एक कली नहीं; एक फूल नहीं, फूलों का गुच्छा और वह भी जुही के फूलों का गुच्छा !! कहाँ दिखाई पड़ेगा ? शायद वृक्ष या बेल से तात्पर्य हो !! शरीर तो कोमल होता ही है। परन्तु शायद फैशनेबिल 'वेश' को कोमल वेश कहा जाता हो ! "यहाँ की धूल लाल चिनगारी है"—धूल का कण नहीं; पूरी सामूहिक धूल एक लाल चिनगारी बताई है, उसी तरह जैसे फूलों का गुच्छा बताया गया है। कहाँ की धूल का वर्णन है ? सहारा मरुभूमि की क्या ? कवि नहीं उत्तर देते। समझ लो 'रसवन्ती' की ही धूल है।)

(२) 'ओस-तृण' को आज सिर्फ विसूर
चल रहा मैं बाग-बन से दूर

'ओस-तृण' क्या ? 'बाग-बन' !! क्या दोनों कहीं मिले हुए पाए गए थे ? 'सिर्फ' की क्या जरूरत थी ?

(३) बालुओं का दाह मेरे ईश
औ गुमरते दर्द की यह टीस

तुकबन्दी की टीस प्रतीत हो रही है

(४) ओदी आँच धुनी बिरहिणि की;
नहीं लपट की चहल-पहल सखि !
तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि !!

घास तो धधकते ही आनन-फानन में स्वाहा हो जाती है। 'धधक-धधक' में बहुत देर तक जलती रहने का आशय निहित है, जो 'तृणवत्' में असंभव है। 'ओदी आँच' 'विरहिनि की धुनी' 'लपट की चहल-पहल' 'रसवन्ती' में रस बरसा रहे हैं !!

(५) मंगलमय हो पंथ सुहागिनि
यह मेरा बरदान
हरसिंगार की टहनी-से
फूलें तेरे अरमान

यह नववधू को आशीर्वाद है !! हरसिंगार के फूल थोड़ी देर तक ही ठहरते हैं। थोड़ी देर में ही झड़ जाते हैं। यह पता भी नहीं चलता कब झड़ गए !! कवि कहता है "हे नव वधू ! तेरे भी अरमान इसी भाँति थोड़ा फूलकर एक दम ही झड़ जायँ !!"

(६) छाया करती रहे सदा
तुझको सुहाग की छाँह
सुख दुख में ग्रीवा के नीचे
रहे पिया की बाँह

'छाया' और 'छाँह' में क्या भेद है ? क्या यह कहना ठीक होगा कि वृक्ष की 'छाया' 'छाँह' करती रहे ? "तुझको" छाया

करती रहे या 'तेरे ऊपर'? 'पिया की बाँह' तेरी ग्रीवा के ही नीचे सुख-दुख में दबी रहे! बिलकुल तकिया का काम दिन-रात लेती रहना!! समझी! नववधू। काम करने को घर से बाहर मत जाने देना।

(७) तुम रीझ कर किसे करोगे
पहला फल अर्पण-सा
झुकते किसको देख पोखरा
चमकेगा दर्पण-सा

साहित्य का दम घुटता नज़र आ रहा है!! 'अर्पण' करेंगे? या 'अर्पण-सा' करेंगे? तालाब के पानी में, यदि चहरा दिखाई पड़े, तो 'तालाब दर्पण-सा चमकता हुआ है"—ऐसा तो कोई नहीं कहा करता। 'पोखरा' से भी अधिक ग्रामीण शब्द होता तो साहित्य की अभिवृद्धि का अवश्य सूचक होता।

× × ×

यह तो थोड़े से उदाहरण हैं। 'रसवन्ती' में प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे उदाहरण मिल जावेंगे!! कई पत्र-पत्रिकाओं में 'बालिका से वधू' में स्वाभाविक चित्रण बताया गया है। कितना स्वाभाविक है? निम्नलिखित पंक्तियों से पता चलेगा:—

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम-सी
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी
यौवन की बिनती-सी भोली गुमसुम खड़ी शरम-सी
पीली चीर कोर में जिसके चकमक गोटा-जाली
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली

चमचम सी बेंदी है; पपनी पर दो बूँदें शबनम-सी, मोती सी हैं।

नरम-सी, शरम-सी, विनती-सी, गिनती सी—न जानें क्या-क्या सी है ? अवश्य स्वाभाविक वर्णन है। एक नरम सी टहनी शायद जेवर या चूड़ियों से लदी हुई है। और

मुस्की आ जाती मुख पर
हँस देती, रोती अँखियाँ

स्वयं तो हँस देती है; पर उसकी आँखें रो देती हैं !! ऐसे कहना अच्छा रहेगा कि वह तो विचारी कहीं की नहीं है। उसके पैर चल देते हैं, उसके हाथ काम कर देते हैं; उसके दाँत खाना खा लेते हैं; उसके कान सुन लेते हैं; उसकी नाक सूँघ लेती है; उसका मुँह हँस देता है और उसकी आँखें रो देती हैं ! कितना स्वाभाविक वर्णन है ? परन्तु हँसती तभी है जब 'मुस्की' मुख पर आ जाती है। अगर 'मुस्की' चेहरे पर न आवे तो वह नहीं हँसेगी ! 'मुस्कराहट' और 'हँसने' में फ़र्क़ हो या न हो; नववधू तभी हँसेगी जब मुस्कराहट की मुस्की चेहरे पर आ जावे !! कितना स्वाभाविक वर्णन है ?

और जब विदाई होती है तब और भी अधिक स्वाभाविक वर्णन हो जाता है:—

भींग रहा मीठी उमङ्ग से
दिल का कोना कोना
भीतर-भीतर हँसी देख लो
बाहर - बाहर रोना

'मीठी उमङ्ग' शायद 'गंग की तरङ्ग' होती होगी जो गीली रहती होगी या पानी ले जाकर दिल का कोना-कोना भिगो देती होगी। कवि का अर्थ यह है कि मीठी उमङ्ग दिल के कोने-कोने में समा गई है; और भाषा कैसी ही हो—यह भाव ठीक-ठीक ही चित्रण हुआ है। परन्तु छन्द का दूसरा चरण एक ऐसी कन्या का चित्र है जिसे अपने माता, पिता, भाई, बहिन, घर द्वार का किंचित्

मोह नहीं मालूम होता है। जिस घर में वह पाली गई, जिस घर में उसके १६ बरस कटे हों क्या यह संभव है कि उस घर को प्रथम-प्रथम छोड़ते समय उसे दुःख न होता होगा? क्या यह स्वभावतः एक भोली-भाली कन्या का ही चित्रण है? क्या यह संभव हो सकता है कि बिछोह के समय उसकी माता का हृदय दुःख से फटा न जा रहा हो! क्या 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में ऋषिवर कण्व का यह कहना झूठा था कि उनका हृदय अधीर हो रहा है और जब उन सरीखे वन में रहने वाले तपस्वियों का यह हाल है तो न जाने गृहस्थों का तो क्या हाल होता होगा? माता, पिता, भाई, बहिन का जो हाल होता है; क्या उनका सच्चा दुःख कन्या के हृदय को प्रभावित किए बिना रह सकता है? वास्तव में, विदा के समय, कन्या के हृदय में सुख-दुःख की तरंगे बारी-बारी से आती रहती हैं। मिश्रित भावनाएँ, धूप-छाँह की तरह, उसके हृदय में समा जाती हैं। पति से मिलने की उमङ्ग का सुख एक ओर, तो अपने घर, माता, पिता, भाई, बहिन से बिछुड़ने का दुःसह दुःख दूसरी ओर बना रहता है। यही सोचकर कालिदास ने शकुन्तला से कहलवाया है कि "आर्यपुत्र के दर्शन की अभिलाषा बढ़ती जाती है परन्तु आश्रम छोड़कर आगे बढ़ने को पैर तो साथ दे ही नहीं रहे।" आगे चलते हुए भी कभी शकुन्तला वन-ज्योत्स्ना से लिपट जाती है कभी आम्र की मंजरियों से बात करने लगती है, कभी हिरण के बच्चे से मिलने लगती है, कभी विह्वल होकर रोने लगती है और फिर बढ़ती चली जाती है। वास्तव में, यही स्वाभाविक वर्णन हो सकता है। "भीतर-भीतर हँसी" में तो भाव व्यक्त नहीं हो सकता। ऐसे समय, हँसी तो किंचित् भी नहीं होती। 'उमङ्ग' हुआ करती है और उमङ्ग और घर से बिछुड़ने का दुःख दोनों हृदय के अन्दर ही रहते हैं। 'दिनकर' का वर्णन बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होता है। साथ साथ अनुभव और सूक्ष्म निरीक्षण की कमी का आभास भी दिखाई देता है।

श्री नरेन्द्र की पाँच रचनाएँ

(१ प्रभात फेरी, २ प्रवासी के गीत, ३ पलाशवन, ४ मिट्टी और फूल, और ५ कामिनी ।)

श्री नरेन्द्र एक युवक कवि हैं। उनकी प्रधान रचना 'प्रभात फेरी' में सुगठित एवं आवेगमय भाषा की प्रधानता है। काव्य-प्रतिभा एवं भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ मौलिक विचारों के कारण उनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। जब 'बबूल' के काँटेदार वृक्ष के लिए हम पढ़ते हैं :—

मैं हूँ एक समान अहर्निशि
एक रूप प्रतिवार
मेरी जयश्री-विश्व-विजय-श्री—
यह काँटों का हार"

तो भाषा और भाव का सुन्दर सम्मिलन हमें उनकी ओर बरबस खींच ले जाता है। 'इतिहास' पर उनकी कविता सर्वथा मौलिक ही समझी जायगी :—

जलते रहते बुझते रहते
पर जलते फिर बुझने वाले
इतिहास सिखाते हैं कैसे
उठ जाते हैं गिरने वाले

इसी प्रकार 'रूढ़िवाद' पर ये पंक्तियाँ मार्के की हैं।

यह मूर्तिमान जाग्रत मसान
अरमान और इच्छाओं का
यह कारागार, भार भूका,
जिसको जग कहता है समान।

है जीने का अधिकार जहाँ
हमको क़िस्मत की मर्ज़ी पर
जड़ रूढ़िवाद के शव को जो
जीवित करता है, आह आज!
पर पागल कवि, क्या इसे नष्ट कर पाएगा तेरा विवाद?
निष्ठुर पाषाण-शिलाओं से निर्मित है, दृढ़ गढ़ रूढ़िवाद!

इसी तरह 'प्रयाग' पर निम्नलिखित पंक्तियाँ अपना स्वतंत्र स्थान हमारे हृदय में बना लेती हैं :—

दुख भी हलका हो जाता है,
अब देख-देख परिवर्तन-क्रम
फिर कभी सोचने लगता हूँ,
यह जीवन सुख-दुख का संगम
बेबसी सदा की नहीं,
सदा की नहीं ग़ुलामी भी मेरी
रे काल क्रूर, क्या कभी नहीं,
फिर करवट बदलेगी तेरी!

हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि 'प्रभात फेरी' में भाषा दोष नहीं हैं। ये तो बड़े-बड़े कवियों की रचनाओं में भी मिल जाते हैं। परन्तु जहाँ गुणों की भरमार होती है, नवीन भाव और उक्ति वैचित्र्य और भाषा में एक रूपता होती है, वहाँ साधारण भाषा-दोष खटकते नहीं। 'प्रभात-फेरी' के गुणों में भाषा दोष छिपे हुए पड़े हैं। वे खटक नहीं सकते। 'प्रभात फेरी' में 'अलिदल,' 'सतत प्रतीक्षा', 'अनन्त प्रतीक्षा', 'भिखारिन', 'वेश्या', 'रुद्ररूप भारत', 'शिव-स्तुति' और 'जरा चिन्तन' पर कविताएँ पढ़ने के योग्य हैं।

'प्रभात-फेरी' के बाद कवि ने 'प्रवासी के गीत' नाम से अपनी रचनाएँ प्रकाशित की हैं। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्टवादिता का अभिनय करते हुए प्रकट किया है, हम यह नहीं

मान सकते कि यह क्षय रोग से ग्रसित कवि की रचनाएँ हैं। कहीं-कहीं भाव बड़े सुन्दर मिल जाते हैं।

साथ ही यह भी सही है कि 'प्रवासी के गीत' में कहीं-कहीं भाषा शिथिल हो गई है, कहीं-कहीं भाव में मौलिकता नहीं रही है और कल्पना की कमी भी कहीं-कहीं प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।

'प्रवासी के गीत' के बाद तीन रचनाएँ (१) 'पलाश वन', (२) 'मिट्टी और फूल' और (३) 'कामिनी'—एक के बाद एक, बड़ी शीघ्रता से, निकलती चली आईं। यदि ये रचनाएँ शुद्ध, सुगठित, मधुर और ओजमयी सशक्त भाषा में होतीं, यदि ये शब्द-सौंदर्य से भावमय चित्रों को प्रस्तुत करने में सफल हुई होतीं तो अवश्य ही हिन्दी की गौरवमयी रचनाएँ समझी जातीं। परन्तु यह देख कर अत्यन्त खेद होता है कि 'प्रभात-फेरी' तो दूर—'प्रवासी के गीत' के मुकाबिले में भी यह तीनों रचनाएँ कहीं नीचे दर्जे की हैं।

× × × ×

साहित्यिक वातावरण से दूर—वास्तविक जगत में सत्य माने हुए एक सिद्धान्त पर हम कविवर का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते हैं। कृषि-शास्त्र या अर्थशास्त्र में 'घटती पैदावार के उसूल' या 'उत्पत्ति में न्यूनता के सिद्धान्त' का बड़ा महत्व है। साधारण किसान इससे भली भाँति परिचित होता है। किसी जमीन के टुकड़े (खेत) को जल्दी-जल्दी जोतने और बोने का परिणाम यह होता है कि उसकी पैदावार धीरे-धीरे घटने लगती है और वह दिन आ जाता है जब खेत बंजर हो जाता है—उस भूमि की उर्वर-शक्ति जाती रहती है। साधारण किसान पैदावार कम होते देखते ही दो साल को उस खेत को छोड़ देता है। वह 'पड़ती' की जमीन कहलाती है। अँग्रेजी में इस सिद्धान्त को Law of Diminishing Returns कहते हैं।

जिस प्रकार यह सिद्धान्त भूमि की उर्वर-शक्ति पर लागू होता

है उसी प्रकार मस्तिष्क की कल्पना-शक्ति पर भी लागू होता है। जल्दी-जल्दी मस्तिष्क से काम लेते रहने पर कल्पना-शक्ति कम होती जाती है। आधुनिक रचनाओं में इस सिद्धान्त का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'साकेत' इसका अच्छा उदाहरण है। 'यामा' में बहुत से छन्द उदाहरण रूप भरे पड़े हुए हैं। पन्त जी और निरालाजी की कल्पना-शक्ति उचित विश्राम के अभाव में क्षीण होती जाती है। 'दिनकर' का हाल हम पहिले देख चुके हैं। अँग्रेज़ी में कविवर वर्डस्वर्थ (Wordsworth) की बहुत सी रचनाएँ इसी तरह की हैं। इसे मानसिक अस्वास्थ्य का ही एक रूप माना जाता है; परन्तु है यह असल में 'घटती पैदावार' का ही सिद्धान्त।

श्री नरेन्द्र जी की पिछली तीन रचनाओं में इस सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण मिलता है। और उनके लिए उचित काल तक विश्राम लेना अनिवार्य है अन्यथा भविष्य में यदि और रचनाएँ होंगी तो उनमें भाषा तो शिथिल होगी ही—कल्पना भी नाममात्र को ही दिखाई पड़ेगी।

× × × ×

'कामिनी' का प्रारम्भ कवि ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। प्रारम्भ में भाषा भी अच्छी है। परन्तु मध्य-भाग तो बिलकुल बिगड़ गया है और फिर कहीं-कहीं तो अत्यन्त साधारण भाव भी ठीक तौर से व्यक्त नहीं हो पाए। यह पता नहीं चलता कि 'कामिनी' में 'कामायिनी' की नक़ल है या 'मधुकण' के अन्तिम भाग का भावापहरण। 'यामा' के बहुत से भाव और शब्द कवि ने अपनाने का प्रयत्न किया है और 'साकेत' के नवम् सर्ग के नाना छन्द और 'उर्मिला' के विलाप के भाव लेकर कवि ने 'कामिनी' को सजाने की कोशिश की है।

पुनरुक्ति दोष तो 'कामिनी' में इतना भरा पड़ा है कि जगह-जगह यही लिखा मिलता है :—

कामिनी, मैं जा रहा हूँ दूर—कोसों दूर,
बहाए ले जा रहा मुझको नियति-गति-पूर
विवश हूँ, बढ़ चले मेरे पाँव अपने आप
कामिनी, मैं करूँ क्या, मुझको नियति का शाप

× × × ×

तुम कहोगी—जा रहे हो क्या न अपने आप,
किन्तु बाँधे है मुझे निष्ठुर नियति का शाप !

कई छन्द बिलकुल वैसे के वैसे ही बार-बार दुहरा दिए गए हैं जिससे विलाप भी हास्योत्पादक हो गया है।

यह भी पता चलता है कि कवि के नव-हृदय को चन्द्रमा और चाँदनी ने अत्यन्त प्रभावित किया है। 'प्रवासी के गीत' में--

(१) "आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझ कर"
(२) "चाँदनी के चार दिन थे मधुमिलन के दिन हमारे"
(३) "कह सकेगा कौन कड़वी बात ऐसी चाँदनी में"
(४) तुम चन्द्र किरण-सी खेल रही हो"

अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं। 'पलाशवन' में फिर 'चाँदनी' और 'चाँदनी में भ्रम' आ जाते हैं। 'मिट्टी और फूल' में (१) चाँदनी (२) इन्दु से (३) उजाली रातें (४) पंचमी आज (५) पंचमी का चाँद (६) द्वादशी का इन्दु (७) नवमी की चाँदनी इत्यादि अत्यन्त साधारण कोटि की कृतियाँ मिल जाती हैं। और 'कामिनी' में तो चाँदनी स्थल-स्थल पर बिखर रही है।

नरेन्द्रजी की 'चाँदनी' कितनी बेतुकी-सी मालूम होती है यह 'मिट्टी और फूल' के निम्नलिखित छन्दों से पता चल जायगा--

(१) हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली-सीरी धीरी पुरवय्या !

पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चन्दा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

"लजीली सीरी धीरी पुरवय्या" "चपलप्राण चन्दा" और "चमचम नय्या" में भाषा ही विचारी नीम की डाल सरीखी हिल रही है। शायद पंचमी की रात्रि को इसी का महत्त्व है !

(२) आज चाँदी की कटारी की तरह
दीखता है पंचमी का चाँद यह !
देख इसको कट सकेगी रात कुछ,
और भी—कट जायगा कुछ तो विरह !
× × × ×
देख बादल—लगा रेवड़ खड़ी भेड़ !
देख कैसे मौन साधे खड़े पेड़ !
देख तारे भी खिले दो-चार जो,
उड़ वहाँ तू कल्पना को लगा एड़ !

यहाँ चाँदी की कटारी की तरह चाँद कह-कह कर विरह काटा जा रहा है। कितनी सुन्दर तरह से कल्पना को एड़ लगाई जा रही है ? भेड़ों का रेवड़ सचमुच इस एड़ की प्रशंसा कर रहा है। पंचमी के चाँद को अवश्य भेड़ें मनमोहक प्रतीत होती हैं !!

(३) दूध-धुला आकाश दीखता लिपी फेन से धरती,
सुघर चाँदनी लिपे-पुते में पाँव न धरती, डरती;
सचक-रचक यों धर धीरे पग सुधि भी लगी उतरने !

यह नहीं बताया गया, किसके फेन से धरती लिपी हुई या 'लिपी-पुती' थी। शायद गोबर के फेन से हाल ही लीपी गई थी। कहीं पाँव न गोबर में 'सन' या 'लिस' जाय, इसी डर से चाँदनी

पैर रखने में डर रही थी और शायद इसीलिए सुधि भी 'अचक-पचक' कर कल्पना में एड़ लगा रही थी !

पंत जी की 'चाँदनी' के ये छन्द कितने सुन्दर हैं !

वह एक बूँद संसृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम-सुखमा में
सब ओर छोर के अन्तर।

× × × ×

वह शशि-किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई,
अपनी ही छवि से सुन्दर।

कहाँ यह स्वाभाविक वर्णन और कहाँ 'मिट्टी और फूल' का अस्वाभाविक वर्णन !!

× × ×

हिन्दी की नवीन रचनाओं में इधर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से दिखाई पड़ने लगी हैं। सुगमता के लिए हम इन प्रवृत्तियों को 'कुल्हड़' और 'अलहड़' प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं।

पत्तल, दोना, और शिकोरा के साथ मिट्टी का 'कुल्हड़' या 'डबुआ' बुरा नहीं मालूम होता। वहाँ पर गिलास बुरा मालूम देगा। परन्तु जहाँ थाली, कटोरी और गिलास मौजूद हों—या जहाँ प्लेट, तश्तरी और रक़ाबी और गिलास पहिले से रखा हुआ हो वहाँ बाक़ी वस्तुओं पर कोई उज्र न करके केवल गिलास पर एतराज़ करना सही नहीं जँचेगा। वहाँ अनावश्यक होते हुए भी, यह कहना कि कुम्हार के यहाँ से 'कुल्हड़' मँगा कर ही हम पानी पिएँगे—समीचीन प्रतीत नहीं होगा।

हिन्दी के कुछ नवीनता प्रेमी कवियों में आज यह 'कुल्हड़'

प्रवृत्ति बुरी तरह दिखाई दे रही है। खड़ी बोली में सरस शब्द यद्यपि आसानी से मिल जाते हैं तो भी गाँव में जाकर 'कुल्हड़' सरीखा नीरस शब्द खोज कर कविता में कहीं न कहीं ठूँस देना इस मनोवृत्ति का परिचायक है। समालोचक महोदय इसको या तो 'शुद्ध प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र' कह कर या 'सीधी सादी अभिव्यक्ति' कह कर प्रशंसा कर देते हैं। गाँव में जाकर वहाँ के गवैयों से यदि गीत सुने जायँ तो ग्रामीण साहित्य के अगाध सागर में भी अच्छे-अच्छे मधुर एवं सरस शब्द मिल जायँगे, परन्तु उनको छोड़, साधारण बोल-चाल के एक-दो नीरस शब्दों को खड़ी बोली के परिष्कृत शब्दों के बीच में बैठा देना ही मानों इन कवियों के लिए प्रगतिवाद का प्रमुख कार्य रह गया है। दरअसल ऐसे नव कवि

"इस पै मचले हैं कि हम ज़ख्मे जिगर देखेंगे"

भाषा के 'ज़ख्मे जिगर' के उदाहरण 'मिट्टी और फूल' और 'कामिनी' में बहुत मिल जायँगे। एक जगह ग्रामीण साहित्य का एक सरस गीत:—

चौमुख दिवला बार--
धरूँगी चौबारे पै आजु
सखीरी, चौमुख दिवला बार

कवि ने अपना बना कर, खिचड़ी भाषा में नीरस करके, 'कामिनी' में रख दिया है। यदि यह ग्रामीण साहित्य में ही बना रहता तो इसकी सरसता न नष्ट होने पाती!

एक दूसरे स्थल पर कृत्तिका, मृगशिरा एवं सप्तऋषि का वर्णन आधी ग्रामीण आधी खड़ी बोली में रख दिया है जो खंड-काव्य की अवश्य ही 'शोभा' बढ़ा सकेगा! पढ़ने योग्य है। लिखा है:—

हलकी झलमल ज्योति जगाता
सात सखी का झूमका!

पच्छिम ओर गगन में आया हिरनी पैना
नीलम नग लुब्धक डबडब-छलछल दो नैना,
मेरी आँखों में मोती—
दृगजल कपोल युग चूमता !
ध्रुव के चारों ओर सप्तऋषि, ग्रह सूरज के
घूम रहे, मैं भी घूमूँ चहुँदिशि पद-रज के
ज्यों परिक्रमा में पृथिवी की
नित्य कलाधर घूमता !

कृत्तिका पुंज को 'सात सखी का झूमका', मृगशिरा को 'हिरनी पैना' लिखकर 'झूमका' और 'चूमता' 'घूमता' की तुक मिलाई है। 'नीलम नग', 'डब डब', 'छल छल', 'पच्छिम की ओर' का क्या अर्थ है ? भाषा भी कवि के 'पद-रज' के 'चहुँदिशि' घूम रही है।

ऐसी तुकबन्दियों के लिए सैयद 'इन्शा' की 'टोन' में 'टोल' मिला कर आसानी से कहा जा सकता है :—

न संस्कृत, न अर्बी; न फ़ारसी, न तुरकी
न हिन्दी, न उर्दू; न गाँव की, न पुर की
न सम की, न राग की; न ताल की, न सुर की
भाषा है 'कामिनी' के कवि-कुल-गुरु की !!

एक स्थल पर लिखा है :—

घायल हिरनी सी बबराती
बिछुड़े सारस सी डकराती
मैं रातों नाम रही रटती।

सारस का 'डकराना' भैंस के डकराने से कम नहीं है। गाँव वाले यदि सारस का 'डाकना' कहें तो कवि लोग 'डकराना' कहने

लगेंगे !! और हंस तो शायद आधुनिक कविता में 'रेंकने' लगता होगा !!

कहाँ तो सारस का भैंस की तरह 'डकराना' और कहाँ—

टिटिहरी की ट्रिल टिरिल ट्रिल
शून्य नभ में खो रही !

शायद यह किसी फ्रन्ट पर टिटहरियों की 'ड्रिल' हो रही है या पन्त जी की नक़ल ? ख़ैर तुक तो मिलानी ही अच्छी !! मिलाइए।

गिलहरी की 'ग्रिल गिरिल ग्रिल'
काव्य में अब हो रही !

(२)

साहित्य में 'कुल्हड़' प्रवृत्ति के उदाहरण श्री नरेन्द्र की 'कामिनी' में अच्छे-अच्छे मिल जायँगे। हिन्दी के कुछ नवीनता प्रेमी-कवियों में आजकल 'कुल्हड़ प्रवृत्ति' बुरी तरह दिखाई दे रही है। खड़ी बोली में यद्यपि सरस शब्द आसानी से मिल जाते हैं, फिर भी अपनी कविता को 'ग्राम्या' बनाने के लिए कुल्हड़ सरीखे देहाती तथा नीरस शब्द खोज-खोज कर अपनी कविता में कहीं न कहीं कस देना, इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। यथा :—

(१) चल री, कहती मुखर पायल
तट बिछुल, जाएँ कहीं बिछुल

(२) सोए आज समय के प्रहरी
बहती जाती नदिया गहरी,
धारा में उतरी दोपहरी
उछल रहे चाँदी के टुकड़े
लहर नाचतीं, हँसती मछियाँ
चहक रहे चिड़ियों के बच्चे,
बाज रही छुन छुन पाँजनियाँ

धारा में दोपहरी कैसे उतर आई ? गहरी नदी में क्या उतरते डर लगता था ? या धारा किनारे पर ही थी जहाँ उतर आई ? चाँदी के टुकड़े उछलने से और 'मणियों' के हँसने से क्या तात्पर्य है ?

(३) कीच-काँदों से भरे पर श्रमिक जन के वास,
जहाँ मच्छर-मक्खियों से रात दिन का त्रास
है घिनौने से घिनौने जहाँ अगणित रोग,
छिन गया है आज जिनसे नींद का सुख भोग !

'कीचों-काँदों' कर दिया जाता तो "घिनौने से घिनौने" का भाषा में भी दर्शन हो जाते !

(४) हाय मनुज समाज, तेरे मढ़े दोनों छोर
हैं उनींदे श्रमिक भी औ धनिक भी उस ओर !

उनींदे श्रमिक ही हैं या उनींदे धनिक भी ? दोनों 'उस ओर' हैं तो 'इस ओर' कौन रहा ? कीच-कांद या मच्छर-मक्खियाँ ?

कुल्हड़ प्रवृत्ति के नमूनों की नरेन्द्र की रचनाओं में भरमार है। 'मिट्टी और फूल' में भी ऐसे ही उदाहरण स्थल-स्थल पर मिल जाते हैं। यथा—

(१) दूर सुनाई देती थी वह
सरपट टापों की पटपट
कभी रात के सूनेपन में
नन्हीं बूँदों की आहट—

बूँदों की 'आहट' (यानी उनके पैरों से चलते समय होने वाला शब्द) घोड़ों के 'सरपट टापों की पट पट' से भी अधिक आवाज कर रही थीं—परन्तु वह बूँदें 'नन्हीं' ही बनी रही थीं। सो भी दूर से सुनाई देती थी और कोई टीन भी नहीं थी !

(२) छोड़ समन्दर की लहरों की
नीलम की शीतल शय्या
आती थी वह बंगाले से
जंगल जंगल पुरवैय्या

समुद्र की शीतल शय्या हो भी सकती है और वह एक बड़ा नीलम माना भी जा सकता है। परन्तु लहरों के ऊँचे चढ़ने और फिर नीचे उतरने में शय्या तो झूला सी झूलती प्रतीत होगी और ऐसा झूला शायद पालने का नीलम माना जा सकेगा !

'पुरवय्या' ऐसे पालने को छोड़ कर चल दी। इसीलिए शायद ग्रामों और नगरों को बड़े यत्न से बचाती हुई, जंगल जंगल होती हुई, कवि के घर पर पहुँची थी !

(३) कुरता चिपका जाता तन पर,
धोती करती मनमानी;
छप छप करते थे जूते जब
बहता था सिर से पानी

सीदी-साधी अभिव्यक्ति है, धोती मनमानी कर रही थी ! कमबख्त कहीं की, तभी तो 'कंट्रोल' आया। और जब सिर से पानी बहता था तभी जूते छप-छप करते थे। सिर से पानी नहीं बहता था तो छप-छप नहीं करते थे। सिर भी महादेवजी का होगा और तभी सिर से गङ्गा का पानी बहने लगा होगा !

(४) भरी भरन उतरी सिर पर से
कहाँ साईकिल चलती थी
घर के द्वारे कींच-कांद थी
चप्पल चपल फिसलती थी।

(५) आई है बरसात यहाँ भी—
आज ऊभना, कलझर था !

होते यों दिन-रात यहाँ, पर
अन्तर धरती-अम्बर का !

(६) यहाँ नहीं अमराई प्यारी
यहाँ नहीं काली जामुन,
है सूखी बरसात यहाँ की
मोर उदासा गर्जन सुन !

'द्वारे', 'कीच-काद', 'ऊझना, 'मोर उदासा' से कुल्हड़ी भाषा का सौष्ठव ख़ूब बढ़ रहा है।

(७) कौंध रही बिजली रह रहकर
चुँधिया जाती हैं आँखें,
मन मारे मन पंछी बैठा है
समेट भीगी पाँखें ॥

यह 'मन-पंछी' विचारा दुखी है। तभी तो पाँखें समेट कर बैठा हुआ है। कवि अपना मन मार रहा है सो तो ठीक है। परन्तु कवि का 'मन-पंछी' भी अपना मन मार रहा है। यही तो काव्य-चमत्कार है। चक्र के भीतर चक्र! और आँखें किसकी "चुँधियाती होंगी", मनपंछी की या कवि की ?

(८) डोल रहे होंगे पटबिजना
जलते जैसे चूर कपूर

जुगनू जल रहे होंगे, यानी 'चूर कपूर' की भाँति जल रहे होंगे ? या दोनों हो रहे होंगे ? जल जायँगे तो डोलेंगे कैसे ?

(९) भरी पोखरों में
भैंसों की यहाँ पल्टनें फट पड़तीं !

बरसात में और कुछ दृश्य ही नहीं देख पाया ! भैंसों की कितनी पल्टनें होंगी ? गाँव तो छोटा-सा दिखाई पड़ता है !

भरे हुए पोखरे ? या 'भरी पोखरे' ? 'महिपासुर' की माया में कवि अपने आपको भूल रहे हैं !

(१०) इतना ओछा हूँ मैं—छिन में
कर लेता हूँ मन छोटा !
ओखा हूँ मैं—और नहीं तो
कहता क्यों जग को खोटा ?

'ओछा' और 'ओखा' का फर्क कितना बारीक है ?

'कुल्हड़' प्रवृत्ति के साथ-साथ 'अल्हड़' प्रवृत्ति के उदाहरण भी श्री नरेन्द्र के साहित्य में काफ़ी मिल जायँगे। 'अल्हड़' शब्द में व्यवहार-ज्ञान एवं अनुभव की कमी के साथ-साथ, असावधानता के साथ, जिधर मन हो उधर चल देने का भाव निहित है।

एक कविता 'गाँव की धरती' 'मिट्टी और फूल' के अन्तर्गत है। कई समालोचकों ने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। यह कविता इस प्रकार प्रारंभ होती है:—

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती !
खेतों खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती !
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की, इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती !

भावों में कोई चमत्कार तो नहीं है। दोपहरी से गर्मी का बोध होता है। परन्तु ढलते जाड़ों की ढलती दोपहरी शायद ठंडी हो गई होगी। जब तिथि बताई गई तो महीना भी बताया जा सकता था। 'ढलता' और 'दोपहरी' शब्द निरर्थक एवं भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। एक सर्दी, दूसरा गर्मी का बोध कराता है !

दूसरे छन्द में शहर वालों पर बेतुका-सा व्यङ्ग है :—

शहरों की बहू-बेटियाँ हैं
सोने के तारों से पीली

सोने के गहनों में पीली
यह सरसों सी पीली धरती !

'सोने के तारों से पीली' का मतलब क्या 'पीलिया रोग' से बीमार है ? प्रत्येक शहर वाले के पास यदि सोने के ज़ेवर होते तो प्रगतिवाद की आवश्यकता ही क्या थी ? कवि समझता है कि शहर वाले सभी धनिक होते हैं और शहर वालों और गाँव वालों के आपस में सम्बन्ध ही नहीं होते। शहरों की बेटियाँ शहरों में ही ब्याही जाती हैं, इसीलिए शहरों की 'बहू-बेटियाँ' सभी पीली घोषित कर दी गई हैं ! अब तीसरा छन्द जिसकी प्रशंसा की गई है यह है :—

सिर धरे कलेऊ की रोटी
ले, कर में मट्ठा की मटकी,
घर से जंगल की ओर चली
होगी बटिया पर पग धरती !

'अल्हड़' प्रवृत्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। पंचमी की ढलती दोपहरी में 'कलेऊ' का क्या काम ? कलेवा सुबह होता है या शाम को ? या कुछ न कुछ कविता रच डालनी ही, चाहे उपयुक्त हो या अनुपयुक्त ? इसके बाद के छन्द में भी "हो रही साँझ, आ रहे ढोर" का ज़िक्र किया गया है। फिर क्या पंचमी का प्रदोष था जो 'साँझ' को 'कलेऊ' ले जा रही थी ? इसमें भी सन्देह होता है कि कवि ने ग्राम में निवास भी किया है या नहीं ! कवि ने शहर की या कॉलिज की लड़कियों की ही कल्पना की है। गाँव में औरतों को कलेवा ले जाते देखा ही नहीं। जहाँ मटकी सिर पर रखे कोसों चले जाने की उनको आदत होती है, वहाँ सिर पर रोटी और हाथ में मटकी लेकर क्यों चलने लगीं ?

"पलाशवन" में 'अभाव के भाव' में कई छन्द पठन योग्य हैं :-

पर सबको खाँसी जुकाम भी
कभी कभी हो ही जाते हैं
मन हारी बीमारी के दिन
कब तक रोज़ याद आते हैं

× × × ×

पति मर जाता पत्नी जीती
पत्नी मरती, पति-पति रहता
वृद्ध पिता, विधवा माँ रहती
पुत्र छोड़, सबको चल बसता

'पति-पति' क्या है ? और जिसका वृद्ध पिता है उसकी माँ को 'विधवा' कैसे कहा जाय ? या यही असावधानता है, भाषा एवं भाव व्यक्त करने में 'अल्हड़पन' है ? कवि का आशय यह था कि किसी का वृद्ध पिता है; किसी के पिता भी नहीं, केवल विधवा माता है—पुत्र इनको छोड़ कर चल बसता है। परन्तु कवि का भाषा पर किञ्चित् मात्र भी अधिकार दिखाई नहीं पड़ता। भावुकता में कवि भाषा से लापरवाही दिखाता बढ़ता चला जा रहा है ! ऐसी उतावली भी किस काम की ? क्या कवि ने इन पंक्तियों पर ध्यान दिया है ?

"सब को तो कविता लिखने के
भाव कभी हो ही जाते हैं
लिख कर असफल हुए कभी क्या ?
कितने यह विचार लाते हैं ?

× × × ×

कोई मरता कविता जीती
छन्द बनाकर, कवि कवि रहता
वृद्ध पुरुष की पत्नी 'विधवा'
कह कर, कवि लहरों में बहता

× × × ×

भावुकता में कवि भाषा से,
छूट गया सो छूट गया।
भाग्य, अरे, भाषा का अब तो,
रूठ गया सो रूठ गया !!"

'पलाशवन' में 'कूर्मांचल' और 'कौसानी' पर भी रचनाएँ हैं जिनमें भाषा-प्रवाह अच्छा है। यथा—

मणि-जटित मुकुट संयुक्तप्रान्त का
ज्योति कान्त वह कूर्मांचल !

'पलाशवन की ये रचनाएँ अच्छी हैं। परन्तु जहाँ 'दो चार बरस, दो चार दिवस' 'रेशमी रूमाल या रेशमी दामन' या 'तिल भर न परस्पर उर-दुराव' की पुरानी आवाज सुनाई देती है वहाँ कल्पना क्षीण होती दिखाई देती है। एक स्थान पर लिख दिया है कि :—

है संज्ञा-शून्य व्योम शोभा लख,
मौन मूक नगपति नगेन्द्र !
उसका कैसे गुण गान करे
जो व्यक्ति नाम का हो नरेन्द्र !

यह नगपति हिमालय की प्रशंसा है या प्रोफ़ेसर नगेन्द्र जी की ! कवि को कुछ गंभीर बनने की आवश्यकता प्रतीत होती है। 'नरेन्द्र' और 'नगेन्द्र' में बहुत भेद है। गुणगान करने में कौन-सी रुकावट है ? यदि कोई थी भी, तो रुकावट होते भी, लगभग ४३ (तैंतालीस) छन्द तो लिख ही दिए गए। फिर भी यह लिखना पड़ा :—

अनुभूति इन्द्रियों की सीमित
भाषा की अक्षमताएँ हैं
वर्णनातीत है पर वह छवि
जिसकी न कहीं समताएँ हैं !

कवि की भाषा की 'अक्षमताएँ' (?) अवश्य दृष्टिगोचर हो रही हैं। यथा :—

नभ ज्यों योगी का निर्मल चित
है धरा मौन ज्यों विनति भक्ति,
बापू के श्रीमुख से निकला—
"सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति"!

आकाश तो योगी के चित की तरह निर्मल है और 'विनति भक्ति' की तरह पृथ्वी मौन है। और बापू के श्रीमुख से 'सतकर्म, अहिंसा, अनासक्ति' निकला। तुक तो मिल गई परन्तु एक दूसरे का सम्बन्ध नहीं मिल पाया। बात क्या हुई। कवि को गद्य में नोट देना पड़ा कि अनासक्ति-योग के नाम से गीता का भाष्य गांधी जी ने कौसानी में ही किया था। यह भाषा की अक्षमताएँ (?) नहीं हैं; कवि के पद्य की भाषा की अक्षमताएँ अवश्य हैं जिनके कारण, गद्य में नोट देना पड़ा!

इसी तरह यह भी लिखा है कि :—

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण
की धाय बनी यह कौसानी
छिन गई गोद जब जननी की
थी यह कौशिल्या कल्याणी

इसको पढ़ कर ऐसा प्रतीत हुआ कि यह कविता हिन्दी के "राजा लक्ष्मणसिंह जी" के विषय में है। पढ़ा तो यह था कि उन्होंने आगरा में जन्म लिया था। शायद माता के मरने पर वह कौसानी लाए गए हों। इसीलिए यह धाय मानी गई हो!

परन्तु फिर गद्य में नोट है—"आशय श्री सुमित्रानन्दन पन्त से है, कौसानी जिनकी जन्मभूमि है। पन्त जी की माता का देहान्त जन्म के थोड़े घंटों बाद हो गया था।"

ऊपर गद्य में जन्मभूमि का तो ज़िक्र तक नहीं! इससे तो गद्य में पुस्तक लिखनी अच्छी होती। और कवि की अक्षमताएँ तो फिर भी दिखाई पड़ती हैं जो 'सुमित्रानन्दन' को लक्ष्मण बनाना पड़ा शायद प्रोफ़ेसर रामकुमार जी को 'हिन्दी का लवकुश' लिखा जाना ठीक रहेगा !!

× × × ×

भाषा की अक्षमताएँ यहीं तक सीमित हों, यह बात नहीं है। लक्ष्मण को राम बना कर रामायण की प्राचीन कथा को ही पैलटने का प्रयास किया गया है। एक दिन की बात है कि कौसानी के एक पंडितजी इन कविताओं पर बड़े मुग्ध थे और बड़े चाव से इनको सुनते जा रहे थे। एक-एक पंक्ति पर 'वाह-वाह, बड़ी अच्छी कविता है' कह-कह कर पं० सोहनलाल जी द्विवेदी के राग में 'बढ़े चलो—बढ़े चलो' मिनट-मिनट पर कहते जाते थे। और जहाँ यह आता था कि

वह कौसानी मिल गई मुझे
वह कौसानी मिल गई मुझे

तो पंडितजी भी राग में राग मिला कहते जाते थे:—

'वा-आसानी मिल गई मुझे
वह लासानी मिल गई मुझे'

आखिर जब सुमित्रानन्दनजी का अकस्मात् परिवर्तन दिखाई दिया तो ठिठके, कहने लगे कि "अवश्य भाषा-दोष है, परन्तु कोई हर्ज नहीं, और पढ़ो।"

निदान आगे की पंक्तियाँ पढ़ी गईं:—

हिन्दी का तेजस्वी लक्ष्मण
कौशल्या के आँचल में पल,

बन गया राम-सा विनयशील,
विक्रमी, मनस्वी, धीर अचल !

जब मिली चुनौती रूढ़िग्रस्त
शिव-धन्वा पल में तोड़ दिया !
जब परशुराम नित क्रुद्ध हुए
उसने कविता-रथ मोड़ दिया !

कर धनुष-भंग पल्लव-पिनाक रच
कवि ने नव-निर्माण किया
फिर काव्य-सुनीता सीता का
जब वरण किया वनवास लिया !

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण को
बना दिया विक्रमी राम
यह कौशल्या की पुण्य-गोद-सी
है कौसानी पुण्यधाम !

इतना पढ़ना था कि पंडितजी यकायक चिल्लाने लगे:—

"धृष्टता है धृष्टता, सरासर धृष्टता। मिथ्या प्रशंसा ही नहीं है, यह रामायण पर प्रहार है। और है साहित्य का संहार ! 'काव्य' पुल्लिंग है ! 'सुनीता सीता' स्त्रीलिंग है ! काव्य में वर्णित सुनीता या पुनीता सीता ही से तात्पर्य लिया जा सकता है—कविता से नहीं। सीता को लक्ष्मण ने बर लिया ! राम-राम, घोर अधम—घोर अधर्म !!

जिस प्रकार क्रौंच पक्षी की हत्या के कारण अनायास बाल्मीकिजी के हृदय से कविता उमड़ पड़ी थी, उसी प्रकार साहित्य-संहार देख कर 'राम राम, राम राम !" कहते हुए पंडितजी के विह्वल हृदय से निम्नलिखित पंक्तियाँ अपने आप उमड़ पड़ीं। पंडितजी कहने लगे:—

"ओ हो कवीन्द्र ! तुम क्या कहते !
क्या रामायण अब याद नहीं ?
लक्ष्मण को राम बना देते !!
क्या कविता में मर्याद नहीं ?

शिव-धनुष तोड़, लक्ष्मण ने यदि,
सीता को जाकर ब्याहा था !
तो रावण बन कर कौन तुम्हारी
कविता को हर लाया था ?

श्रद्धेय गुप्त जी से पूँछो
क्या लक्ष्मण के उर्म्मिला नहीं ?
'साकेत' मध्य दृष्टान्त प्रेम का
ऐसा अनुपम मिला कहीं

सीता उर्म्मिला सगी बहनें
'मानस' में देखो तुम प्रमाण !
लक्ष्मण की परम पूजनीया
सीता थीं माता के समान !

फिर काव्य पुनीता सीता को
लक्ष्मण हैं कैसे वर लेते ?
भाई नरेन्द्र ! कविता में तुम
क्यों ऐसी गड़बड़ कर देते ?"

पंडितजी के हृदय के घोर दुःख को देख कर, क्या श्री नरेन्द्रजी थोड़े दिन विश्राम लेने की कृपा करेंगे ? विश्राम के अभाव में भगवान की दी हुई काव्य-प्रतिभा के असमय ही कुंठित हो जाने का भय है।

श्यामनारायण पाण्डेय की हल्दीघाटी

श्रीयुत् पंडित श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दीघाटी' खड़ी बोली में एक प्रबन्ध काव्य है। इसे वीर रस का आदि काव्य भी बताया जाता है। स्वतंत्रता के पुजारी, स्वदेशाभिमानी, रणकुशल एवं स्वार्थ-त्यागी उस महाराणा प्रताप की यह गुण-गाथा है जिसके अदम्य उत्साह एवं दृढ़ साहस के सम्मुख मोगल शाहंशाह अकबर की महत्वाकांक्षा भी संकुचित ही रह गई थी। जिस प्रकार यूनान में 'थर्मोपिली' नामक तंग घाटी और रण भूमि की प्रसिद्धि, वीर-गाथा में, शताब्दियों से चली आती है वैसी ही प्रसिद्धि भारत-वर्ष में हल्दीघाटी की है।

पंडित श्यामनारायणजी का 'हल्दीघाटी' काव्य एक स्तुत्य एवं प्रशंसनीय प्रयास है। स्थान-स्थान पर इस काव्य की भाषा भी अत्यन्त रोचक, ओजस्वी एवं सजीव हो गई है। राणा प्रताप के घोड़े 'चेतक' का रणक्षेत्र में युद्ध-कौशल दिखलाते हुए कवि लिखता है:—

रण बीच चौकड़ी भर-भर कर, चेतक बन गया निराला था
राणा प्रताप के घोड़े से, पड़ गया हवा को पाला था
जो तनिक हवा से बाग हिली, लेकर सवार उड़ जाता था
राणा की पुतली फिरी नहीं, तब तक चेतक मुड़ जाता था

राणा की तलवार की प्रशंसा भी ध्यान देने योग्य है—

कल-कल बहती थी रण गंगा, अरिदल को डूब नहाने को
तलवार वीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को
लहराती थी शिर काट-काट, बल खाती थी भू पाट-पाट
बिखराती अवयव बाट बाट, तनती थी लोहू चाट-चाट

हल्दीघाटी में जब खेमों से राणा प्रताप की राजपूत-सेना निकलती है तब भाषा-प्रवाह और भी अच्छा हो गया है। कवि लिखता है—

जय रुद्र बोलते रुद्र महेश, खेमों से निकले राजपूत
झट झण्डे के नीचे आकर, जय प्रलयङ्कर बोले सपूत
अपने पैने हथियार लिए, पैनी-पैनी तलवार लिए
आए खर-कुन्त कटार लिए जननी सेवा का भार लिए
रणयात्रा करते ही बोले, राणा की जय, राणा की जय
मेवाड़ सिपाही बोल उठे, शतबार महाराणा की जय,
हल्दीघाटी के रण की जय, राणा प्रताप के प्रण की जय
जय-जय भारत माता की जय, मेवाड़-देश कण-कण की जय
हर एकलिङ्ग, हर एकलिङ्ग, बोला हर-हर अम्बर अनन्त
हिल गया अचल, भर गया तुरत, हर-हर निनाद से दिग दिगंत
घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की
झन-झन असि की झनकार इधर, कायर दल की छाती धड़की

भाषा इतनी ओजस्वी एवं सजीव और भाषा-प्रवाह इतना अच्छा हो गया है कि रह-रह कर पढ़ने को जी चाहता है। परन्तु अन्तिम छन्द पढ़ते ही एक सन्देह पैदा हो जाता है। 'यह घन-घोर घटा' क्या है, और कहाँ से आ गई? यह बिजली भी कहाँ से चमक उठी? क्या कविवर ने युद्ध में बरसात भी दिखलाई है? या बरसात में ही हल्दीघाटी का युद्ध दिखला दिया है?

जब एकादश सर्ग को फिर प्रारंभ से पढ़ा तो समझ में आया कि कवि ने हल्दीघाटी का युद्ध सावन मास में ही दिखाया है—लिखा है—

सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा
फहरा कर पंख थिरकते थे, मन हरती थी बन-मोर-छटा
पड़ रही फुही झींसी झिन-झिन, पर्वत की हरी बनाली पर
'पी कहाँ' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर

वह घटा चाहती थी जल से, सरिता-सागर-निर्झर भरना
यह घटा चाहती शोणित से, पर्वत की कण-कण तर करना
नभ पर चम-चम चपला चमकी, चम-चम चमकी तलवार इधर
भैरव अमन्द घन-नाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर
वह कड़-कड़-कड़-कड़ कड़क उठी, यह भीमनाद से तड़क उठी
भीषण संगर की आग प्रबल, वैरी सेना में भड़क उठी

कविता तो रोचक है, परन्तु आखिर सावन मास में युद्ध कैसे हुआ होगा ? मुग़ल सेनानायक क्या इतना बुद्धिहीन था कि अरावली पहाड़ी की घाटियों में बरसात में लड़ने को पहुँचा हो ? लड़ाई, वर्षा में, हो कैसे सकती थी ? क्या तीर, तरकस, तलवार, भाले, बर्छी, तोप, बारूद, घोड़े, हाथी भीग न गए होंगे ? क्या कवि ने इस ओर दृष्टि नहीं दौड़ाई ?

शायद कविवर सेनानायक के पास पहुँचे हों और निवेदन किया हो—"अजी सेनानायक, तुम्हें तो लड़ाई रोज ही लड़नी पड़ती है ! और लड़ाई मन चाहे तब लड़ते रहना; हल्दीघाटी की तो सावन में ही लड़ लो ! हमारी कविता अच्छी हो जायगी। ऊपर की घटा और नीचे की घटा का मुक़ाबिला हो जायगा ! चम-चम चपला आकाश में और चम-चम तलवार पृथ्वीतल में; कड़-कड़ बिजली आकाश में और कड़-कड़ तोप नीचे !!—कितना रोचक वर्णन रहेगा ? अजी सेनानायक जी, सावन में ही लड़ लो; पानी ज्यादा बरसे तो छाता ले लेना। देखो तो कविता में मज़ा आ जायगा।"

शायद मुग़ल सेनानायक ने कविवर की बातों में आकर हल्दीघाटी की लड़ाई श्रावण के माह में ही लड़ी हो और कविवर ने असंभव को संभव कर दिया हो !

× × ×

प्रसिद्ध इतिहासकार बदाउनी इस युद्ध में स्वयं सम्मिलित हुआ था। उसने "मुन्तख़बुत्तवारीख़" में अजमेर से कुँवर मानसिंह की

रवानगी ५००० सवारों के साथ हिजरी सन् ९८४, ता० २ मुहर्रम (वि० सं० १६३३, बैसाख सुदी ३—ई० सन् १५७६, ता० २ अप्रैल) को बयान की है।

हल्दीघाटी से कुछ ही दूर खामनोर के निकट दोनों सेनाओं का भीषण युद्ध हिजरी सन् ९८४ रबिउल अव्वल के शुरू (वि० सं० १६३३ द्वितीय ज्येष्ठ सुदी—जून १५७६ ई०) में होना बताया है। यही समय 'अकबरनामा', 'इक़बालनामा', 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' 'वीर विनोद' और रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा के प्रसिद्ध 'राजपूताने के इतिहास' में भी दिया गया है।

युद्ध के बाद शाही सेना गोगूंदे में पड़ी रही और राणा प्रताप की लूट के कारण अन्न तक न ला सकी। बरसात के कारण ४ मास शाही सेना की बुरी हालत रही थी। बादशाह को मान-सिंह पर शक हुआ कि राजपूत होने के कारण प्रतापसिंह की तरफ़ है। मानसिंह एवं आसफ़ खाँ की तनज्जुली हुई और उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी गई।

आश्विन सुदी ७ को बादशाह स्वयं अजमेर आए और कार्तिक बदी ६ को गोगूंदा पहुँचे। कोई युद्ध श्रावण में न तो हुआ और न हो सकता था!

\+ \+ \+

कल्पना के लिए महाकाव्य में पर्याप्त स्थान हुआ करता है; परन्तु ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध, युद्ध-विद्या के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध, असंभव को संभव बनाना कवि का कर्तव्य नहीं है।

'हल्दीघाटी' के कवि ने इस ओर भी किंचित् ध्यान नहीं दिया कि जिन दृश्यों का कविता में वर्णन किया है वे वातावरण के अनुकूल भी हैं या नहीं। सारे दृश्य मनोरम हैं—कविता भी अच्छी है, परन्तु कविवर वर्णन करते समय यह भूल जाते हैं कि अरावली पहाड़ियों के ऊपर उन दृश्यों का वर्णन करना उचित

नहीं जो गंगा-यमुना के मध्य के समतल में पाए जाते है; या जो पहाड़ के नीचे मैदानों के वर्णन में ही उपयुक्त हो सकते हैं। कवि एक स्थान पर लिखते हैं:—

थी आधी रात अँधेरी, तम की घनता थी छाई
कमलों की आँखों से भी कुछ देता था न दिखाई
पर्वत पर घोर विजन में, नीरवता का शासन था
गिरि अरावली सोया था, सोया तमसावृत वन था

सोचने की बात है, पर्वत पर कमल कहाँ से आए होंगे। क्या वहाँ पक्के तालाब खुदे थे ? या झरने में ही कमल खिलते थे ?

यव की कोमल बालों पर, मटरों की मृदु फलियों पर
नभ के आँसू बिखरे थे, तीसी की नवकलियों पर
घन हरित चने के पौदे, जिनमें कुछ लहुरे जेठे
भिग गए ओस के जल मे, सरसों के पीत मुरैठे

जौ, मटर, तीसी, चने, सरसों की अरावली पहाड़ी पर शायद खेती होती होगी !!
और भी—

उड़ उड़ गुलाब पर बैठ बैठ, करते थे मधु का पान मधुप
गुन गुन गुन गुन गुन कर करते, राणा के यश का गान मधुप
केसर के निर्भर फूल लाल, फूले पलाश के फूल लाल
तुम भी बैरी सिर काट काट, कर दो शोणित से धूल लाल

पहाड़ी के ऊपर गुलाब, पलाश, केसर और धूल सभी बताए गए हैं !!

सन-सन-सन-सन-सन चला पवन, मुरझा मुरझा कर गिरे फूल
बढ़ चला तपन, चढ़ चला ताप, धू धू करती चल पड़ी धूल

अरावली पहाड़ शायद रेगिस्तान होगा! कितनी धूल उड़ी होगी? और ताप से नहीं बल्कि ताप के पहिले ही पवन के सन सन चल जाने से ही फूल मुरझा कर गिर पड़े। काव्य-कौशल देखने योग्य है! प्रकृति पर्यवेक्षण का उत्कृष्ट उदाहरण है!

सारी ऋतुओं का अरावली पहाड़ी पर वर्णन किया गया है जो स्थान-स्थान पर असंगत एवं अस्वाभाविक हो गया है। वहाँ का शीत-कोप भी देखने योग्य है। कहते हैं:—

आँखों के अन्दर पुतली, पुतली में तिल की रेखा
उसने भी उस रजनी में, केवल तारों को देखा
वे नभ पर काँप रहे थे, था शीत-कोप बँगलों में
सूरज मयंक सोए थे, अपने अपने बँगलों में

सूरज और चन्द्रमा दोनों एक समय ही सो रहे थे। उनके बँगले शायद नल, बिजली, टेलीफ़ोन सभी सामान से सुसज्जित रहे होंगे! उनका भी वर्णन होना चाहिए था। अच्छा तो यह भी जोड़ देना चाहिए। रोचक ही रहेगा। पढ़िए—

सूरज मयंक के बँगले, कैसे थे मैं क्या जानूँ?
कविवर से जाकर पूँछा, उनकी बातें मैं मानूँ!
बँगलों के अन्दर बिजली, नल का पानी बतलाया
कर "ट्रंक कॉल" से बातें, कविता से जी बहलाया!
सूरज मयंक मोहित थे, कविवर की दिव्य दृष्टि पर!
'हल्दीघाटी' में वर्णित—बँगलों की नई सृष्टि पर!!
थे शीत-कोप से व्याकुल, बँगले भी थे पर्वत पर
उनका जीवन अवलंबित, कवि के ठंडे शरबत पर!
भाषा के अन्दर कविवर, कर में वीरों की रेखा,
उसने बँगलों में सोए, सूरज मयंक को देखा!!

× × ×

श्रावण का युद्ध, अरावली पर्वत पर मैदानों के दृश्य एवं शीत-कोप में सूर्य-चन्द्र का बँगलों में सोना—एक-से-एक आश्चर्यमय वर्णन हैं! एक स्थान पर शिकार का भी रोचक दृश्य दिखाया गया है। लिखते हैं:—

> हय के हिन हिन हुंकारों से, भीषण धनु टंकारों से
> कोलाहल मच गया भयंकर, मेवाड़ी ललकारों से

शायद घोड़े के हिनहिनाने को "हिन हिन हुङ्कार" कहा जाता है। धनु टङ्कार की क्या जरूरत थी? शेर तो गुफा में बताया गया है। जैसे खाली बन्दूक चलाई जाती है शायद वैसे ही नकली धनुष की टंकार भी की जाती हो। मेवाड़ी ललकार विशेषज्ञों की होती होगी!

> एक केसरी सोता था वन के, गिरि गह्वर के अन्दर
> रोओं की दुर्गन्धि हवा से, फैल रही थी इधर उधर
> शिर के केसर हिल उठते, जब हवा झुरुकती थी झुरमुर
> फैली थी टाँगें अवनी पर, नाकें बजती थी घुर घुर

हवा झुरमुर झुरुकती थी! शेर की टाँगें आसमान के बजाय अवनी पर ही फैली हुई थीं। कितना रोचक वर्णन है!

> सो न सका उठ गया क्रोध से, अँगड़ा कर तन झाड़ दिया
> हिलस उठा गिरि गह्वर जब, नीचे मुख कर चिंघाड़ दिया

शेर नीचे मुख कर चिंघाड़ा करता है और हाथी शायद ऊपर को मुख करके दहाड़ा करता है!

> शिला शिला फट उठी, हिले तरु टूट-टूट चट्टान गिरे
> सिंहनाद सुन कर भय से जन, चित-पट्ट-उत्तान गिरे

वृक्ष तो केवल हिलकर ही रह गए किन्तु शिला फट गईं और

चट्टान टूट-टूट कर गिर गए ! वृक्ष अच्छे रहे और अब तक शिला और चट्टान तो एक भी नहीं रहे होंगे ! मनुष्य चित्त पट्ट उत्तान गिर गए ! शायद पहलवानों का दङ्गल हुआ होगा !!

अब कुंवर मानसिंह के लिए जो भोजन लाया गया था उसका भी सूक्ष्म वर्णन देखने योग्य है। कवि लिखते हैं:—

देखे मधु पदार्थ पन्ने की, मृदु प्याली-प्याली में
चावल के सामान मनोहर, सोने की थाली में
घी से सनी-सजी रोटी थी, रतनों के बरतन में
शाक खीर नमकीन मधुर, चटनी चमचम कंचन में

पन्ना तो कठोर रत्न है। उसकी प्याली मृदु कैसे होगी ? रोटी घी से सनी थी मगर सजी किससे थी ? शायद मोती मूँगों से सजी होगी। तभी तो थाली में नहीं समा सकी, रतनों के बर्त्तन में—थाली से दूर—रखी गई ! अब थाली में तो चावल के सामान थे—बर्त्तन में रोटी थी। और शाक, खीर, नमकीन, मधुर, चटनी सब एक जगह "चमचम कंचन" में सब मिलाकर 'गड्ड बड्ड' बनी रखी हुईं थीं !

मोती झालर से रक्षित, रसदार लाल थाली में
एक ओर मीठे फल थे, मणि-तारों की डाली में
तरह-तरह के खाद्य कलित, चाँदी के नए कटोरे
भरे भराये घी से देखे, नीलम के नव खोरे

डाली भी सिर के ऊपर लटक रही होगी। थाली भी कई रखी गई होंगी। पानी का गिलास नहीं बताया गया। शायद उन दिनों पानी नहीं पिया जाता होगा। घी पीने का रिवाज होगा !

अरावली के नीचे जुगनू की महिमा भी देखिए !

गिरि पर थी बिछी रजत चादर, गह्वर के भीतर तम विलास
कुछ कुछ करता था तिमिर दूर, जुग जुग जुगनू का लघु प्रकाश

'जुग-जुग जुगनू' में शब्दानुप्रास की बहार और 'प्रकाश' का "लघु" एवं "दीर्घ" वर्गीकरण कितना उपयुक्त है! "बिज-बिज-बिजली का दीर्घ प्रकाश" भी कोई नवीन कवि अब लिख सकेंगे!

राणा प्रताप अपने सरदारों के सम्मुख भाषण देते हैं। उस भाषण के दो छन्द देखने योग्य हैं:—

> नश्वर तन को डट जाने दो, अवयव अवयव छुट जाने दो
> परवाह नहीं करते हो तो, अपने को भी कट जाने दो

नश्वर तन को भागने मत दो, डट जाने दो। अवयव-अवयव छटवा कर मोटा शरीर सुन्दर सुडौल कर लो! फुरतीला छरहरा बदन हो जायगा।

> अब उड़ जाओ तुम पाँखों में, तुम एक रहो अब लाखों में
> वीरो, हलचल सी मचा-मचा तलवार घुसा दो आँखों में

पाँखों में उड़ जाओ और तलवार आँखों में घुसा दो का उपदेश लाखों में एक ही है! तलवार कोई भाला थोड़े ही है। मगर कवि की सूझ बड़ी है—शायद भाला ही समझा!! धर्म-युद्ध में शायद सिर बचाया जाता है और आँखें फोड़ी जाती हैं!! इसीलिए राणा प्रताप का यही उपदेश रहा हो!!

अकबर के मीना बाजार का भी वर्णन है। उसके सम्बन्ध में लिखते हैं:—

> करता था वह किसी जाति की, कान्त कामिनी से ठन-गन
> कामातुर वह कर लेता था, किसी सुन्दरी का चुम्बन

'ठन-गन' कितना अनुपयुक्त प्रतीत होता है!! पंडे पुरोहित अपने यजमान से अधिक धन के लिए जो हठ करते हैं मचलते हैं; उसी को 'ठनगन' कहते हैं। कवि का आशय तो देखिए कहते हैं कि इतना भारी बादशाह! मगर कम्बख्त जाति-पाँति का ख्याल ही

नहीं रखता था ! भंगिन चमारिन किसी भी जाति की कान्त कामिनो से 'ठन-गन' कर लेता था !! तभी तो राणा प्रताप ने छक्के छुड़ा दिए थे !!

तभी शायद अकबर भी दिन-रात राणा प्रताप के विषय में ही सोचा करता था कि या ख़ुदा यह किस क़िस्म का आदमी होगा ? कवि की भाषा में, अकबर का सोच-विचार तो देखिए ! लिखते हैं—अकबर सोचता था:—

कैसा गोरा काला रंग, जिससे सूरज शशि बदरंग
जिससे वीर सिपाही तंग, जिससे मुग़ल राज है दंग
कैसा भाला कैसी म्यान, कितना नत कितना उत्तान
पतन नहीं दिन-दिन उत्थान, कितना आज़ादी का ध्यान

समझ में आ सके तो समझिए इस विशृंखल भाषा को ! न समझ में आवे तो निम्नलिखित तुकबन्दी को भी पढ़ लीजिएगा—

गोरा-मिश्रित-काला रंग, देख-देख कर भाषा दंग
सूरज शशि दोनों बदरंग, कवि की होली के हुड़दंग
कैसी कविता, कैसा गान ? भाला के कब होती म्यान ?
भाषा पर मत रखना ध्यान, होगा फिर दिन-दिन उत्थान !!

(२)

गुण-गाथा के लिए भी एक ऊँचे स्तर की भाषा एवं साहित्य की आवश्यकता हुआ करती है। आज के कवि और पुराने भाट एवं चारण की कविता में अवश्य भेद होना चाहिए। अंधाधुन्ध एक की बुराई और दूसरे की प्रशंसा करना कवि-कर्त्तव्य नहीं है। इतिहास का आधार छोड़ कर किंवदन्तियों के आधार पर कपोल-कल्पित किला खड़ा कर देना; उलझे इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने के स्थान पर और भी उलझा देना कवि-धर्म नहीं है।

इतिवृत्त वर्णन करते हुए भी नवीन कल्पना एवं मौलिकता का

परिचय दिया जा सकता है। खेद है, हल्दीघाटी के कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्हीं पुरानी निराधार बातों के वर्णन करने में सर्ग-के-सर्ग लिखे गए हैं जिन्हें इतिहास झूठा बता चुका है।

शक्तिसिंह एवं राणा प्रताप का शिकार खेलना, शिकार में किसी ब्राह्मण की हत्या होना, शक्तिसिंह एवं प्रताप का झगड़ा होना और यह झगड़ा हल्दीघाटी के युद्ध का एक कारण बन जाना—ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। राणा प्रताप के पिता राजा उदयसिंह के काल में ही शक्तिसिंह अकबरी दरबार में पहुँच चुके थे। उस समय भी, जब कि उदयपुर पर हमला होने वाला था, शक्तिसिंह ने ही अपने पिता को इस हमले की बहुत पहले सूचना दे दी थी।

युद्ध की नींव राणा उदयसिंह के ही काल में पड़ चुकी थी। चित्तौड़ एवं रणथम्भोर जा चुके थे। राणा मुग़ल सेना के भय से उदयपुर पहुँच गए थे। राणा प्रताप के काल में हल्दीघाटी का युद्ध उसी प्राचीन स्वतंत्रता के युद्ध का सिलसिला था जो राणा उदयसिंह के काल में प्रारम्भ हो चुका था।

राणा उदयसिंह की विवेक-शून्य नीति के कारण राणा प्रताप के विरुद्ध उनके भाई-बन्धुओं का एक दल भी अकबर से मिल चुका था। राणा उदयसिंह ने मृत्यु के पूर्व अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप को उत्तराधिकारी न बना कर मेवाड़[१] का सिंहासन जगमल को देने का एलान कर दिया था। लेकिन उदयसिंह की मृत्यु के उपरान्त सर्व-सम्मति से जगमल को हटा कर राणा प्रताप का कुम्भलगढ़ में राज्याभिषेक कर दिया गया।

अकबर ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और असंतुष्ट एवं क्रोध में भरे हुए जगमल को अपनी तरफ़ करके जहाजपुर का परगना उसे जागीर में दे दिया। सिरोही रियासत के विरुद्ध भी अकबर ने जगमल को सहायता दी थी। हल्दीघाटी के युद्ध के सात वर्ष बाद जगमल एक युद्ध में काम आए थे।

इस प्रकार भाइयों में जगमल, शक्तिसिंह, सगर इत्यादि का दल प्रारंभ से ही राणा प्रताप के विरुद्ध अकबर से मिल चुका था। अगर राजपूताने में भाई-भाई का इस प्रकार वैमनस्य न हुआ होता तो राजपूताने का इतिहास कुछ दूसरा ही हुआ होता। शूरवीरता, अदम्य उत्साह एवं अपार साहस के साथ-साथ क्रोध, द्वेष, अहम्मन्यता एवं अत्यन्त संकीर्ण विचार भी राजपूतों की पैतृक सम्पत्ति रहे हैं।

× × ×

कवि ने इतिहास की समूची पृष्ठ भूमि को अलग रख हल्दी-घाटी युद्ध के तीन कारण बताए हैं—(१) प्रताप और शक्तिसिंह का द्वेष, (२) अकबर का दीन इलाही और (३) राजा मानसिंह का अपमान।

शिकार में प्रताप और शक्तिसिंह का वाद-विवाद दिखाकर कवि ने लिखा है:—

> शक्तिसिंह पहुँचा, अकबर भी धाकर मिला कलेजे से
> लगा छेदने राणा का उर कूटनीति के नेजे से
> गया बन्धु पर गया न गौरव अपनी कुल-परिपाटी का
> यह विरोध भी कारण है भीषण रण हल्दीघाटी का

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कवि का यह कथन निराधार है। 'दीन इलाही' का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है:—

> हिन्दू-जनता ने अभिमान, छोड़ा रामायण का गान
> दीन इलाही पर कुर्बान, मुसलमान से अलग कुरान
> तनिक न ब्राह्मण कुल उत्थान, रही न क्षत्रियपन की आन
> गया वैश्य कुल का सम्मान, शूद्र जाति का नाम निशान

× × ×

> राणा प्रताप से अकबर से इस कारण वैर विरोध बढ़ा
> करते छल छद्म परस्पर थे दिन-दिन दोनों का क्रोध बढ़ा

कूट नीति सुनकर अकबर की राणा जो गिनगिना उठा
रण करने के लिए शत्रु से चेटक भी हिनहिना उठा

'गिनगिना' और 'हिनहिना' की तुक देखने योग्य हैं। चेटक भी दीन इलाही का दुश्मन बन बैठा था।

मानसिंह के अपमान पर लिखा है:—

राणा द्वारा मानसिंह का यह जो मान हरण था
हल्दीघाटी के होने का यही मुख्य कारण था।

डूंगरपुर विजय करके, राणा प्रताप को समझा कर, बादशाही सेवा स्वीकार कराने के विचार से वि० सं० १६३० आषाढ़ (जून, १५७३ ई०) में मानसिंह उदयपुर पहुँचे थे। उनका प्रयत्न निष्फल हुआ और वहीं उनका अपमान भी हुआ। वहाँ से मानसिंह दिल्ली चले गए। इसके तीन साल बाद द्वितीय ज्येष्ठ सुदी सं० १६३३ (जून, १५७६ ई०) में हल्दीघाटी का युद्ध हुआ। तीन वर्ष तक भी यदि अधीनता स्वीकर कर ली जाती तो युद्ध की नौबत ही न आती। वास्तव में यह युद्ध स्वतंत्रता का युद्ध था। इसका एक मात्र कारण यही था कि प्रताप स्वतंत्रता खोना नहीं चाहते थे और अकबर की आकांक्षा सार्वभौम आधिपत्य की थी।

इस प्रकार न तो इस युद्ध का सम्बन्ध दीन इलाही से था और न वास्तव में राजा मानसिंह के अपमान के कारण ही युद्ध हुआ था। यदि इधर-उधर की बातें छोड़कर इस युद्ध को एक मात्र स्वतंत्रता के युद्ध के रूप में—जो वास्तव में यह था—कवि वर्णन करता तो यही प्रबन्ध-काव्य न जाने कितना अधिक सजीव, कितना अधिक ओजस्वी, कितना अधिक रोचक एवं कितने अधिक ऊँचे स्तर का साहित्यिक काव्य बन गया होता।

× × ×

राणा प्रताप धार्मिक, पापद्वेषी, पवित्र, स्वार्थ-त्यागी, शूर वीर, साहसी एवं स्वतंत्रता-प्रेमी अवश्य थे। परन्तु यह कहना सही नहीं

कि उनकी उपस्थिति में राजा मानसिंह कलंक-पंकिल की कुत्सित प्रतिमूर्त्ति प्रतीत होते थे। यदि जयपुर घराने से कन्या अकबर को दी गई तो वह मानसिंह के पिता का अपराध हो सकता है। उनके जीवित रहते भला मानसिंह के सिर पर दोष कैसे रखा जा सकता है ?

जो भी हो, उनका पक्ष निरा खोखला नहीं है। कहा जाता है कि जब हिन्दू और मुसलमानों के भेदभाव मिटाने पर बादशाह ने जोर दिया और यह प्रस्ताव किया कि मुग़लों और राजपूतों में आपस में कन्या लेन-देन की रीति-रस्म शुरू होनी चाहिए तो राजपूताने में एक सनसनी फैल गई। एक दल बादशाह के मत को उचित बताने वालों का बन गया और दूसरा दल शुद्ध रक्त के बदस्तूर क़ायम रखने के पक्ष में खड़ा हो गया।

यह कोई नई बात नहीं थी। इतिहास में 'राष्ट्र' और 'धर्म' अथवा 'राष्ट्र' और 'रक्त' के ऐसे झगड़े सदा से होते चले आए हैं। कहा जाता है कि राजपूताने के इन दोनों दलों की एक गुप्त सभा मेवाड़ नरेश राजा उदयसिंह की अध्यक्षता में की गई और बादशाह का प्रत्यक्ष विरोध न करके नीति से चलने की राह निकाली गई। सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि मुग़लों की कन्याएँ नहीं ली जानी चाहिएँ। इस प्रकार शुद्ध रक्त की रक्षा सदा होती रहेगी।

यह भी तय हुआ कि बादशाह की जिद पूरी करने के लिए कुछ राजपूत नरेशों की कन्याएँ दे दी जानी चाहिए। कन्याएँ वापिस न बुलाई जावें और यदि वापिस आवें भी तो उनके लिए अलग महल में पृथक् ठहरने का प्रवन्ध कर लिया जाया करे। यह भी तय हुआ कि जो नरेश अपनी कन्याएँ इस प्रकार दें उन्हें नीची दृष्टि से नहीं देखा जाएगा।

जिन नरेशों ने अपनी कन्याएँ दी थीं इन सब निर्णयों के हो जाने के बाद दी थीं। इन्हीं सब बातों की ओर संकेत करते हुए

राजा मानसिंह ने राणा प्रताप से कहा था कि जो निर्णय तुम्हारे पिता की अध्यक्षता में हुआ और उसके अनुसार यदि किसी ने कोई कार्य किया तो उसको नीच बताना न्यायोचित नहीं है।

हमें पूर्ण आशा थी कि इस गुप्त सभा एवं उसके निर्णय पर पूज्यपाद राय बहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा अपने प्रसिद्ध "राजपूताने के इतिहास" में पर्याप्त प्रकाश डालेंगे। लेकिन यह देखकर अत्यन्त निराशा हुई कि उन्होंने अपने इतिहास में इसका जिकर करना उचित नहीं समझा। स्वनामधन्य महामहोपाध्याय कविराज श्री श्यामलदासजी ने अनवरत परिश्रम के अनन्तर हिन्दी भाषा में प्रथम-प्रथम विशालकाय भारतीय इतिहास निष्पक्ष होकर लिखा था। इस पर मेवाड़ रियासत के द्वारा एक लाख रुपया व्यय हुआ था। सारे भारतवर्ष से प्रमाण इकट्ठे किए गए थे। ग्रन्थ कई वर्षों में लिखा गया। ग्रन्थ मुद्रित भी हुआ। परन्तु कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह प्रकाशित नहीं हो पाया। रायबहादुर ओझाजी ने अपने ग्रन्थ में इसी "वीर-विनोद" से स्थान-स्थान पर अंश उद्धृत किए हैं। ग्रन्थ जब छप रहा था तब प्रेस की असावधानी से दो-एक प्रतियाँ बाहर निकल गई थीं। जहाँ तक हमें स्मरण है, इस गुप्त सभा एवं उसके निर्णय पर 'वीर-विनोद' में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और प्रमाण भी दिए गए हैं। हिन्दी भाषा का दुर्भाग्य है कि अब तक 'वीर-विनोद' अप्रकाशित ही पड़ा है।

× × ×

हमारा तात्पर्य यही है कि राजा मान का पक्ष भी प्रबल ही था। वह भी शूर वीर थे। लगभग सारे इतिहासकारों ने उनकी शूरवीरता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण वह राणा प्रताप के साथ नहीं हो सके थे। उनके रण-कौशल एवं उच्च सेना-नायकत्व में संदेह नहीं किया जा सकता। 'हल्दीघाटी' में अकबर के सम्मुख राजा मानसिंह को बनों की

तरह रुलाया गया है, यह अवश्य खेद-जनक है। राजा मान के गुणों की सम्यक् प्रशंसा के अनन्तर भी राजा प्रताप को ऊँचा दिखाया जा सकता था!

प्रसिद्ध मुग़ल सेनानायक, राजपूतों में अग्रगण्यराजा मानसिंह, अकबर के सम्मुख, क्या इस प्रकार सिसक सिसककर रोया होगा, जैसा 'हल्दीघाटी' में कविवर ने बताया है ? कवि लिखते हैं:—

> दुख के उठे विषम उद्गार, सोच-सोच अपना अपकार
> लगा सिसकने मान अपार थर-थर काँप उठा दरबार
> घोर अवज्ञा का कर ध्यान बोला सिसक सिसककर मान
> "तेरे जीते जी सुलतान ऐसा हो मेरा अपमान!"
> सब ने कहा, "अरे अपमान! मानसिंह तेरा अपमान!"
> "हाँ-हाँ मेरा ही अपमान, सरदारो! मेरा अपमान"
> कह कर रोने लगा अपार विकल हो रहा था दरबार
> रोते ही बोला "सरकार, असहनीय मेरा अपकार"

न प्रसंगानुकूल भाषा ही है और न चरित्र-निरूपण। बच्चों की उलड़ी-पलड़ी भाषा में राजा मान का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार राणा प्रताप के मंत्री भामाशाह का वर्णन भी ध्यान देने योग्य है। लिखते हैं—

> वह निर्बल वृद्ध तपस्वी लग गया हाँफने कह कर
> गिर पड़ी लार अवनी पर उसके आनन से बहकर
>
> वह कह न सका कुछ आगे सब भूल गया आने पर
> कटि जानु थाम कर बैठा वह भूपर, थक जाने पर!!

ऐसा वर्णन है मानो उत्तर प्रदेश का कोई अत्यन्त वृद्ध, असहाय, दुखी एवं शोषित किसान अपने जमींदार के आगे दुःख रोने आया हो! कवि राजपूताने के उन वृद्ध वीरों की कल्पना तक नहीं कर सका है जो बिना थके कोसों की यात्रा अब भी किया करते हैं।

कर्नल टाड ने नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ राजपूताने में प्रताप के विषय में सुनीं और उनका प्रचार भी कर दिया। उन किंवदन्तियों में एक यह भी थी कि राणा प्रताप के पास रुपया नहीं रहा था। कभी-कभी राजघराने के लोग भूखों भी रहते थे। एक बार प्रताप की भूखी लड़की की आधी रोटी जंगली बिल्ली छीन ले गई और उस समय प्रताप का धैर्य विचलित हो गया। मंत्री भामाशाह ने जब अतुल संपत्ति प्रताप को दी तब कहीं जाकर सेना इकट्ठी हो सकी। 'हल्दीघाटी' का एक बड़ा सर्ग इस पर ही लिखा गया है।

राय बहादुर ओझा जी ने इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है:—यह संपूर्ण कथन अतिशयोक्तिपूर्ण कपोल कल्पना मात्र है। महाराणा को कभी कोई ऐसी आपत्ति सहन नहीं करनी पड़ी। उत्तर में कुंभलगढ़ से लेकर दक्षिण में ऋषभ देव से परे ८० मील लम्बा और पूर्व में देबारी से लगा कर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक क़रीब ७० मील चौड़ा पहाड़ी देश महाराणा के अधिकार में हमेशा ही रहा। गोड़वाड़, सिरोही, ईडर, और मालवे के मार्ग खुले ही थे। पर्वतों को बन्दरों की तरह लांघने में कुशल हजारों स्वामिभक्त भील लोग हमेशा प्रताप के पास रहते थे। शाही सेना से केवल मेवाड़ का उत्तर पूर्वी प्रदेश ही घिरा हुआ था। बाक़ी तो प्रताप के पास ही था। अवश्य राजमहलों-जैसा रहने का प्रबन्ध नहीं था, परन्तु ऐसा कष्ट नहीं था जैसा कि प्रचलित कर दिया है। साथ-साथ राणा सांगा एवं राणा कुम्भा की संचित अतुल संपत्ति प्रताप के पास ज्यों-की-त्यों बनी थी। शाह उस संपत्ति को एक किले से उठा कर दूसरे में रखने, उसकी रक्षा करने एवं आवश्यकतानुसार राणा प्रताप को देने के ही उत्तरदायी थे। यह कार्य उन्होंने बड़ी अच्छी तरह संपादित किया था। इसके अतिरिक्त कोई विशेष सम्पत्ति उन्होंने राणा प्रताप को न तो दी थी और न राणा को उसकी आवश्यकता ही थी।

इस प्रकार प्रथम चार सर्ग के अतिरिक्त दशमसर्ग, पंचदश एवं षोडश सर्ग अनैतिहासिक बातों से भरे हुए हैं। चतुर्दश सर्ग तो वीभत्स रस का परिपाक है जिसमें से कोई अंश उद्धृत करना तक हम उचित नहीं समझते। उसको पढ़ने ही में न जाने कितनी घृणा होती है।

अगर अनैतिहासिक सर्गों की भाषा ही अच्छी होती तो भी कुछ हानि-पूर्ति समझी जाती। परन्तु जैसा हमने ऊपर लिखा है, भाषा शैथिल्य यत्र-तत्र बुरी तरह दिखाई पड़ता है!

युद्ध वर्णन अवश्य अच्छा है, परन्तु आवेग में आकर स्थान-स्थान पर उसमें भी असावधानी दिखाई गई है। एक स्थान पर यही लिखा हैं:—

सुन कर सैनिक तनतना उठे हाथी-हय-दल पनपना उठे
हथियारों से भिड़ जाने को हथियार सभी भनभना उठे
गनगना उठे सातंक लोक तलवार म्यान से कढ़ते ही
शूरों के रोएँ फड़क उठे रणमंत्र वीर के पढ़ते ही

तनतना, पनपना, गनगना पढ़ कर साहित्यिकों के रोएँ अवश्य फड़क उठेंगे! निम्नलिखित तुकबन्दी भी पढ़ लीजिए—

फनफना उठे कवि वर्णन में, सुनने वाले सनसना उठे
भावों के आयुध कवि के दिल में; ज़ोरों से भनभना उठे
भनभना उठे पढ़ने वाले 'पनपना', 'तनतना' पढ़ते ही
दाईं-बाईं, उल्टी सीधी भाषा भावों पर चढ़ते ही!

यह दिखाने के लिए कि जरा से शब्दों के हेर-फेर से कितना अर्थ का अनर्थ हो सकता है, सप्तदश सर्ग से एक छन्द उद्धृत करना पर्याप्त होगा। इस अंतिम सर्ग में परमात्मा की प्रार्थना है। कवि लिखते हैं:—

तू पितृगण का भी पिता है, राम राम हरे हरे
दक्षादि का भी सृष्टि-कर्ता और पर से भी परे !

कविवर का आशय अवश्य दूसरा है, पर "राम राम हरे हरे" पढ़ कर बोध यह होता है कि कविवर कह रहे हैं:—

"राम राम, हरे हरे, छिः छिः, कैसी अनहोनी बात है! तू पितृगण का भी पिता बन बैठा है! अरे, तुझे तो पितृगण का पुत्र ही बनना था, पिता क्यों बन गया है!"

\+ + +

फिर भी, आधुनिक वीर-काव्य का जो श्रीगणेश 'हल्दीघाटी' में हुआ है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है और हमें आशा है कि जिन भूलों की ओर हमने ऊपर इशारा किया है, उनको बचा कर अन्य कविवर उसी मार्ग का अवलंबन लेंगे जिसका श्रेय खड़ी बोली में पं० श्यामनारायण जी पांडेय को मिल चुका है।

गोपालशरणसिंह की 'संचिता' और 'ज्योतिष्मती'

विदेशी गेंद-बल्ला के खेलों में भारतवर्ष में 'क्रिकेट' का खेल सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है। हजारों की भीड़, नगर-नगर में, 'क्रिकेट' का खेल देखने में, तल्लीन दिखाई पड़ती है। 'क्रिकेट' के खेल की साधारण बातें सभी पाठक जानते होंगे। जब 'क्रिकेट' का 'मैच' होता है तो एक दल खिलाता है और दूसरा दल खेलता है। खेलने वाले सज्जनों में प्रायः दो श्रेणी पाई जाती हैं। एक तो वे लोग होते हैं जो 'मारते खाँ' या 'हिटर' कहलाते हैं; जिनके हाथ में आते ही बल्ला अन्धाधुन्ध उठा करता है और जो आँख बन्द कर ऐसे जोर से बल्ला गेंद में मारते हैं कि आनन-फानन में गेंद सैकड़ों गज दूर जाकर गिरती है।

दूसरी श्रेणी के वे लोग होते हैं जो अन्धाधुन्ध खेलना तो जैसे जानते ही नहीं, गेंद को दस गज दूर फेंकना भी जिनकी सामर्थ्य के बाहिर होता है। गेंद को वहीं के वहीं रोक देना उनके खेल के कौशल की चरम सीमा होती है। ये लोग निरन्तर 'खुट-खुट' से दर्शकों को थका डालते हैं। ये 'ब्लॉकर' या 'खुटखुट करने वाले' कहलाते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि खेल से अनभिज्ञ अनाड़ी व्यक्ति अन्धाधुन्ध बल्ला तो सुगमता से घुमा सकता है, परन्तु 'खुट-खुट' नहीं कर सकता। 'खुट-खुट' करने वाले में अनुभव, बुद्धि, धैर्य एवं सतत अभ्यास की आवश्यकता हुआ करती है। इसीलिए हर जीतती 'टीम' में 'खुट-खुट' करने वालों का अत्यन्त महत्त्व माना जाता है और हर 'टीम' में एक दो 'ब्लॉकर' विशेष रूप में रखे जाते हैं।

'क्रिकेट' के खेल की तरह साहित्य में भी 'खुट-खुट' करने वालों

की आवश्यकता हुआ करती है। वास्तव में कोई भी साहित्य 'खुट-खुट' करने वालों के बिना नहीं पनप सकता। साहित्यिक 'ब्लॉकरों' द्वारा ही भाषा प्राञ्जल हुआ करती है। भाषा का मँजना तभी संभव हुआ करता जब 'खुट-खुट' करने वाले साहित्यिक सोच-विचार कर, एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य सफ़ाई के साथ छन्दों में बैठाते चले जाते हैं। इन लोगों की कविता में, भावावेश, कल्पना, प्रतिभा या अभिव्यञ्जना अधिक नहीं होती। कविता सीधी-सादी इतिवृत्तात्मक होती है परन्तु इनके द्वारा मँजी हुई परिष्कृत भाषा, साहित्य की अवश्य एक स्थायी सम्पत्ति हो जाती है।

जब द्विवेदी-युग में शृङ्गार रस के कवित्त, सवैये, बन्द होकर नाना प्रकार के विषय नए-नए छन्दों में पद्य-बद्ध होने प्रारम्भ हुए तब खड़ी बोली में भी 'खुट-खुट' करने वाले साहित्यिकों का एक दल आ पहुँचा। इस दल में ठाकुर गोपालशरणसिंहजी का नाम प्रमुख है। खड़ी बोली के माँजने में आपका विशेष हाथ रहा है। 'माधवी', और 'कादंबिनी' के अतिरिक्त 'संचिता' एवं 'ज्योतिष्मती' में आपकी रचनाएँ संगृहीत हैं।

ठाकुर साहब ने नाना प्रकार के विषयों पर इन २५ सालों में कविताएँ लिखी हैं। परन्तु वही सीधी-सादी शैली, वही छन्द, वही सीधे-सादे भाव और वही 'खुट-खुट' अभी तक वैसे-की-वैसे ही चली जा रही है। जमाना गुजर गया, द्विवेदी जी आए और चले गए, 'प्रसाद' जी आए और चले गए; 'छायावाद' आया और चला गया; 'उमर खैयामवाद' आया और चला गया; हिन्दी संसार में न जाने क्या-क्या 'वाद' आए और चले गए, परन्तु ठाकुर साहब की शैली में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया! वही सीधी-सादी भाषा और सीधे-सादे छन्द पढ़ते चले जाइये! वहाँ न तो वंशी-ध्वनि ही होगी और न विलाप-ध्वनि ही मिलेगी। ओज, शक्ति, सुकुमारता, कान्ति, मादकता, माधुर्य और वक्रोक्ति भले ही कहीं छिपे हुए दिखाई पड़ जाएँ परन्तु उनके काव्य में ऐसी कोई बात नहीं होगी जो समस्त

हृदय को तरंगायित कर सके। अवश्य वहाँ वाक्यों की भाषा सुमार्जित एवं सुसंगत मिलेगी और उसके ऊपर दिखाई पड़ेगी फूँक-फूँक कर पैर रखने वाले की सावधानता; शब्द बैठालने की सावधानता, पाद-पूर्ति की सावधानता और पद-विन्यास की सावधानता।

'विचित्र-विचार' का एक उदाहरण देखिए—

विभव-हीन हो गए किन्तु हम विभव-गर्व से अकड़े हैं;
घोड़ा गया, मगर हम उसकी पूँछ अभी तक पकड़े हैं।
अपने हाथ पैर हम रहते स्वयं सदा ही जकड़े हैं,
हैं मनुष्य पर बने हुए हम निरे काठ के लकड़े हैं।

वर्त्तमान भारतवासी का यह चित्र कितना सच्चा प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं उक्त-वैचित्र्य अपने आप आ गया है। 'जूही की कली' पर कविता देखिए:—

जूही की मृदु-मंजु कली—
अपनी कोमलता के घर में लाड़ प्यार से सदा पली।
करती थी निज-प्राण निछावर नमरर भ्रमरों की अवली।
किन्तु छोड़ निज जन्म-भूमि वह बिकती है अब गली गली !!

भाग्य परिवर्तन चक्र के साथ-साथ जन्म भूमि के छोड़ने का परिणाम कितनी सरल भाषा में व्यक्त किया गया है।

× × ×

जहाँ भाषा सरल हो और भाव भी सावधानी से व्यक्त किए जाते हों, वहाँ भाषा-दोष मिलना कठिन ही है। 'न दौड़ चलें—न गिर पड़ें'!

आधुनिक युग में भाषा की उच्छृङ्खलता ने हिन्दी साहित्य को बुरी तरह आच्छादित कर लिया है। उसका प्रभाव यदि ठाकुर साहब की रचनाओं में भी दिखाई पड़े तो आधुनिक युग का ही

दोष समझिए। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। "तुम और मैं" शीर्षक कविता में लिखा है:—

गगन-विहारी भानु हो तुम अति तेज निधान,
एक सितारा क्षुद्र मैं दीन मलीन महान।
दीन मलीन महान अँधेरे में बसता हूँ,
पाता हूँ जब ज्योति तुम्हारी तब हँसता हूँ।

यहाँ 'महान' शब्द 'अत्यन्त' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है! किन्तु तात्पर्य यह हो जाता है कि "मैं क्षुद्र भी हूँ, किन्तु 'महान' भी हूँ।" अथवा दीन-मलीन होते हुए भी 'महान' हूँ। महान् शब्द से सदा ही महत्व, प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता, मान्यता का बोध होता है। यहाँ पर यह शब्द अशुद्ध एवं अनुचित है 'क्षुद्र' और 'महान' में महान अन्तर है।

एक स्थान पर लिखा है—

सरस-सौरभ-हीन नीरस तुच्छ है
पर हृदय के पुष्प के ये गुच्छ हैं
क्या न चरणों पर तुम्हारे मैं धरूँ
फिर भला मैं भेंट क्या तुमको करूँ?

यहाँ 'तुच्छ' और 'गुच्छ' की तुक तो मिल गई; किन्तु यह पता नहीं चलता कि हृदय के एक पुष्प के 'गुच्छ' कैसे बन गए? या हृदय में एक फूल के ही 'गुच्छ' के 'गुच्छ' खिल रहे थे?

एक दूसरे स्थल पर लिखते हैं:—

मन अब लगता है; हा! कहीं भी न मेरा।
दृग-युग-गृह में है अश्रु-धारा-बसेरा॥

यहाँ दोनों नेत्रों में एक 'धारा' का ही बसेरा बना दिया है। अश्रुओं का स्थान बताया होता तो ठीक ही होता। "अश्रु-धारा"

का उद्गम स्थान बताया होता तो भी ठीक रहता। परन्तु जो धारा आँखों से उमड़ कर बाहर बहा करती है, उस 'धारा' का 'बसेरा' आँखों के भीतर कैसे बताया जा सकता है?

'शुभाभिलाष' में लिखते हैं:—

> जहाँ शक्ति का बोलबाला रहे वहाँ न्याय का भी उजाला रहे,
> गले में पड़ी नीति माला रहे किसी को न कोई कसाला रहे ॥

'नीतिमाला' शायद 'रुद्राक्ष' या 'तुलसी' की माला होती होगी जो केवल गले में पड़ी रहती होगी—हृदय में जिसके लिए स्थान नहीं होता होगा। आगे लिखते हैं:—

> नहीं सम्पदा आपदा से तने सखी क्रूरता की न शिक्षा बने,
> नहीं दम्भ को भाग्य-लक्ष्मी जने नहीं शूरता क्रूरता में सने ॥

यहाँ 'तने' और 'सने' देखने योग्य हैं। 'सम्पदा' शायद 'रस्सी' या 'डोरी' होगी जिसके द्वारा 'आपदा' तानी जाती होगी। और 'शूरता' तथा 'क्रूरता' 'गारा' 'मिट्टी' या 'आटा और बेसन' की तरह एक दूसरे में सानी जाती होगी!!

'परिणाम' शीर्षक कविता अच्छी है। इसमें एक स्थल पर लिखा है:—

> अभी अधूरे पड़े हुए हैं सब दुनिया के काम
> रात शाम से ही आ बैठा ले शराब का जाम!

यहाँ 'रात' और 'शाम' की जोड़ी ध्यान देने योग्य है!

इस कविता में निम्नलिखित यदि और जोड़ देते तो और भी अच्छा रहता:

> 'रात शाम' से ही आ बैठा ले शराब का जाम
> 'दिवस प्रात' से कविता देवी को कर रहा सलाम!

\+ + +

'जीवन-सागर' शीर्षक कविता में लिखा है:—

कब से नौका पड़ी भँवर में ?
होती है किस भाँति अकरुणा
करुणामय करुणा के घर में ?

'करुणा' के घर में 'अकरुणा' किस भाँति 'करुणामय हो जाती है ? 'निष्ठुरता' और 'अकरुणा' का शायद एक ही अर्थ हो !

एक स्थल पर लिखते हैं:—

सूख न जावें कहीं मृदुल पद-पद्म तुम्हारे;
इस भय से ही अश्रु अर्घ्य अर्पित करता हूँ।
हो न तुम्हारे वासस्थल में कहीं अँधेरा;
इसीलिए मैं व्यथा ज्योति उर में भरता हूँ।

भक्त की भावना तो देखिए। डाक्टर कहते हैं कि अपने पैर गर्म और सिर ठंडा रखो। कविवर परामर्श देते हैं कि नहीं, अपने पैर ठंडे और सिर गर्म रखो ! अगर तुम पैर ठंडे न रख सकोगे तो ठंडा करता रहूँगा। इस डर से कि कहीं तुम्हारे पैर सूख न जावें, मैं अपने अश्रुओं से सतत उन्हें गीला करता रहूँगा। भक्त की भावना ही तो है। भगवान कहीं बिचारे अँधेरे में न पड़े हों इसी लिए हृदय की व्यथा को 'टोर्च' बना कर उनके 'वासस्थल' को चमकाता रहूँगा। कहीं बिचारे उठें तो ठोकर खाकर न गिर पड़ें। भगवान को आफतों से बचाने का काम भी तो भक्त का है !!

लगभग ऐसा ही विचित्र विचार एक स्थल पर 'गृह-लक्ष्मी' कविता में आ गया है। लिखते हैं:—

कभी तुम्हारे उर में खोटे भावों का न वितान रहे।
अच्छे और बुरे की तुमको हरदम ही पहचान रहे।

दूर तुम्हारे भय से कम्पित क्रूर कुटिल छलवान रहे।
नयन वाण के सहित सर्वदा प्रस्तुत भौंह कमान रहे।

हृदय में शायद 'भावों' का 'वितान' (चंदोवा) रहता होगा! 'बली' और 'बलवान' की तरह ही शायद 'छली' और 'छलवान' होते होंगे।

कवि कहते हैं—"हे गृहलक्ष्मी' अपने हृदय में कभी खोटे भावों को स्थान मत देना। परन्तु किसी के हृदय पर चोट करने के लिए "भौंह-कमान" और 'नयनवाण' दोनों सदा ही प्रस्तुत रखना न जानें किस वक्त मौक़ा हाथ आ जाए! 'सुन्दर' कवि ने लिखा था:—

घूँघट की ओट ह्वै कै चितयो कि चोट करी
लालन तो लोट-पोट तबही तें भए हैं॥

'गृह लक्ष्मी' को ऐसी चोट करने के उद्देश्य से सदा प्रस्तुत रहने का उपदेश कितना सार गर्भित है?

× × ×

'इटली अबीसीनिया' युद्ध में अबीसीनिया ने राष्ट्रीय-संघ से सहायता की जब व्यर्थ याचना की थी तब ठाकुर साहब ने लिखा—

करता रहा करुण स्वर से तू नाहक़ ही फ़रियाद।
इस दुनिया में किस निर्बल को कभी मिली है दाद?
बधिर कर रहा था कानों को भीषण समर-निनाद।
कहाँ सुनाई पड़ सकता था करुण अहिंसावाद?

यहाँ 'अहिंसावाद', 'समर-निनाद' के साथ-साथ 'दादफ़रियाद' की तुक ठीक नहीं मालूम होती।

कानों से सुनाई नहीं पड़ता तब मनुष्य को ही 'बहिरा' कहा जाता है। यह नहीं कहा जाता कि उसके 'कान बहिरे हैं'। इसी

तरह यह कहना अशुद्ध होगा कि उसकी 'आँखें अन्धी हैं' 'जीभ गूँगी है' 'पैर लँगड़े लूले हैं' इत्यादि। 'समर-निनाद' से कान फूटे जाते थे—ऐसा लिखना ठीक होता। किन्तु यह विषय 'अच्छी हिन्दी' का है। कई साहित्यिकों ने गद्य में लिखा है कि उनके कान बहिरे हो रहे हैं। फिर पद्य का अपराध ही क्या है?

अब; 'दाद' और 'फ़रियाद' का प्रयोग करना अशुद्ध नहीं है। परन्तु फ़ारसी-अरबी शब्दों के लिए छन्द में अलग वातावरण कर लेना चाहिए; या शब्द घुला-मिला लेने चाहिए। 'दाद' शब्द प्राचीन काल से ही हिन्दी कविता में चला आ रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़ी सफलता से "विनयपत्रिका" में प्रयुक्त किया है।

दो तीन उदाहरण देखिए—

(१) कृपासिन्धु जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे?

(हे कृपासिन्धु! ग़रीब तुम्हारे द्वार पर न्याय क्यों नहीं पाता?)

(२) दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद मंगल रितई है

(मैं तुम पर बलिहार हूँ! देख कर न्याय कीजिए नहीं तो यह पृथ्वी आनन्द-मंगल से खाली हो जायगी।)

(३) दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन सदन बधाय?
मिटै संकट सोच पोच प्रपंच पाप निकाय॥

(भगवान ने ग़रीब के साथ इन्साफ़ किया, यह सुन कर सज्जनों के घरों में मंगलाचार होने लगे; संकट, सोच, नीच प्रपंच और पाप के समूह मिट गए।)

'रसखान' ने भी इसी भाँति 'दाद' को 'दादि' बना कर यह शब्द प्रयुक्त किया है, और दूसरे प्राचीन कवियों ने भी।

गोस्वामीजी ने तो कई 'अरबी' भाषा के शब्दों को अपनी भाषा के साँचे में ढाल कर सुन्दर बना दिया है। अरबी का

'मिस्कीन' लफ़्ज़ है जिसका मतलब 'बहुत ज्यादा सादगी या अत्यन्त दीनता' है। गोस्वामीजी ने 'मिस्कीनी' को 'मिस्कीनता' बना कर कविता में प्रयुक्त किया है, यथा—

> एहि दरबार है गरब ते सरब हानि
> लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
> मोटो दसकन्ध सो, न दूबरो बिभीषण सो
> बूझि परि रावरे की प्रेम पराधीनता॥

(इस दरबार में गर्व करने से सर्व हानि है। बड़ी सादगी और गरीबी में ही सुख और कल्याण का लाभ है। दशकंध प्रतापी था, विभीषण दीन था। दोनों का भाग्य देख कर तेरे प्रेम से पराधीन मुझे होना पड़ा।)

यहाँ छन्द का वातावरण ही कोमल शब्दों का है। 'मिसकीनता' उसी में घुल मिल गया है।

उर्दू की शायरी में भी ऐसे ही लफ़्ज़ शेर में रखे जाते हैं जो बाक़ी दूसरे लफ़्ज़ों के साथ घुल-मिल जाते हैं। एक मिसाल देखिए—

> फ़ुग़ाँ में, आह में, फ़रियाद में, शेवन में, नाले में
> सुनाऊँ दर्दे दिल ताक़त अगर हो सुनने वाले में

एक दूसरा शेर देखिए—

> बेअसर हैं नालओ फ़रियाद क्या
> उठ गई दुनिया से रस्मे दाद क्या?

इन दोनों शेरों में 'दाद' और 'फ़रियाद' दूसरे लफ़्ज़ों में हिले-मिले दिखाई पड़ते हैं; एक भी लफ़्ज़ ऐसा नहीं जो अलग चलता दिखाई पड़ता हो एक भी लफ़्ज़ ऐसा नहीं जो कानों को खटकता हो। कर्णकटु, भारी या कर्कश शब्द यदि एक भी आ जाता तो शायरी में मज़ा न आ पाता!

ठाकुर साहब की कविता में 'करुण स्वर की फरियाद' और 'निर्बल की दाद' छन्द से अलग दिखाई पड़ते हैं। 'करुण-अहिंसावाद' और 'भीषणसमर निनाद' में वह घुल-मिल नहीं सके !

उनकी रचनाओं में सरस भाषा पर अधिक ध्यान भी नहीं दिया गया है। इसीलिये कहीं-कहीं अत्यन्त कर्णकटु एवं कर्कश शब्द भी आ गए हैं। 'परिचय' शीर्षक कविता का एक छन्द देखिये लिखते हैं:—

दीन देख कर कभी किसी पर हम न दया दिखलाते हैं।
अवसर मिलने पर हम सबको सदा हानि पहुँचाते हैं।
किन्तु शत्रुता खुल्लमखुल्ला करने में हम डरते हैं।
सतत ओट में ही रह कर हम चोट सभी पर करते हैं॥

'खुल्लमखुल्ला' शब्द कविता का नहीं है। जबरदस्ती घुसेड़ा गया है। परिणाम यह हुआ कि कविता का आनन्द ही चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण गवैये ने गाना प्रारम्भ किया हो; और प्रारम्भ होने के अनन्तर ही दमे की बीमारी के कारण "खुल, खुल, खुल, खों, खों, खों," करने लगा हो। गाने का मजा ही चला गया।

× × ×

कहीं-कहीं अत्यन्त सरल भाषा होने से भावों का ही पता नहीं चल पाता। 'भरत-भूमि' बड़ी सुन्दर कविता है। उसमें एक स्थान पर लिखा है:—

जिसमें प्रकाश का प्रथम प्रकाश हुआ था
जिसमें विकास का प्रथम विकास हुआ था
सब विभूतियों का जहाँ विलास हुआ था
लक्ष्मी-निवास का जहाँ निवास हुआ था

जो अशरण - शरण सदैव रही दुखहारी
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी

'प्रकाश का प्रथम प्रकाश' 'विकास का प्रथम विकास' और 'लक्ष्मी-निवास' का 'निवास' क्या होता है? कविवर का शब्द-कोष समाप्त प्रतीत होता है। इसमें नीचे लिखा छन्द मिला कर पढ़ लीजिए:—

जिसमें भाषा का प्रथम प्रयास हुआ था
जिसमें कविता का नव - उल्लास हुआ था
शब्दों की आवृत्ति का उपहास हुआ था
भावों का किन्तु न तनिक विकास हुआ था !!
सीधी-सादी अति भोली-भाली प्यारी
'संचिता' वही है तीन लोक से न्यारी !!

× × × ×

गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ'

ठाकुर गुरुभक्तसिंहजी की सब से श्रेष्ठ कृति 'नूरजहाँ' प्रबन्ध-काव्य है। जहाँगीर बादशाह और मेहरुन्निसा (नूरजहाँ) के ऐतिहासिक प्रेम से सभी पाठक भली भाँति परिचित होंगे। इसी प्रेम का वर्णन इस महाकाव्य में किया गया है। भाषा की दृष्टि से प्रबन्ध-काव्यों में 'नूरजहाँ' का स्थान अद्वितीय है और जहाँ तक भाषा-प्रवाह का सम्बन्ध है, अभी तक हिन्दी साहित्य में इतना सुन्दर प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा गया।

'साकेत' और 'प्रियप्रवास' का मूल्य भगवान राम और कृष्ण की कथा के कारण ही अधिक है। परन्तु 'नूरजहाँ' का मूल्य केवल विशुद्ध साहित्यिक ही है।

जब मेहरुन्निसा शेर अफगान के साथ बङ्गाल जाती है उस समय 'विदा' के रूप में कवि की कविता एवं कल्पना कितनी सुन्दर एवं ऊँची हो उठती है, निम्नलिखित अंशों से इसका कुछ-कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा। कवि कहता है:—

वह इन्द्र-धनुष सा शुभ्र विरह-वारिधि का सुन्दर सेतु विदा।
उस करवट ले ले सोनेवाले मन्द भाग्य की याद विदा॥
वह छिप-छिप कर उठनेवाली मन की आनन्द हिलोर विदा।
मेरे मानस में बन्दी होनेवाले वह चितचोर विदा॥
प्यारे दामन की पट्टी से बाँधे चोटों की टीस विदा।
उस मरु प्रदेश में खोई सरिता धारा के वारीश विदा॥

× × × ×

स्वच्छन्द विहँग की सदा अपरिमित ऊँची सुखद उड़ान विदा।
नैराश्य-निशा का कभी न होने वाला सुखद विहान विदा॥

नव-तरल-तरंग-तड़ित बहती तरनी के परिचित कूल विदा।
प्रतिकूल-प्रवाह-प्रगति-नौका के पूर्व पवन अनुकूल विदा॥
ओ भ्रान्ति विदा, ओ शान्ति विदा, ओ अपनी भोली भूल विदा।
ओ मेरी मुरझाई आशाओं की समाधि के फूल विदा॥

दशम सर्ग की प्रथम ५२ पंक्तियों में से ये तो केवल कतिपय उद्धरण हैं। विदाई के समय ऐसे सुन्दर छन्द और इतनी सुकुमार कल्पना साहित्य में मिलना दुर्लभ है।

अनारकली जब नदी पार करने लगती है तब प्राकृतिक दृश्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। लिखते हैं:—

'कायडर' के पीत पुष्प देखे झाऊ झुरमुट में फूलों पर।
फिर दौड़ गईं उसकी आँखें तट के ऊपर के फूलों पर॥
चरते चीतल भी चौंक उठे आँखें फैला इसको देखा।
फिर चमक चौकड़ी चपल भरी उड़ गए बाण की ही रेखा॥

× × × ×

वह नाप नाप कर पग धरती, बढ़ती थी थाह थाह लेती।
धारा में सरक सरक जाती थी, पग के नीचे से रेती॥
एड़ी डूबी, पिंडली डूबी, घुटने डूबे जब पैर बढ़ा।
फिर उसके भरे नितम्बों पर, धीरे ही धीरे सलिल चढ़ा॥
कटि से लहरों के किंकिण में बुदबुद के घुँघरू लटक गए।
जल भँवरों के कितने ही दल यह कमल देखकर अटक गए॥
उर मिल कर जीवन उर्मिल से रोमांचित होकर उठा सिहर।
फिर उसकी ग्रीवा में लहरों ने पुलकित होकर डाला कर॥

वर्णन की रोचकता के साथ-साथ भाषा-प्रवाह की इतनी अबाध एवं सरल गति और कहीं मिलना कठिन है। मुहावरों का इतना प्रचुर और सुन्दर प्रयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। अरबी और फ़ारसी शब्द आते रहने पर भी न तो भाषा-प्रवाह में ही

रुकावट आ पाई है और न किसी प्रकार की दुरूहता ही प्रतीत होती है। जो शब्द प्रयोग किये गये हैं उनका वातावरण भी उनके उपयुक्त ही है। अनावश्यक न तो वे शब्द प्रतीत ही होते हैं; और न प्रतिकूल वातावरण में जबरदस्ती ठूँसे ही गये हैं। यदि 'नूर-जहाँ' का आदर्श खड़ी बोली के पद्य में रहा होता तो हिन्दी साहित्य का मार्ग कुछ दूसरा ही हुआ होता और "हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी" का वह उग्र झगड़ा अपने आप निबट गया होता जो प्रत्येक भारतवासी के लिये आज लज्जा की बात बन रहा है। श्रीभगवतशरण उपाध्यायजी, एम० ए० तो इस प्रबन्ध-काव्य पर इतने मुग्ध हुए कि प्रत्येक अध्याय पर अध्याय से दुगने आकार में उन्होंने समालोचना ही लिख डाली। जो सज्जन 'नूरजहाँ' के विषय में अच्छी जानकारी चाहते हैं उन्हें यह समालोचना अवश्य पढ़नी चाहिए।

× × ×

प्रबन्ध-काव्य के लिए यह आवश्यक है कि न तो प्रबन्ध का सिलसिला ही टूटने पाए और न कहीं पर भी भाषा-शैथिल्य आने पाये। 'नूरजहाँ' में प्रबन्ध का सिलसिला कहीं भी टूटने नहीं पाया। अवश्य ही अनारकली सम्बन्धी परिच्छेदों का कथानक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। बारहवें परिच्छेद की कथा यदि ऐतिहासिक तथ्य है तो भी कम कर दी जाती तो अधिक रोचक होती। अकबर-अनार का सम्भाषण और जमीला अकबर का सम्भाषण कवि में सामन्तिक अनुभव की कमी इंगित करते हैं।

इतने बड़े प्रबन्ध-काव्य 'नूरजहाँ' में अगर भाषा-प्रवाह कहीं बिगड़ा भी है तो ऐसे स्थल बहुत कम हैं। भाषा-दोष इतने बड़े आकार की पुस्तक में आना सुगम है। एक उदाहरण अनुचित न होगा। दशम सर्ग की भाषा अति-रंजित है। एक स्थान पर है—

"रज—जिसमें विभूतियाँ अगणित मिली हुई हैं सतियों की।
रज—जिसमें समाधियाँ सोईं कितने योगी यतियों की॥

रज—वह जिसमें रक्त मिला है अमर शहीदों वीरों का।
जो स्वदेश-हित हुए निछावर अटल व्रती रणधीरों का॥
यह पावन रज त्रिभुज अंक में सिन्धु निकट वे भर लेतीं।
उठ उठ कितना जलधि माँगता किन्तु नहीं उसको देतीं॥
प्रकृति नटी का रंगमंच वह, रम्य देश प्यारा बंगाल।
वहाँ पहुँच कर नवदम्पति वह, छटा निरख हो गया निहाल॥

यहाँ भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ भाषा प्रवाह अत्यन्त आकर्षित हो गया है। इसी छन्द के बाद निम्नलिखित पंक्तियाँ आ जाती हैं:—

धीरे धीरे और मन्द गति, जाता है यदि पूर्व मलय!
सुरभि-सुन्दरी सुमन सेज पर सोई, जग न जाय निर्दय!
विरह सिन्धु के मन्द सलिल में प्रिय अभिलाषा का जलयान।
जीवन में निर्जीव पड़ा है तू ने फूँका तनिक न प्रान॥
जाना ही है हरित देश में तो मत मित्र अकेले जा।
सूखे पालों में भर कर तू मेरी नौका ठेले जा॥

यहां प्रतीत होता है कि सूखी रेती में भाषा की नौका ठेली जा रही है! सुरभि-सुन्दरी को निर्दय क्यों बना दिया गया? प्रिय अभिलाषा के जल-यान में प्रान कैसे फूँके जा सकते हैं? विरह-सिन्धु के सलिल की मन्दगति से क्या तात्पर्य है?

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है कि काव्य में किसी भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार सुन्दर सुडौल शरीर को एक छोटा सा कुष्ठ-धब्बा दूषित कर देता है उसी भाँति बड़े से बड़े काव्य को एक दोष ही दूषित करने में समर्थ हो सकता है। कवियों और समालोचकों का ध्यान इस ओर बहुत ही कम गया है, इसीलिए आज के सुन्दर काव्य-ग्रन्थों में भी भद्दे-भद्दे दोष स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। जिस 'नूरजहाँ' के भाषा-

प्रवाह और भाषा-सौष्ठव पर गर्व होना चाहिए उसी 'नूरजहाँ' में जमीला के मुँह से कहलाए निम्नलिखित वचन पढ़ कर न जाने कितनी ग्लानि होती है:—

> हाँ मरते हैं मुझ पर कितने, सूरत हो तो ऐसी।
> खटक रही हूँ जिसके दिल में, उसकी ऐसी तैसी॥

जमीला ने तो शायद और भी अपशब्द अपने मुँह से निकाले होंगे। उनको भी उद्धृत कर देते तो भाषा का बड़ा उपकार होता। कहाँ तो भाषा की पहिली ऊँची उड़ान और कहाँ फिर वही भाषा समतल के नीचे भी धसकने लगी!

एक स्थान पर कवि ने लिखा है:—

> तुम 'कम्पा' यह ले जाओ, मुझ पर न लगेगा लासा।
> हढ़ता जल में गल जावेगा तेरा जाल-बतासा॥

यहाँ लासा और 'बतासा' की तुक देखने योग्य है। तुक मिलाने के लिए 'दृढ़ता' सरीखी ठोस वस्तु को जल-सा तरल बनाना पड़ा। शायद 'ढुल-मुल-यकीनी' के ढीलेपन को हथौड़े की सख्ती से समता दी जानी ठीक होगी!!

एक दूसरे स्थान पर ओठों को 'सकोरा' ही बना दिया है। लिखा है:—

> ओठों से नहीं लगे हैं, कोरे हैं अधर-सकोरे।
> है मन्द प्रात मलयानिल, उठते हैं नहीं झकोरे॥

पत्तल, दौने और कुल्हड़ और दिखा देते तो सकोरों का अकेलापन शायद खटकता नहीं!

एक स्थान पर लिखा है:—

सागर में जलपक्षी उड़कर कहीं पकड़ते होवें मीन।
छोटा-सा मूँगा-समूह का द्वीप बना हो कहीं नवीन॥
जिस पर बैठे अगणित पक्षी सेते हों अण्डे अपने।
लख एकान्त तपस्वी मानो बैठे हों माला जपने॥

इस सूक्ष्म दृष्टि की कितनी प्रशंसा की जाय? पक्षियों का अण्डा सेना अवश्य ही तपस्वियों का माला जपना प्रतीत होता होगा! माला भी गोल और अण्डा भी गोल। और उत्प्रेक्षा भी बिलकुल गोल—अगणित तपस्वी जहाँ बैठे हों वहाँ भी एकान्त ही बना रहेगा!

एक स्थान पर है:—

ऐसी कुन्दी मैं कर दूँगी तू कलप कलप मर जाये।
मैं सौंद सौंद कर फींचूँगा तू घाट घाट फिर मर जाये॥

'कुन्दी कर देना' और 'सौंद-सौंद कर फींचना' अवश्य ही सुन्दर भाषा के मुहावरे हैं। इसी प्रकार—

फिर किसने गिटकिरियाँ भर कर ली अलाप पंचम में।
फिर कैसी उतार स्वर लहरी ताल तोड़ दी सम में॥

'गिटकिरियाँ भरने' से महाकाव्य की शोभा अवश्य ही बढ़ रही है। न जाने कितने ऐसे प्रयोग 'नूरजहाँ' में आते चले गए हैं।

× × × ×

क्षेमेन्द्र ने संस्कृत भाषा में 'औचित्य विचार चर्चा' नाम की समालोचना-सिद्धान्त की पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबन्ध-काव्य में विशेषतया औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। चौदहवीं शताब्दी की कथा में मोटरकार दिखाना अनौचित्य होगा। उसी प्रकार मुसलमानों के यहाँ वाह

बिल और अंग्रेजों के यहाँ कुरान का महत्व बतलाना भी अनौचित्य होगा।

हिन्दी का दुर्भाग्य है कि बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्यों में भी अनौचित्य की भरमार मिलती है। 'नूरजहाँ' में भी यत्र-तत्र अनौचित्य के उदाहरण मिलते हैं। भारतीय हिन्दू-समाज में बच्चों के माथे पर काजल के टीके लगाने की प्रथा को देखकर कवि ने वही प्रथा कन्धार में भी बता दी है। लिखा है—

> ये अभी अभी पहिनाए कपड़े सफ़ेद नहलाकर।
> मण्डित कर आभूषण से इक टीका श्याम लगाकर॥

मेहरुन्निसा के अवश्य ही क़ाजल का टीका लगाया गया होगा और वह भी कन्दहार शहर में !

शायद इस हिन्दूप्रथा का उस पर आजन्म प्रभाव रहा होगा। इसीलिए उससे "जगदाधार" का स्मरण और "पाषाण मूर्त्ति का ध्यान" कराना उचित समझा गया। कुतुब से जब शेर अफ़गन मिलने जाता है तब मेहरुन्निसा की अवस्था कवि ने निम्नलिखित बताई है:—

> आँखों में आँसू भर ऊपर देख कहा, हे जगदाधार।
> "रक्षा करना, उठती है मन में आशंका बारम्बार॥
> गए अकेले संग न कोई करना कुशल अरे रहमान!"
> रही चढ़ाती आँखों का जल, कर पाषाण मूर्त्ति का ध्यान !!

'रहमान' और 'जगदाधार' का जोड़ा देखने लायक है। मेहरुन्निसा ने अवश्य ही "पाषाण मूर्त्ति का ध्यान" करके जल चढ़ाया होगा !!

मेहरुन्निसा का विवाह तो अवश्य वैदिक पद्धति से ही हुआ होगा। कवि ने लिखा है:—

अब समय हुआ दूल्हा आकर सब धार्मिक रीति रस्म करके !
उस मेहरुन्निसा सुन्दरी को, लाया अपने घर पर, वर के ॥

कविवर ने धार्मिक रीति-रस्म की छाया प्राकृतिक दृश्यों में दिखाकर काव्य-पटुता का परिचय दिया है ! लिखा है:—

पियरी पहिन खड़ी है सरसों, आम खड़े हैं लेकर मौर ।
वेद मन्त्र से पढ़ते फिरते हैं फिर फिर भौंरों के भौंर ॥
कनक पत्र के विमल पाँवड़े बिछा किया स्वागत छवि ने ।
प्रकृति वधू के सँग पुरुष को बैठाया सादर रवि ने ॥
ले वरवधू तितलियाँ सुन्दर करा रही हैं भाँवरियाँ ।
उस प्रमोद सागर में झिझरी खेल रही हैं दृगतरियाँ ॥

अहले इस्लाम की शादी के वक्त मजहबी रस्मों में—वेद मंत्र, भाँवरें, और प्रकृति एवं पुरुष का मिलन—अवश्य ही ऊँचा स्थान रखते हैं ! कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय है या यह अनौचित्य की पराकाष्ठा है ?

मुसलमान अफ़सरों से मुसलमान शासक को भी 'नमस्कार' कराना ही उचित समझा गया ! लिखते हैं:—

नमस्कार कर कहा मीर ने क्षमा कीजिएगा सरकार ।
हुक्म बजा लाने में मुझको कभी नहीं होता इनकार ॥

मीर मुअज्ज़म ने अगर शेर अफ़गन को 'नमस्कार' किया होगा तो आधुनिक पद्य में हिन्दू पंडित शायद हिन्दू राजाओं को 'सलाम मालेकम्' कहते होंगे !

वास्तव में, ऐसे-ऐसे स्थल, 'नूरजहाँ' में पढ़ते-पढ़ते यह प्रतीत होता है कि कहीं कवि को कालिदास की शकुन्तला पर खड़ी बोली में यदि महाकाव्य लिखना पड़ता और कहीं ऋषि कण्व के आश्रम-

वासियों और राजा दुष्यन्त का संवाद भी लिखना पड़ता तो अवश्य यही लिख देते कि:—

'अदाबर्ज़' कह ऋषिवर बोले, "बन्दापरवर जहाँपनाह
बेटी शकुन्तला से अब करना है तुमको 'सही निकाह'
'फ़ासिद'-'बातिल-स्थान छोड़कर, हो 'ईजाब-क़ुबूल' रिवाज
दो मर्दों की भरो गवाही—रीति रस्म पूरी हो आज"
पढ़ें 'हदीस' 'क़ुरान' भँवरगण, 'मेहर' तै करें अप्सरियाँ
देख तमाशा भाषा भी अब ख़ूब भरेगी चौकड़ियाँ!

शायद यह भाषा, भाषा-पारखियों को रुचिकर प्रतीत होगी!

सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी'

पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के एक सफल राष्ट्रीय कवि हैं। उनके राष्ट्रीय गीतों का संग्रह 'भैरवी' के नाम से छपा है। उनके गीत, गीतों का राग, और गीतों की भाषा राष्ट्रीय भावुकता से तो ओत-प्रोत है ही; साथ-साथ उस भाषा में जो सजीवता आ गई है वैसी सजीवता अन्य राष्ट्रीय कवियों की कविताओं में कम मिलती है। भाषा की ऐसी सजीवता किसी भी गीत को हृदय के दूर के कोने तक ले जाने में समर्थ होती है। शायद इसीलिए जन-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदीजी अत्यन्त लोकप्रिय एवं सफल कवि हैं।

उनकी भाषा सामान्यतया शुद्ध है—यद्यपि ३७ गीतों के बड़े संग्रह में कहीं-कहीं एक-दो दोष दिखाई पड़ते हैं जो क्षम्य हैं।

कम-से-कम दो-एक दोष 'भैरवी' में ऐसे हैं जो कानों को बुरी तरह खटकते हैं। 'आग' को 'आगी' लिख देना और जेल के 'सींकचों को 'सिंकचा' कर देना भाषा को बिगाड़ना है।

इसीलिए 'राणा प्रताप के प्रति' शीर्षक कविता के प्रथम छन्द में यह दोष खटकता है, यथा:—

> कल हुआ तुम्हारा राजतिलक
> बन गए आज ही वैरागी?
> उत्फुल्ल मधु-मदिर सरसिज में
> यह कैसी तरुण अरुण आगी?

अन्तिम दो चरणों का अर्थ करने पर भाव भी कुछ अच्छा नहीं रह जाता।

इसी प्रकार 'विषमता' में लिखा है:—

मैं रागी तुम वैरागी,
तुममें मुझमें समता ही क्या ?
मैं पानी हूँ तुम आगी

'सेगाँव के सन्त' में लिखा है—

किसने स्वतन्त्रता की आगी
पग पग मग मग में सुलगा दी ?

पृष्ठ ६१ पर एक सुन्दर कविता 'स्वागत सुमन' शीर्षक से है। उसका पहिला छन्द है:—

माँ ने किया पुकार, बड़ा तू
चढ़ा हुआ .कुरबान !
हमने देखा तुझे टहलते
सिकचों के दरम्यान !

इसी प्रकार 'नवझाँकी' में तीसरा छन्द यह है:—

जंजीरों ने चुरा लिया
बनमाला की छवि बाँकी
सिकचों में लख आया हूँ
मनमोहन की नव झाँकी

'बनमाला की छवि चुरा ली' या 'चुरा लिया ?'

'आगी' और 'सिकचों' के साथ-साथ 'पीठी' शब्द भी बुरी तरह खटकता है।

आँखें भीतर जा रही धँसी
किस रौरव का बन रहीं 'कूप ?
लग गया पेट जा पीठी से
मानव ? हड्डी का खड़ा स्तूप !

स्तूप का विशाल आकार होता था। अत्यन्त दुबले-पतले मनुष्य को 'हड्डी का स्तूप' कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

'विप्लवगीत' का पहला छन्द है:—

रवि गिरने दे, शशि गिरने दे
गिरने दे, तारक सारे,
अचल हिमांचल चल होने दे
जलधि खौल कर फुंकारे

खौल कर भी समुद्र, शेषनाग नहीं बन जाता जो फुंकारने लगे। 'फुंकारे' के स्थान में 'हुङ्कारे' अधिक उपयुक्त होगा।

दूसरा छन्द है:—

धरा धसकने दे पग-पग में
शैल खिसकने दे जल में
दाहक प्रभुता का मोहक
आवरण मसकने दे पल में

'दाहक' और 'मोहक' साथ-साथ अशुद्ध हैं; एक चरण में बुरे भी लगते हैं। 'प्रभुता के आवरण' के 'मसके जाने' से तात्पर्य क्या हो सकता है? 'धसकने' और 'खिसकने' के मुक़ाबले में अधिक ओजप्रद शब्द की यहाँ आवश्यकता है।

आगे का एक छन्द है:—

धूम्रकेतु चमके, चमके शनि
चमके राहु, त्रास पल-पल
होवें ग्रह बारहों केन्द्रित
विकल करें रव दिग्मंडल

धूम्रकेतु भले ही चमकता हो, राहु तो किसी ने चमकता नहीं देखा। राहु केवल छाया ग्रह है। अर्थात् पृथ्वी सूर्य के चारों ओर

भ्रमण करती है। उस मार्ग को जहाँ चन्द्रमा काटता है वह स्थान राहु कहलाता है। हिन्दू ज्योतिष 'नवग्रह' का ही अस्तित्व मानता है, बारह ग्रह का नहीं। सात ग्रह ही एकत्रित हो सकते हैं, नव-ग्रह नहीं। 'केन्द्रित' का अर्थ केन्द्र में रहने से प्रतीत होता है। एकत्रित अच्छा शब्द है।

'विकल करें रव-दिग्मंडल' फिर भी रह जाता है। 'विकल होकर दिग्मंडल शोरगुल करें' शायद यह अर्थ होगा। परन्तु शब्दों से यह अर्थ-बोध नहीं होता।

उज्जैन एवं अवन्तिका, (अवन्ती) एक ही बात है परन्तु अलग-अलग लिखे गए है—

ये मगध, अयोध्या, ऋषिपत्तन
उज्जैन अवन्ती के प्रांगण

और

भूल गये वृन्दावन मथुरा
भूल गये क्या दिल्ली झाँसी?
भूल गये उज्जैन अवन्ती
भूले सभी अयोध्या काशी?

× × × ×

'भैरवी' राष्ट्रीयता की झङ्कार है। सामयिक कविताएँ भावुकता प्रधान-राष्ट्रीयता की गति की ताल पर रची गई हैं। उस भारतीय राष्ट्रीयता का रूप भी उसमें व्यापक पाया जाता है। और इसीलिए जहाँ-जहाँ 'ढोली' शब्द आया है वह कानों को बुरी तरह खटकता है। क्योंकि 'ढोली' शब्द अत्यन्त संकीर्णता की ओर इंगित करता है। सर्व-व्यापी राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक प्रतीत होता है। परन्तु द्विवेदी जी का यह शब्द अत्यन्त प्रेम-पात्र हो रहा है। जहाँ देखो वहीं 'ढोली' शब्द का प्रयोग कर डाला है। कुछ उदाहरण अनुचित नहीं होंगे:—

(१) मेरे वीरो तैयार रहो
फिर भेरी बजने वाली है,
मेरे तीरो तैयार रहो,
फिर टोली सजने वाली है

तीरो ! क्या ? क्या ? क्या कविवर तरकस हैं जो तीरों को एकत्रित कर रहे हैं ?

(२) हम अमर शहीदों की टोली में
नाम लिखाने वाले हैं
हम मातृभूमि के सैनिक हैं
आज़ादी के मतवाले हैं

(३) बच्चों बूढ़ों, माँ-बेटों की
बहनों-भाई की यह टोली
झूमती चली मतवाली बन
उन पर खाने गोला-गोली

(४) लहरें बोलीं, तट पर आकर
देखो, वह टोली है आई।

कर्णकटु एवं संकीर्ण 'टोली' शब्द के स्थान में अधिक मधुर एवं अधिक व्यापकता के आभास के परिचय देने वाले शब्द की आवश्यकता है।

एक स्थान पर लिखा है :—

मातायें छोड़ें पुत्रों को
पति को छोड़ें बालाएँ
अपनी-अपनी पड़े सभी को
प्राणों के लाले छायें

धुआँधार हो, अंधकार हो
कहीं न कुछ सूझे, देखे
स्वयं विधाता भस्मसात् हो
भूल जाय लिखना लेखे

यहाँ पर 'बालाएँ', 'सूझे, देखे', 'लिखना लेखे' अशुद्ध एवं चिन्त्य प्रयोग हैं। मुहाविरा यह है कि सभी को 'प्राणों के लाले पड़े हैं'। यह नहीं कहा जाता कि 'प्राणों के लाले छाए हैं'।

इसी प्रकार 'बेइज्जती' के दाग' हमको जगा रहे हैं अथवा 'अपमान के काले धब्बे हमारी स्मृति को अभी तक ताज़ा किए हुए हैं''—यह कहना ठीक रहता है। परन्तु निम्नलिखित शब्द अशुद्ध प्रयुक्त किए गए हैं :-

जागो ! प्रताप, मा-बहनों के
अपमान-छेद हैं जगा रहे

'काँटों की कटु झोंपड़ियाँ', 'बेटी की प्यासी दाहों में', 'करुणा लोचन मीचे', शासन सत्ता के गर्व बहे' 'उठती नवजीवन की नीवें' यह प्रयोग चिन्त्य हैं।

काँटों की झोंपड़ियों के लिए मीठा और कड़ुआ विशेषण असंगत है। 'भूखी आहें' तो ठीक हो सकती हैं परन्तु 'प्यासी दाहें' कैसी होती हैं ? 'दग्ध-हृदय की दाहें' तो समझी जा सकती हैं। 'लोचन' शुद्ध संस्कृत शब्द है और 'मीचे' ग्रामीण भाषा का ! दोनों का मिश्रित प्रयोग बुरा मालूम पड़ता है। 'तरुण तपस्वी' के लिए 'करुणा-लोचन' असंगत भी है।

फिर, 'साम्राज्यवाद के दुर्ग ढह जाना' तो समझ में आता है परन्तु शासन-सत्ता के गर्व बह जाना समझ में नहीं आता। 'गर्व मिट जाना' होता तो ठीक था।

'नवचेतन की दिव्य दृष्टि लेकर नवजीवन की नीवें उठती हैं'—यह अशुद्ध प्रयोग है। नवजीवन की नींव डाली जाती है—बुनियाद डाली जाती है—क़ायम की जाती है—ये प्रयोग भाषा में शुद्ध हैं।

'राजतंत्र के खंडहर में स्वतंत्र भारत का अभिनव जन्म हो रहा है'—कुछ ठीक होता। परन्तु स्वतंत्र भारत कोई कुकुरमुत्ता का पौधा थोड़ा ही है जो खंडहर में उग रहा हो।

'महर्षि मालवीय' शीर्षक में लिखा है:—

तुम्हें आजकल नहीं और धुन
केवल आज़ादी की चाह।
रह-रह कसक-कसक उट्ठा
करती है उर में आह कराह

हृदय में एक साथ ही रह-रह कर आह और कराह का उट्ठा करना अस्वाभाविक है। 'आज़ादी' के लिए 'कराह' का उठना भी असंगत है। 'उट्ठा करती है' भी बुरा प्रतीत होता है। वेदना के लिए 'कसक-कसक' शब्द समीचीन हो सकते हैं परन्तु 'आह' के साथ अशुद्ध प्रयोग होगा। 'कसक-कसक कर पीड़ा का उठना ठीक हो सकता है। परन्तु 'कसक-कसक कर पीड़ा का उट्ठा करना' एक अजीब भाषा प्रतीत होती है। इसी प्रकार

कल लखनऊ गूँज उट्ठा था
आज हरिपुरा हहर उठे

में 'गूँज उट्ठा' और 'हहर उठे' कानों को खटकते हैं।

'त्रिपुरी कांग्रेस' पर एक बड़ा सुन्दर गीत है। उसमें एक स्थान पर लिखा है :—

जय-घोषों की तुमुल-ध्वनि में
यह बड़ा महोत्सव आगे फिर,

पहुँचा था जहाँ लहर लेता
भारत का ध्वजा व्योम को तिर

'तुमुल-ध्वनि' और 'वड़ा महोत्सव' कर्णकटु शब्द हैं। 'चल-समारोह' या 'जलूस' की जगह 'महोत्सव' लिखना अशुद्ध है। भारत का झंडा 'व्योम को तिर' कर लहर लेता पहुँचा, एक चिंत्य प्रयोग है।

इसके आगे एक स्थान पर है—

गा सजा मातृ-मन्दिर पावन
सतपुड़ा शिखर के कोने में
भारत जन-सागर सिमट गया
नर्मदा नदी के दोने में

भाषा-प्रवाह बड़ा अच्छा है। परन्तु अर्थ में वहुत खींचातानी करनी पड़ेगी। सतपुड़ा शृङ्ग का कोना, नर्मदा नदी का दोना, किस तरह बनाया जा सकेगा?

एक कविता है 'आजादी के फूलों पर' उसका दूसरा छन्द है—

रक्तपात विप्लव अशान्ति
औ' कायरता बरकाते चल
जननी की लोहे की कड़ियाँ
रह रह कर सरकाते चल

'रक्तपात, विप्लव और अशान्ति संस्कृत के शब्द हैं, परन्तु बरकाते चलना' उर्दू का लफ्ज है। सब को मिला कर भाषा बिगाड़ी गई है। विप्लव एवं अशान्ति के साथ कायरता की ठूँस-ठाँस की है। सब को बरकाते चलने से क्या तात्पर्य हो सकता है? मातृभूमि की लोहे की कड़ियों को रह-रह कर सरकाते चलने से क्या मतलब है? भाषा अस्त-व्यस्त है।

'किसान' शीर्षक कविता भावोच्छ्वास एवं छन्द-विन्यास की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। उसके दो छन्द निम्नलिखित हैं—

(१) ये मेहमान, ये मेज़मान
मक्की, सुराही का समान
ये जलसा महफ़िल, समाँ, सामान
ये करते हैं किस पर गुमान!
(२) नम्रता, विनय, अनुनय महान
मृदुलता, मधुर स्वभाव वान;
आगत-स्वागत, सम्मान दान,
सरलता, शील के विशद गान

द्वितीय छन्द का चतुर्थ चरण तो अशुद्ध प्रतीत होता है। शायद छापे की भूल हो। 'शील' के विशद गान कैसे होते हैं?

प्रथम छन्द की द्वितीय पंक्ति भी सदोष और कर्ण-कटु हो रही है। 'सुराही' का 'सूराही' करके 'सामान' का 'समान' भाषा की खींचातानी है। तीसरी पंक्ति में 'समाँ' और द्वितीय पंक्ति में 'समान' क़रीब-क़रीब यकसाँ जँचते हैं। कवि का आशय अवश्य ही एक नहीं है। परन्तु ये स्पष्ट भाषा-दोष हैं जिनको हटा देना ही अच्छा होगा।

'युगावतार गांधी' शीर्षक कविता अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी है। इसका एक छन्द है :—

बढ़ते ही जाते दिग्विजयी!
गढ़ते तुम अपना रामराज,
आत्माहुति के मणि-माणिक से
मढ़ते जननी का स्वर्ण ताज!

'बढ़ते', 'गढ़ते', 'मढ़ते' की ध्वनि कर्णकटु है। 'गढ़ना' शब्द में संकीर्णता का आभास मिलता है। रामराज ऐसी लघु वस्तु

प्रतीत होती है जो आसानी से गढ़ी जा रही हो !! या जिसको गांधी जी फुरसत में बैठे झट गढ़ लेते हों। शब्दों से तो यही प्रतीत होता है। आत्माहुति का मणि-माणिक क्या वस्तु है? माणिक एक रत्न है जिसे लाल कहते हैं। मणि अत्यन्त चमकने वाली वस्तु है। कवि का अर्थ यह मालूम होता है कि भारत जननी के सुवर्ण के ताज में तुम अपने आत्माहुति के मणि-माणिक जड़ रहे हो जिससे वह सुवर्ण-ताज और भी मूल्यवान हो जावे। परन्तु 'मढ़ने' और 'जड़ने' में बहुत फ़र्क है। और मणि एवं माणिक में से एक वस्तु ही लेनी अच्छी प्रतीत होती है। आत्माहुति की उपमा मणि से दी जा सकती है परन्तु श्वेत-रक्त मिश्रित वर्ण (मणि-माणिक) की समता आत्माहुति से देनी समीचीन नहीं है।

एक आगे का छन्द इसी कविता का है :—

कँपता असत्य, कँपती मिथ्या,
बर्बरता कँपती है थरथर !
कँपते सिंहासन, राजमुकुट
कँपते खिसके आते भू पर

'असत्य' और 'मिथ्या' में क्या भेद है—हमको नहीं मालूम। शायद कुछ हो। तभी उपनिषद् में 'सत्य' के लिए, 'ऋतं', 'सत्यं', 'अनृतं', तीन शब्द प्रयोग किए गए हैं। शायद असत्य और मिथ्या में कोई भेद होगा। या कवि ने लय के लिए पुनरुक्ति दोष की परवाह नहीं की ?

ख़ैर, चतुर्थ चरण में 'खिसके आते भू पर'- शब्दों से पता चलता है कि स्वर्ग और आकाश से सिंहासन और राजमुकुट कँपते हुए जमीन पर खिसके आ रहे हैं। परन्तु कवि का अर्थ यह नहीं है। भाव और भाषा अलग-अलग चल रहे हैं। द्वितीय पंक्ति की भाषा के मुकाबिले में चतुर्थ पंक्ति की भाषा अधिक ओजप्रद, अधिक सजीव एवं अधिक गठित होनी आवश्यक थी, जो यहाँ नहीं है।

'बंग-दर्शन'

(१)

युग-धर्म और कला के समन्वय की आवश्यकता सदा ही बताई गई है। एक समय होता है जब कला सामाजिक उत्तरदायित्व से बहुत दूर पहुँच कर केवल कल्पना-क्षेत्रों में ही किसी सत्य की खोज करने लगती है; परन्तु दूसरा समय होता है जब कलाकार सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना न करके समाज, इतिहास और राजनीति की भूमि पर उतर कर अपनी कलात्मक विदग्धता का सुन्दर परिचय देता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और इसीलिए साहित्य कोई-न-कोई रूप धारण कर जीवन को वेग देता रहता है।

जब-जब समाज में कोई भीषण परिस्थिति घटित होती है कलाकार एवं काव्यकार स्वयं ही आगे आकर उस परिस्थिति का ऐसे ढंग से चित्रण करता है कि जिसके द्वारा समाज के मानस का नव निर्माण होता है और समाज को जाग्रत करने में वह सफल होता है। साहित्य को इसलिए समाज की प्रेरक शक्ति भी माना गया है? काव्यकार एवं कलाकार की शक्ति एवं प्रतिभा की भी परीक्षा ऐसे समय ही हुआ करती है। यदि ऐसे अवसर पर कवि या कलाकार की प्रतिभा समाज को सहायता नहीं पहुँचा सकती तो वह प्रतिभा कुंठित मानी जाती है।

हाल में बंगाल के अकाल के समय ऐसी ही भीषण परिस्थिति उपस्थित हुई थी और देश के काव्यकारों की वास्तविक परीक्षा का यही समय था। बंगाल की उस अवस्था का चित्रण कई हिन्दी कवियों ने अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयग्राही शब्दों में किया था। परन्तु बहुत से कवि महानुभाव उस समय अपनी प्रतिभा न

दिखला सके। कर्तव्य की दृष्टि से कुछ-न-कुछ पद्य लिखने पर मजबूर हुए परन्तु वास्तविक जगत से अत्यन्त दूर के वातावरण में उड़ते रहने में अभ्यस्त होने के कारण, समाज की पृष्ठभूमि पर आते ही उनकी प्रतिभा कुंठित होने लगी।

प्रयाग महिला-विद्यापीठ का यह प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है कि महान कवियों ने जैसी कविताएँ लिखीं वैसी ही छपवा कर और एकत्रित करके पुस्तक रूप में जनता के सम्मुख उपस्थित कर दीं। इनको पढ़ कर यह सुगमता से पता चलता है कि हमारे कवियों में किन-किन में वास्तविक अवस्था के चित्रण करने की भी शक्ति नहीं है और कौन-कौन भीषण परिस्थिति में भी आकाश में उड़ने में ही कला का परिचय देना अभीष्ट समझते हैं।

'निराला' जी के 'पाँचक' पर अधिक लिखना उपयुक्त न होगा। चौपदों के अनुरूप यह 'पाँचक' प्रयुक्त किया गया है। उसका सम्बन्ध भी वंग-दर्शन या बंगाल के काल से है या नहीं—शब्दों से परिचय तक नहीं मिलता। लिखते हैं:—

डीठि बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,
सँधों का ढेला शकरपाला हुआ।
राह अपनी लगे, नेता काम आया,
हाथ मुहर है मगर छदाम आया।

× × × ×

माल हाट में है मगर भाव नहीं,
जैसे लड़ने को खड़े दाव नहीं।

निराला जी के पद्यों का अर्थ समझना कठिन है। बंगाल के अकाल में असाधारण बात यह थी कि कंट्रोल के भाव क़ायम थे, गजट में छपते थे। परन्तु माल हाट में रहा ही न था। फिर 'पाँचक' के अंतिम छन्द का क्या तात्पर्य है समझ में नहीं आता।

यह वक्रोक्ति है? या व्यंगोक्ति? यह भी समझ में नहीं आता। अधिक टीका-टिप्पणी वृथा है। इसको पढ़ कर प्रथम प्रथम जो हमारे हृदय में भाव उठे वे 'पाँचक' की फैशन में निम्नलिखित थे। हम उन्हें ज्यों-का-त्यों, बिना संशोधन के, यहाँ उद्धृत करना उचित समझते हैं:—

फ़सल अच्छी थी, अकाल न था।
भाव थे, मगर हाट में माल न था॥ १॥
लाखों लोग रोज़ भूखों मरते थे।
दाने-दाने को तरसा करते थे॥ २॥
कवि के हृदय में उजाला हुआ।
आस्माँ का तारा शकरपाला हुआ॥ ३॥
उड़ के खाने को कवि ने बताया।
मानव कंकाल यह कहके झुँझलाया॥ ४॥
"निराला के दिल में घाव नहीं।
भाषा है अच्छी मगर भाव नहीं"॥ ५॥

निरालाजी के 'दिल में घाव नहीं', यह उनकी अन्य रचनाओं की उपस्थिति में नहीं कहा जा सकता। वह अत्यन्त भावुक कवि हैं। वास्तव में यह रचना देखकर हमको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। प्रतीत यह हुआ कि यह रचना 'गीतिका' और 'जुही की कली' के कवि की नहीं है। भाषा और भाव की दृष्टि से, ध्वनि-शक्ति एवं काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से 'जुही की कली' अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। इधर उस पर जो समालोचना हुई हैं वह कुछ धुँधली दृष्टि से की गई हैं। निरालाजी ने हिन्दी में एक अद्वितीय स्थान बना लिया है और काव्य-प्रतिभा की झलक जो उनकी कई एक रचनाओं में मिलती है वैसी हिन्दी तो क्या, अन्य साहित्यों में भी कम मिलती है। सम्भव है 'वंगदर्शन' के समय वे स्वस्थ न होंगे और संपादक का 'इसरार' बराबर कुछ न कुछ लिखकर

पीछा छुड़ाने के लिए प्रेरित कर रहा होगा। इसीलिए जल्दी में लिखकर यह कविता भेज दी गई होगी।

× × ×

श्रीयुत् इलाचन्द्रजी जोशी का 'प्रश्न' भी भाषा और भाव सम्बन्धी विकट प्रश्न बना हुआ है? किसी प्राचीन 'नृत्य' को नया जामा पहना कर, 'बंगाल एडीशन' के उपयुक्त बना कर 'प्रश्न' का रूप दिया गया प्रतीत होता है! भैरव का ताण्डव नृत्य इसका मुख्य विषय है। वास्तविक स्थिति पर तो केवल निम्न-लिखित दो ही छन्द हैं:—

> नहीं शक्ति जीने की उनमें नहीं चाह मरने की,
> ज्ञानहीन पशु सम चिन्ता है क्षुधा शान्त करने की;
> उनके दुर्बल, भीरु हृदय को कैसे सबल बनाऊँ?
> मस्तक ऊँचा करने का क्या जीवन-मंत्र सुनाऊँ?

ये दोनों अन्तिम छन्द हैं। प्रथम तो ठीक ही है। उसके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अन्तिम छन्द में प्रश्न यह होना चाहिए था कि उन भूखे, दुबले कंकालों को कहाँ से अन्न या रोटी लाकर और खिलाकर किस तरह सबल बनाऊँ? 'दुर्बल, 'भीरु हृदय' को सबल बनाने का प्रश्न भूखे बंगाल में किस प्रकार न्यायोचित कहा जा सकता है? और मस्तक ऊँचा करने के लिए क्या जीवन-मंत्र सुनाया जाय? यह प्रश्न भी अनावश्यक एवं असंगत है। वस्तुस्थिति से दूर, ऐसे प्रश्न अनर्गल ही कहे जावेंगे। वीर गाथाएँ सुना-सुनाकर और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा खड़े होकर भीरु हृदय सबल हो जाते हैं और आत्म-सम्मान की शिक्षा या ऊपर देखते हुए तपस्या करना मस्तक ऊँचा करने की सरल विधि है। इनके विषय में प्रश्न करना ही व्यर्थ था।

बाकी पाँच छन्द भैरव के ताण्डव नृत्य से सम्बन्ध रखते हैं न कि बंगाल से या बंगाल के अकाल से।

यह ताण्डव नृत्य भी छायावाद से घिरा हुआ है।

नाचो! नाचो! भैरव!
निखिल नियम के रोम-रोम में जगे
व्योममय ताण्डव!

आकाशमय ताण्डव विश्वनियम के रोम-रोम में जग उठे। नियम का "रोम-रोम" होता होगा! व्यञ्जनावाद यही तो है!!

कवि कहता है 'व्योममय ताण्डव' ही रोम-रोम में जगे— 'व्योम-हीन ताण्डव' जग जायगा तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा!

इस प्रकार दो ताण्डव निर्दिष्ट किए गए हैं—एक व्योम-मय और दूसरा व्योम-हीन!! बङ्गाल के अकाल के समय व्योम-मय ताण्डव जगा था! और भीषण संग्राम में भीषण नरसंहार के समय शायद व्योम-हीन ताण्डव जगा करता है!!

आगे लिखा है:—

गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र मम मेरे नग्न हृदय में,
हँसो ठठाकर अट्टहास से तुङ्ग तुषारालय में।

कहकहा मारकर हँसने को शायद 'ठठाकर हँसना' कहते होंगे। शुद्ध है या नहीं, हम नहीं कह सकते। अगर शुद्ध है तो फिर 'अट्टहास' का दुबारा प्रयोग कैसा? या पुनरुक्ति भी व्यञ्जनावाद का ही कोई दूसरा रूप है!! और नग्न हृदय कैसा? क्या बिना कपड़े से ढके हृदय को 'नग्न हृदय' कहते हैं?

यह भी कहावत है कि "नंगे से ख़ुदा ही डरता है"; शायद शायद ऐसे नंगे के हृदय को 'नग्न हृदय' कहते हों!!

उपर्युक्त दो प्रकार के 'नग्न हृदय' में कवि का तात्पर्य किससे है, यह कवि महोदय ही बतला सकते हैं।

कवि कहता है कि ऐसे मेरे नग्न हृदय में, सुदृढ़ वज्र के समान, हे भैरव ! तुम गर्जित होओ। वज्र शायद गर्जता होगा !! गरजना एक बात है, कड़कना दूसरी बात है। कवि का आशय है कि बिजली तो चमकती है और सुदृढ़ वज्र, बादलों की तरह, गर्जता है। अगर वज्र सुदृढ़ नहीं है तो अच्छी तरह नहीं गर्ज सकता। सुदृढ़ वज्र की गर्जना हम लोग नहीं सुन सकते। केवल छायावादी ही सुन सकते हैं। और; "गरजो" या "गर्जित होओ"? कवि कहता है कि हे भैरव! तुम गर्जो नहीं—केवल 'गर्जित होओ'। अगर गरजोगे तो बादलों की तरह पानी भी बरसाना पड़ेगा—क्योंकि कोई कह उठेगा "गरज गरज घन बरसो"। परन्तु यहाँ तो बादल नहीं है—नग्न हृदय में सुदृढ़ वज्र है जो गरजता नहीं—केवल "गर्जित होना" है। इसलिए पानी बरसाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता !! यहाँ तो सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करके, पृथ्वी से बहुत दूर, ऊँचा उड़कर, आकाश के कल्पना-क्षेत्रों में विचरण कर, कोरी गर्जनामात्र से तात्पर्य है। असहाय, निरुपाय, निष्प्राण बंगाल के कंगाल-कंकाल के प्रति सहानुभूति के दो आँसू भी छलकाने से प्रयोजन नहीं !!

वास्तव में, विद्वद्वर पंडित इलाचन्द्रजी का 'प्रश्न' ही सही नहीं था। वस्तुस्थिति को दृष्टिगत रखकर निम्नलिखित कविता और प्रश्न ही यहाँ पर समीचीन प्रतीत होते हैं—

प्रश्न ?

कल्पित वज्र उठाकर मारा,
कवि ने भग्न हृदय में !
पर-दुख-पीड़ा त्याग, उड़ा फिर,
तुङ्ग तपारालय में !!
नहीं शक्ति भू पर आकर, कुछ
मानव-हित करने की ।

एक मात्र चिन्ता है सूने नभ में
उड़ चलने की ॥
स्वप्निल कवि के निर्बल-हिय को
कैसे सजल बनाऊँ ?
किस विधि, उसमें, करुणा-कथा की,
दो बूँदें ढलकाऊँ ?

(२)

कविवर निराला जी और पंडित इलाचन्द्रजी जोशी की कविता के मुक़ाबिले में 'मानव-जीवन की रेख' शीर्षक डाक्टर रामकुमारजी वर्मा की कविता अधिक समीचीन और अधिक सुन्दर साँचे में ढाली गई है। नवीन विचारों का भी ज्ञान होता है। अवश्य ही जहाँ-जहाँ छायावाद की तह के नीचे उनके विचार दब गए हैं वहाँ वह रोचकता नहीं रही। कहीं-कहीं विचार अत्यन्त धूमिल हो जाने के कारण दिल ऊब भी जाता है। परन्तु तो भी प्रथम और अन्तिम आठवें छन्द में जिस 'जीवन की रेखा' के प्रति इंगित किया गया है वह हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। छन्द-विन्यास भी अच्छा है। प्रथम छन्द यह है:—

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख—
साहस के ये लेख—लिखे हैं किसने ? जिनको देख
रवि की किरणें अपने उज्ज्वल रँग में भाव-विभोर
आ जाती हैं नभ से इस गीली मिट्टी की ओर।
रँगती हैं वे अपने रँग से यह जीवन की रेख
और चमक उठते हैं मिट्टी के मस्तक के लेख।

ज़मीन में अंकुरों का उपज आना अत्यन्त आशाप्रद हुआ करता है। हरे लॉन (Lawn) के देखते-देखते यदि कवि के ऐसे भाव हो जायँ तो आश्चर्य की बात नहीं है। आशावादी हमेशा

हरियाली देख कर अच्छे समय की कल्पना करता रहता है। उसकी दृष्टि में दूसरे रंग की वस्तुओं की सार्थकता नहीं रहती। वह सुगमता से यह भी भूल जाना चाहता है कि संसार में हरा-भरा कम है, रूखे ठूँठ अधिक हैं और रवि की किरणें तो समता भाव से सभी ओर आती-जाती बनी रहती हैं; और सभी को अपने रंग से रंगने का प्रयत्न भी करती होंगी। परन्तु, किसी कारण से, अंकुर ही प्रकाश पाकर बढ़ते हैं; और रूखे ठूँठ, सिंचन के अभाव में, सूर्य के ताप से, झुलस जाते हैं।

आशावादी यदि यथार्थवादी होता और वास्तविकता ही देखता तो ऊपर लिखे हुए छन्द को बदल कर इस प्रकार लिख देताः—

मिट्टी के मस्तक पर हैं तो सब प्रकार के लेख!
हरित, ललित, अरु, रंग-बिरंगे,—इनको ही क्यों देख,
कवि का हृदय उमड़ पड़ता है, होकर भाव-विभोर?
काले, पीले, फीके, धूमिल,—बिखरे चारों ओर!!
सतरंगी किरणों से रवि रँगता है जीवन-रेख!
और, प्रकाशित करता जग में, सब प्रकार के लेख!!

आशावादी कवि कुछ-कुछ आदर्शवादी भी होता है। वह सर्वांगीण न होकर एक पक्ष ग्रहण करके चल देता है। वह यह भी भूल जाना चाहता है कि किसी की दृष्टि में 'हरा रंग' 'खूनी' भी बन जाता है।

"खूनी होते हैं जगत के सब्ज़ रंग
यह दुहाई दे रही है मेंहदी"

वह यह भी भूल जाना चाहता है कि जो वस्तु हरी हो जाती है वह एक दिन मुरझाती भी है—नाश भी उसी का अत्यन्त करुणामय होता है। 'हिमकिरीटिनी' में इसी विषय पर एक बड़ी अच्छी रचना है:—

"है मधुर कितना, कि भू में,
अंकुरों का उपज आना
मोर-पंखों सा, कि पल्लव—
रूप का बाना सजाना,
× ×
एक दिन जो फेंक देना है—
कि मधुर दुलार क्यों है?
कुचलने के बाद, हाहाकार
का शृङ्गार क्यों है?
× ×
नाश का ही खेल है—तो
यह पहेली ज़रा खोलो।
हर असंख्य नाश पर,
झट उगने की साध क्यों है!"

भाव में यह पद्य बहुत अच्छा है। डाक्टर रामकुमारजी ने एक नई दृष्टि से 'हरितांकुर' को देखा है और उनकी दृष्टि 'एक पक्षीय' है। उनका विचार है कि 'भस्म' में 'अंगार' जागृत रहता है; एक फूँक से चिनगारी आग हो सकती है और जीवन के 'लघु क्षण' में भी उत्साह फिर से जाग उठता है, इसीलिए वे समझते हैं कि ललित कला की वंगभूमि भी अपना उद्धार अपने आप ही खोज लेगी; क्योंकि इतनी दयनीय दशा के बाद भी उत्साह जगने की आशा उनको 'हरितांकुर' से ही होती है। आठवाँ (अन्तिम) छन्द इसी बात का समर्थन करता है:—

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख
बार-बार कहते हैं—हम तो पृथ्वी का तम देख,
बढ़ते ही जाते हैं अपने प्रिय प्रकाश की ओर
चाहे आँधी या वर्षा की बूँदें दें झकझोर।

मानव के जीवन में ऐसी ही बन जाए रेख,
जैसे मिट्टी के मस्तक पर, हरितांकुर के लेख।

भाव अच्छा होते हुए भी, यहाँ पर गम्भीर विचार का एक दम अभाव है। सिंचन की आवश्यकता हरितांकुर के लिए होती है। बिना जल के बढ़ना असम्भव है और प्रकाश की ओर कहाँ तक इस अभाव में बढ़ा जा सकता है, यह सुगमता से सोचा जा सकता है !! 'हरितांकुर' के लिए 'वर्षा की बूँदें' बाधक न होकर साधक हुआ करती हैं। वर्षा की बूँदों के स्थान में 'तूफ़ान का मेह' या 'बड़ा भारी मेह' होता तो भी ग़नीमत होती। परन्तु बढ़ते जाने का साधन भी तो इंगित कर देना था ? क्या सूर्य का ताप, सिंचन के अभाव में, झुलसा नहीं डालेगा ?

यहाँ यह विवाद उठाना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'अंकुर' की परिभाषा क्या है ? और उसका 'रंग' कैसा होता है ? और यह कि 'हरित' रंग होते ही क्या वह 'अंकुर' ही बना रहता है ?

परन्तु यह स्पष्ट है कि जो बात प्रोफ़ेसर साहब कहना चाहते हैं वह साफ़-साफ़ इस छन्द में वे कह नहीं सके। भाव व्यक्त करने के लिए भाषा उनका साथ नहीं दे रही।

जो बात प्रोफ़ेसर साहब प्रयत्न करने पर भी नहीं कह सकते वही बात सन् १६३२ में 'एक भारतीय आत्मा' ने बड़ी सुगमता से कह डाली थी। नीचे का पद्य अधिक सुस्पष्ट है और अधिक स्वाभाविक, हृदयग्राही एवं सुन्दर है —

"काली मिट्टी, पीली मिट्टी, मिट्टी हो यदि लाल;
अपने आकर्षण में हमको, कितना रखे सँभाल?
नभ पर, पद रख, घन वर्षण में, पा प्रभु का सन्देश ?
कर ऊँचा सिर हम उठ देते, नभदिशि को तत्काल !
मिट्टी के नद फटते जाते, हम हैं उठते जाते
विद्रोही हैं—जो उठते हैं, वे ही हैं हरियाते !"

\+ \+ \+

इस पद्य के मुक़ाबिले में 'हरितांकुर के लेख' अधिक धूमिल और कुहरे से आच्छादित प्रतीत होते हैं।

प्रोफ़ेसर साहब का पद्य हमने कई बार पढ़ा है। कई स्थल पर अत्यन्त सुन्दर भाव उसमें आ गए हैं और कहीं-कहीं अत्यन्त नीरस भाव, अस्पष्ट, एवं अशुद्ध भाषा उसी भाव के पीछे चले आते कविता को ऊबड़-खाबड़ सा बना देते हैं।

प्रथम छन्द में रोचक भाषा के साथ-साथ नूतन भाव दिखाई देता है। पद्य पढ़ने की इच्छा होती है। परन्तु द्वितीय छन्द रोचक नहीं है। छायावादी या अस्पष्ट भाव से आच्छादित है। तृतीय छन्द में चार चरण बहुत ही रोचक और बीच के दो चरण अत्यन्त साधारण हैं। ये दोनों छन्द यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

पर मानव के प्राणों पर यह कैसा मृण्मय कोर!
जिसमें केवल ज्वाला है, ज्वाला है चारों ओर।
एक यन्त्रणा पागल सी रखती है कितने क्रूर!
वहाँ यहाँ चलती-फिरती सी है व्यथा की भूख।
कभी वेदना की विद्युत, आँसू की कभी फुहार
ऐसी है यह मानव के प्राणों पर, मृण्मय कोर।

मानव के भीतर दानव की यह कैसा तस्वीर?
बिजली सी चुभकर बैठी है, जलदन्ह यथा की चीर,
आत्मा के ऊपर बैठा है भूखा बन शरीर,
हृदय प्रेम से नहीं भूख से होता आज अधीर,
विश्वम्भरा प्रकृति, तेरी आँखों में कितना नीर!
जिससे धुल कर हो पवित्र मानव की यह तस्वीर।

मिट्टी में 'हरितांकुर' के जीवन की, मानव के प्राणों पर मिट्टी की 'कोर' से तुलना की गई है। इस मानव प्राण में 'मृण्मय कोर' है जिस 'कोर' में ज्वाला ही ज्वाला चारों ओर है!! वास्तव में,

समझना अत्यन्त कठिन है !! प्राण के किस तरफ़ यह 'कोर' है ? यदि यह इशारा किया होता तो कठिनाई न होती। यह भी पता नहीं चलता कि 'प्राण' में 'यन्त्रणा' है; या 'मृण्मय कोर' में यन्त्रणा है, या 'ज्वाला' में; या 'ज्वाला', 'यन्त्रणा' और 'मृण्मय कोर' एक ही हो गए हैं !!!

यह 'यंत्रणा' पागल क्यों हुई ? या केवल 'पागल सी' प्रतीत होती है ? या पागल मनुष्य कितने ही रूप रख लेने वाला माना गया है ? यह यंत्रणा वर्षा-ऋतु की धूप की तरह यहाँ-वहाँ 'चलती-फिरती सी' भी दिखाई देती होगी ! यानी 'यंत्रणा' पागल सी ही नहीं वर्षा की धूप की तरह भी यहाँ-वहाँ—सब जगह—चल रही मालूम देती है !! अगर Neuralgic Pain (नसों का दर्द) होता तो कहा भी जाता कि इतने बड़े शरीर में यकायक कभी किसी हिस्से में, कभी किसी हिस्से में पीड़ा हो उठती है। परन्तु छोटे से प्राण की और भी छोटी सी 'मृण्मय कोर' में पागल सी, या वर्षा की धूप की तरह, इधर-उधर भटकने को स्थान ही कितना रहा होगा ?

पन्त जी ने एक जगह लिखा था—

"प्राण ! तुम लघु लघु गात"

परन्तु यहाँ तो प्राण की 'मृण्मय कोर' को ही 'स्तूपाकार' मानकर कविवर चल पड़े हैं। प्रतीकों से सहारा लेने के हम विरोधी नहीं हैं परन्तु यह प्रतीक भी विषय के अनुसार होने चाहिए और उनमें मूल वस्तु की किसी स्थिति विशेष का साम्य होना आवश्यक है। ख़ैर; यह यंत्रणा या तो आँसू की हिलोर के रूप में दिखाई देती है या वेदना की बिजली की तरह। दो ही रूप बताए गये हैं !! केवल दो रूप से ही वर्षा की धूप और यहाँ वहाँ चलती-सी का भाव व्यक्त होना अत्यन्त कठिन है।—तात्पर्य यह है कि 'यंत्रणा' की जिस मूर्ति का विशद रूप बताए जाने का प्रयत्न किया गया

था, भाषा उसे उस तरह मूर्तिवती न बना सकी। भाषा एवं भाव अलग-अलग चल रहे हैं।

तीसरे छन्द के प्रथम दो चरण और अन्तिम दो चरण बहुत सुन्दर हैं। उनको फिर उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते:—

मानव के भीतर दानव की यह कैसी तस्वीर?
बिजली सी चुभ कर बैठी है, जलद हृदय को चीर!
\+ \+ \+ \+
विश्वम्भरा प्रकृति, तेरी आँखों में कितना नीर!
जिससे धुलकर हो पवित्र, मानव की यह तस्वीर!

प्रकृति का यह चेतन व्यक्तित्व अत्यन्त सफल हुआ है। "वेदना की विद्युत" और "बिजली सी चुभ कर बैठी है" में दोनों बिजली अलग-अलग हैं। परन्तु दोनों छन्दों को साथ-साथ पढ़ने पर प्रतीत होता है कि 'यंत्रणा' ही दानव की तस्वीर बनकर जलद-हृदय को चीर कर उसके नीचे विद्युत सी बन बैठी है और हृदय के नीचे यही 'मृण्मय कोर' है!! कवि का आशय अवश्य ऐसा नहीं है।

कुछ भी हो, इन चार चरणों में भाषा और भाव—दोनों का सौंदर्य है। परन्तु, बीच में दो चरणों में न भाषा ही है न भाव ही है। शरीर के अन्दर आत्मा रहती है—ऐसा ही माना जाता है। परन्तु यहाँ कवि की वाणी है कि "एक भूखा शरीर आत्मा के ऊपर बैठा है"। प्रतीत ऐसा होता है कि रास्ते में कोई आत्मा-रूपी पत्थर रखा हो जिस पर थका हुआ मानव-कंकाल बैठ गया हो। इसके अनन्तर 'प्रेम' और 'भूख' से हृदय अधीर होना और उनमें भेद बताना असंगत है। दानव की तस्वीर में प्रेम से अधीर हृदय का ज़िकर करना ही व्यर्थ एवं अनावश्यक था। इन दोनों चरणों ने छन्द में जो सौंदर्य था बहुत कम कर दिया है।

उसके बाद दो छन्दों में वास्तविक बंगाल की दशा का वर्णन

है और कवि अन्त में कहता है कि "ललित कला की भूमि अपना उद्धार स्वयं खोज लेगी"। कैसे ? इसका उत्तर बड़े अच्छे शब्दों में दिया है:—

जीवन में हो नवोन्मेष, उत्साह उठे फिर जाग
एक फूँक से फिर चिनगारी हो सकती है आग,
हृदय-स्पन्दन स्वस्थ, साँस हो सजग, प्राण द्युतिमान
फूल एक हो किन्तु उसी में छाया हो उद्यान।
त्याग छिपाए हो उर की प्राची का मृदु अनुराग।
जीवन के लघु क्षण में भी उत्साह उठे फिर जाग।

यह है उज्ज्वल पृष्ठ जहाँ जीवन का नवनिर्माण—
छोटा सा निर्माण, जहाँ रेखा से हैं लघु प्राण।
इतने लघु प्राणों में भी साहस का पारावार—
जाग रहा है जिसमें लहरें ही बन कर पतवार
ले जाती है जीवन की सीमा के भी उस पार—
जीवन का यह पृष्ठ न लौटे कभी दूसरी बार।

यह दूसरा छन्द भी सुन्दर भाव से ओत-प्रोत है। छोटी रेखा से लघु प्राण में साहस के अपार सागर का व्यक्तित्व आरोप करना छायावाद—न्याय के अनुसार सही हो सकता होगा !!! परन्तु भाव उस प्रकार धूमिल नहीं होने पाया जिस प्रकार यह कहना कि हृदय-स्पंदन स्वस्थ हो, साँस सजग हो, प्राण द्युतिमान हों परन्तु एक ही फूल हो जिसमें फूल की छाया ही उद्यान बन जावे। और उर की प्राची का मृदु अनुराग त्याग को छिपाए हुए हो। क्या यह भाव इस कविता से अलग नहीं रखे जा सकते थे ? क्या धूमिल भाव हर छन्द में हर मौक़े पर भर देना ही समीचीन है ? अवश्य; साहित्य में छायावादी कविता का भी स्थान है; परन्तु प्रगतिवादी और छायावादी काव्य का उल्टा-सीधा सम्मिश्रण हित

कर तो नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि ये शब्द अनावश्यक तौर पर जबरदस्ती ठूँसे गए हैं; जिनसे, छायावाद का अस्तित्व भले ही स्वीकार किया जा सकता है परन्तु प्रसाद गुण के साथ-साथ काव्य का माधुर्य लोप हो जाता है। काव्य में भावुकता और सरसता नहीं रहने पाती। पाठक को, अपने मस्तिष्क को अत्यन्त कष्ट देकर यह समझने का प्रयत्न करना पड़ता है कि 'छाया' का 'उद्यान' और 'उर की' 'प्राची' का 'अनुराग' कैसा होता होगा ? लघु प्राणों में साहस का समुद्र कैसे जाग रहा होगा ? और यदि साहस 'समुद्र' है तो 'लहरें' किस भावना या भाव की बनाई गई होंगी ? और वे लहरें ही 'पतवार' कैसे बन गई होंगी और वे लहरें जीवन की सीमा के उस पार (?) किसको ले जाती होंगी ? क्या यह ससीम और असीम का मिलन है ? या भौतिक जीवन का नव निर्माण है ?

अब, आठ छन्दों में केवल दो छन्द बंगाल के अकाल के वास्तविक चित्रण से सम्बन्ध रखते हैं उनमें एक अच्छा है और एक अत्यन्त साधारण। यह दोनों छन्द भी पढ़ने योग्य हैं:—

जाग रहे हैं प्राण, किन्तु यह देह बनी कंकाल
आशा, आशा, आशा, केवल आशा ही का जाल।
माँ के आँखों के वसन्त में घिरता वर्षा काल।
जहाँ मृत्यु-घन में खो जाते इन्द्रधनुष से लाल!
यह है अपना देश, यही है अपना प्रिय बंगाल
जाग रहे हैं जहाँ प्राण, पर देह बनी कंकाल!
ललित कला की भूमि, भूख की भूमि बने इस बार ?
कवि रवीन्द्र की दिव्य साधना का हो यह आभार ?
मानवता का मानव के हाथों से यह सत्कार?
क्रय-विक्रय के काँटों पर हो रूप और शृंगार ?
किन्तु भस्म में भी जाग्रत है कहीं-कहीं अंगार;
ललित कला की भूमि खोज लेगी अपना उद्धार!

दूसरा छन्द वस्तुस्थिति-चित्रण के साथ-साथ भाव भी अच्छे प्रदर्शित करता है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु दोनों छन्द एक दूसरे से इतने अधिक मिले हुए हैं कि एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। और पहिले छन्द के प्रारम्भ में ही भाषा और भाव बिगड़ चुके हैं। "आशा, आशा, आशा, केवल आशा का ही जाल" इस चरण में "आशा" शब्द का अनावश्यक चार बार प्रयोग करके न तो छन्द में कोई चमत्कार ही आ पाया है और न भाव ही ठीक तौर से व्यक्त हो पाए हैं। इसको पढ़कर काव्य में नीरसता का आभास मिलता है और प्रसिद्ध कवि के शब्द-भण्डार पर संदेह भी होने लगता है। भूखे कंकाल पूरे आशावादी अन्तिम समय तक, रहे होंगे; ऐसा सोचा जाना ही असंभव है। जब आशा में बैठे हुए खाना न मिलता होगा तब वे कभी-कभी अत्यन्त निराश हो जाते होंगे। हताश होने पर फिर कुछ न कुछ आशा हृदय में जन्म लेती होगी। फिर निराशा धर दबाती होगी। क्रिया के बाद उतने ही वेग से प्रतिक्रिया का होना प्राकृतिक नियम है। आशा के बाद निराशा और फिर आशा, फिर निराशा—इस प्रकार बारी-बारी से एक के बाद दूसरे के झोंके आना स्वाभाविक है। जितने वेग से आशा का भाव आता होगा—उतने ही वेग से निराशा घेर लेती होगी। जितने वेग से निराशा का भाव धर दबाता होगा उतने ही वेग से फिर प्रत्याशा आकर घेर लेती होगी। अवश्य आशा की प्रबलता के कारण ही वह इतने दिनों, भूखे रह कर भी जीवित रहे होंगे। पर चार बार 'आशा' शब्द लाने के कारण एक सीधा-सादा स्वाभाविक चित्र भी व्यक्त नहीं हो पाया !!

इसके अनन्तर, एक दूर के क्षितिज में उड़ता हुआ अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक चित्र कल्पना करके काव्य में अनावश्यक तौर पर खींचकर दिखलाया गया है। यह माँ की बँधी आशा को ठुकराकर उसके बच्चे का मृत्यु से छीना जाना है जिसकी बसन्त

और वर्षाकाल के मेल से समता दी गई है !! सीधी-सादी भाषा में यदि यही चित्र उपस्थित किया जाता तो कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होता। परन्तु चित्त में तो महाकवि देव का—"रहु रे वसन्त, तोहि पावस करति हो"—बसा हुआ है; और ऊपरी इच्छा केवल छायावादी छाप दिखाने की है। इन दोनों के बीच, भाव और भाषा दोनों बिगड़ गए । 'आशावादी आँख' में वसन्त का आरोप करने पर भ पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वही आशा कहाँ बनी रह सकती है ? वह तो हताशा के द्वारा शोक में परिणत हो चुकी है। वसन्त के अनन्तर पतझड़ आ चुका है !! वसन्त में वर्षा कहाँ ? वसन्त समाप्ति के अनन्तर कुछ भी कहा जाय। यदि आँसुओं में ही वर्षा का आरोप किया जावे—आँसुओं में वर्षा की मूर्ति आरोपित भी की जावे—तो, आँसुओं के पास आँख के अन्दर ही बादल और इन्द्र-धनुष को भी खोज निकालना पड़ेगा। मृत्यु को बादल और लड़के को इन्द्रधनुष को मानकर चलना, किसी भी साहित्यिक कसौटी से असंगत और अशुद्ध ही माना जायगा। वास्तव में, यहाँ काव्य-रस में अनौचित्य का विष-सा प्रतीत होता है।

खैर; सारी कविता पढ़ लेने के बाद, 'मानव-जीवन की रेख' शीर्षक पद्य अच्छा ही बताना पड़ेगा। उसकी तान इतनी सुरीली है, राग इतना मधुर है, छन्द इतना सुन्दर है और कहीं-कहीं भाव इतने सुन्दर हो गए हैं कि उसको बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। परन्तु जहाँ पर सौंदर्य है और रोचकता बढ़ी है, वहीं—उसी के अनन्तर ही—ऐसी नीरस भाषा अथवा असंगत भाव आ जाते हैं जिनसे अत्यन्त निराशा होती है। ऐसे स्थल बार-बार ललित कला बंगाल भूमि रूपी काव्य में कंकाल से दिखाई देते हैं। जहाँ यह आशा होती है कि रोचकता बढ़ती चलेगी क्योंकि कवि अपनी कविता में जीवन-रस संचारित कर रहा है वहीं पर भास होता है कि कविता को 'नजर' लग गई और एक दम हताश हो जाना

पड़ता है। आशा और निराशा के एक के बाद दूसरे का, सिल-सिलेवार, भाव आते रहने पर यही प्रतीत होता है कि वास्तव में यह कविता ही वंग-भूमि बनी हुई है। अवश्य; ललित कला का भाग इसमें अधिक है; कंकाल का अंश कम। इस दृष्टि से, यदि किसी व्यक्ति के द्वारा निम्नलिखित पद्य, इस कविता पर लिखा गया हो, तो, न तो वह अत्युक्ति समझा जाना चाहिए और न अनुचित ही :—

बड़ा मधुर है गान,
किन्तु यह काव्य बना बंगाल;
आशा और निराशा, प्रत्याशा, का भाषा-जाल !!
कविता के वसन्त पर, कवि ने लादा वर्षा काल !!
छाया-घन के नीचे दबकर कोकिल है बेहाल !!!
है यह नव-साहित्य ? या, यही साहित्यिक जंजाल ?
बड़ा मधुर है गान, किन्तु यह काव्य बना बंगाल !!!

(३)

शब्द 'दर्शन' का साधारण अर्थ है 'देखना', 'अवलोकन करना', 'किसी से साक्षात्कार करना'। असाधारण अर्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी सूचित होता है। 'वंग-दर्शन' की अन्य कविताएँ पढ़कर तो यही प्रतीत हुआ था कि बंगाल के अकाल के तात्कालिक चित्रण से ही पुस्तक सम्बन्धित है; परन्तु जब सहसा 'वंग-वंदना' पर दृष्टि पड़ी तो ऐसा जान पड़ा कि जैसे योग, मीमांसा, सांख्य और वैशेषिक दर्शन हों—शायद उसी प्रकार कोई 'वंग-दर्शन' भी हो !! प्रारम्भ में अथर्व वेद के पुरुष-सूक्त से 'भू-वंदना' का गद्यानुवाद भी दिया गया है और अन्त में 'वंग-वंदना' है। 'वंग-वंदना' में साफ़ तौर से तो किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन समझ में नहीं आता। अवश्य स्थान-स्थान पर 'दर्शन' शब्द के दोनों अर्थों का सम्मिश्रण भली भाँति दिखलाई पड़ता है।

'बंग-वन्दना' श्रीमती महादेवी जी वर्मा की रचना है। श्रीमती जी हिन्दी साहित्य की एक विभूति हैं। 'यामा' में संगृहीत रचनाओं की प्रशंसा हम अपने 'वीणा' में प्रकाशित लेखों में कर चुके हैं। श्री महादेवी जी की 'दीपशिखा' ने उनकी कीर्ति और भी उज्ज्वल की है। चित्रकार, कलाकार और काव्यकार की श्रेष्ठ प्रतिभा का दिग्दर्शन हमको 'दीपशिखा' में मिलता है। कई गीत इतनी उच्च कोटि के हैं कि यदि उनका अनुवाद फ्रेंच या अन्य सरस यूरोपीय भाषा में कराकर चित्रों के साथ पुस्तक प्रकाशित की जावे तो संसार-साहित्य में उनका बहुत ऊँचा स्थान सुगमता से माना जा सकेगा।

'बंग-दर्शन' के विषय में, एक साधारण पाठक की हैसियत से, हम क्षमा याचना करके, केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ 'यामा' और 'दीपशिखा' अच्छी तरह समझ में आ जाती हैं वहाँ 'बंग-वन्दना' की न तो कविता ही समझ में आती है और न उसका उद्देश्य ही !!

जहाँ त्राहि-त्राहि मच रही हो, करुण क्रन्दन हो रहा हो—वहाँ प्रथम तो ऐसी वन्दना से क्या लाभ होगा? और अगर वन्दना करें भी तो परमात्मा की वन्दना करनी उचित होगी। यदि हम सहायता नहीं कर सकते और कोई सम्बन्धिनी सहसा संकट में पड़ गई दिखाई पड़ती हैं तो स्वाभाविक यह होगा कि हम परमात्मा से ही प्रार्थना करेंगे कि "हे दीनानाथ! अमुक स्त्री संकटों से बुरी तरह घिरी हुई है, सिवाय तेरे अब कोई चारा नहीं है। तेरा ही भरोसा है। हे दीनदयाल! तू ही अब अमुक स्त्री को संकट से उबार दे !!" परन्तु परमात्मा की वन्दना न करके, उसी संकट-ग्रस्ता की वन्दना करना किंचित् हास्यास्पद होगा। यहाँ हम उसी से कह रहे हैं कि "हे देवी तू आज भिखारिन है। परन्तु हम तेरी सहायता नहीं कर सकते; हम असमर्थ हैं। तेरे लिए हम परमात्मा से भी प्रार्थना नहीं कर सकते; परन्तु हम तो तेरी वन्दना कर रहे

हैं। एक, दो, तीन, दस, सौ और शत-शत वन्दना तू ले ले और अपना पेट भर ले।"

वेदना-प्रधान कवयित्री जी की कविता 'वंग-वन्दना' कुछ-कुछ ऐसी ही है।

श्रीमती जी ने बंगाल को, भारत देश की अमर कविता की मूर्ति मानकर, यह वन्दना की है।

प्रारम्भिक शब्द हैं:—

वंग-भू शत वन्दना ले !
भव्य भारत की अमर कविता हमारी वन्दना ले !

अन्तिम छन्द है:—

ज्ञानगुरु इस देश की कविता हमारी वन्दना ले !
वंग-भू शत वन्दना ले !
स्वर्ण-भू शत वन्दना ले !

बंगाल को भारत की अमर कविता मानकर ही क्यों वन्दना की गई ? यह भी समझ में नहीं आता !! क्या वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, शूद्रक, इत्यादि में से कोई बंगाल में जन्मा था ? या केवल भारतरत्न 'कवीन्द्र' के कारण ही 'देश की कविता' लिखा गया ? यदि यही कारण था तो देश की 'नूतन अमर कविता मानकर वन्दना करना अधिक उपयुक्त रहता।

अब बंगाल को अमर कविता की मूर्ति मान कर वन्दना तो की गई है परन्तु कहीं पर उसे नीलकंठिनी, कहीं जननि, कहीं कहीं विधात्री, कहीं रुद्राणी भी कह दिया गया है और अन्त में ज्ञानगुरु भी बना दिया है। भूख से त्रस्त, मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई कविता देवी किस प्रकार नीलकंठिनी या जननि या विधात्री हो सकती है ? फिर, 'ज्ञानगुरु' पुल्लिंग और कविता देवी स्त्रीलिंग है !! एक का मस्तिष्क से, दूसरे का हृदय से सम्बन्ध है !! अवश्य ही 'ज्ञानगुरु' 'भारत देश' को नहीं माना गया है।

इस बंग-वन्दना में कल्पनाएँ भी नाना प्रकार की गई हैं जो कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह एवं अस्पष्ट हो गई हैं। बंगाल के अकाल के यथार्थ वर्णन का भी कहीं-कहीं प्रयत्न किया गया है परन्तु प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के मनमाने आरोप कर लेने से न छायावादी कविता ही रह पाई है और न यथार्थवादी !!

× × ×

बंग-वन्दना में 'यामा' और 'दीपशिखा' का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कहीं-कहीं शब्द भी वहीं से उठाकर नए जामा में दिखाए गए हैं भाव एवं शब्द साम्य के दो-एक उदाहरण यहाँ अनुचित न होंगे:—

(१) दीपशिखा, गीत संख्या २७

ढह जाएँगे—बह जाएँगे
यह ध्वंस कथा दुहराएँगे

\+ + +

गर्जन मृदंग, हरहर मंजीर

\+ + +

घिरते तमनिधि-आवर्त मेघ

गीत संख्या ५

छोड़ उल्का अंक नभ में
ध्वंस आता हरहराता

बंग-वन्दना

तिमिर सागर हरहराता
संतरण कर ध्वंस आता

(२) दीपशिखा, गीत संख्या १६

धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित
तम में सब होंगे अन्तर्हित

गीत संख्या ४१

मोतियों का अर्घ कैसा ?
प्यालियाँ रीती कली की !!

बंग-वन्दना

अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर प्यालियों से

(३) यामा (सांध्यगीत) पृ० २०२

ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार-माला
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला

दीपशिखा, गीत संख्या २४

वर त्वार शेष का माँग रही जो ज्वाला
जिसको छू कर हर स्वप्न बन चला छाला

बंग-वन्दना

अंक में फैला कठिन अभिशाप का अंगार पहिला
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहिला
+ + +
आज छाले से जले जो भाव से ये सुभर पोखर
+ + +
आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?

(४) यामा (सांध्यगीत, १६८ व २२०)

नयन की नीलम तुला पर मोतियों से प्यार तोला
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला
+ + +
जग पड़ा हूँ अश्रुधारा
पंख पर वे सजल सपने तोल दो

दीपशिखा, गीत १२

दृगजल पर पाले मैंने
मृदु पलकों पर तोले हैं

वंग-वन्दना

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तोलते हैं ?

(५) दीपशिखा, सं० ४२

मेरे साँस में आरोह
उर अवरोह का सञ्चार
प्राणों में रही घिर घूमती
चिर मूर्च्छना सुकुमार

वंग-वंदना

मृत्यु क्रन्दन गीत गाती
हिचकियों की मूर्च्छना ले

(६) दीपशिखा

लय छन्दों में जग बँध जाता

वंग-वन्दना

छन्द से लघु ग्राम तेरे
खेत लय विश्राम तेरे

(७) यामा

तब बुझते तारों के नीरव
नयनों का यह हाहाकार
+ +
शून्य से टकराकर सुकुमार
करेगी पीड़ा हाहाकार
+ +

पूँछता आकर हाहाकार
कहाँ हो जीवन के उस पार ?

बंग वंदना

वेणुवन में भटकता है
एक हाहाकार का स्वर

(८) यामा (सांध्यगीत, २१८

अमरता-सुत चाहता क्यों
मृत्यु को उर में बसाना ?

बंग-वन्दना

अमर पुत्र पुकारते तेरे अजर आराधना के !

श्रीमती जी ने अपनी कविताओं में स्थान-स्थान पर प्रकृति देवी या उसके किसी अंग को सजीव मूर्त्तिमान कर सुन्दर वस्त्र पहिना कर ही कल्पना की है। 'यामा' में 'नीरजा' के—

(१) मलयानिल का चल दुकूल अलि
(२) रैन बोली सज कृष्ण दुकूल
(३) लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल
(४) सज केसर पट तारक बेंदी

और सांध्यगीत में "नभ के नवरंग बुनते दुकूल" से श्रीमती जी का वस्त्रों के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रकट होता है। 'बंग-वन्दना' में भी कविता देवी को 'चिर हरित पट' इसी परम्परा के अनुसार पहिनाना पड़ा है !!!

ऊपर के उदाहरणों से यह प्रत्यक्ष है कि 'बंगवन्दना' की पृष्ठ-भूमि पर तत्कालीन अकाल के भावों के मुक़ाबिले में रहस्यवादी विरह-वेदना के भावों का ही अभाव अधिक था। दोनों भाव एक

दूसरे से स्वतंत्र और एक दूसरे के विपरीत हैं। एक को दूसरे के साँचे में नहीं ढाला जा सकता। जो भाव एवं शब्द रहस्यवादी कविता को सरसता देते हैं वही बंगाल के अकाल के वर्णन में नीरस एवं हास्यास्पद भी हो सकते हैं। श्रीमती जी ने इस तरफ़ विचार नहीं किया !! जैसा हम आगे देखेंगे, एक को दूसरे के साँचे में ढालने के प्रयत्न में चित्त-भ्रान्ति हो जाने के कारण 'बंग-वन्दना' की कविता बिलकुल बिगड़ गई है।

अब 'बंग-वंदना' के कुछ छंदों को देखना उचित होगा। 'बंग-भूमि' को कविता सुन्दरी बना दिया तो हमारा ख्याल यह था कि या तो 'अंग राग', 'माँग में भरा पराग' आभूषण, इत्यादि का वर्णन होगा; या बंगाल की नदियाँ, पर्वत, नगर, ग्राम, प्राकृतिक दृश्य इत्यादि को हृदय, भाव, नवरस, अलंकार, ध्वनि, अभिव्यञ्जना, प्रतिभा, गुण, रीति इत्यादि की मूर्त्ति बना कर कविता-देवी का शृंगार किया गया होगा; या प्राचीन गौरव कालिदास आदि की याद दिला कर वर्त्तमान अवस्था दिखाई गई होगी। परन्तु यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि 'वन्दना' में ऐसा कहीं नहीं दिखाया गया !! प्रारंभिक शब्दों को हम ऊपर लिख चुके हैं। उनके बाद दो निम्नलिखित छन्द हैं:—

(१)

अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहिला
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहिला
तिमिर सागर हरहराता,
संतरण कर ध्वंस आता,
तू मनाती है हलाहल घूँट में त्योहार पहिला,
नील कण्ठिनि ! सिहरता जग स्नेह कोमल-कल्पना ले !

(२)

वेणुवन में भटकता है एक हाहाकार का स्वर,
आज छाले से जले जो भाव से थे सुभर पोखर

छन्द से लघु ग्राम तेरे
खेत लय विश्राम तेरे
बह चला इन पर अचानक नाश का निस्तब्ध सागर!
जो अचल बेला बने तू आज वह गति साधना ले!

पहिले छंद में यह पंक्तियाँ :

तिमिर सागर हरहराता
संतरण कर ध्वंस आता

ध्यान देने योग्य है। नाना रंग से रंगी हुई संध्या को घना अन्धकार थोड़ी देर में ही समाप्त कर देता है। इसीलिए अन्धकार का सागर यहाँ पर लाना समुचित ही था। इस सागर को तैरता हुआ ध्वंस भी आता है; अथवा यह सागर ही ध्वंस को तैरता हुआ आता है? 'तैरता' और 'संतरण करता' में यही भेद है कि जहाँ 'तैरता' में बिना ध्वनि किए—बिना आवाज़ किए चुपचाप तैरता हुआ सूचित होता है; 'संतरण' में ध्वनि-शक्ति प्रबल होती है। ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति मरने-मारने के इरादे से 'रण' के लिए तैर रहा है

पहिले छन्द में जो सागर हरहराता हुआ आ रहा है वही दूसरे छन्द में सहसा निस्तब्ध हो गया है!! यह कैसे?

अब इस 'नाश' और 'ध्वंस' में क्या भेद है? या केवल 'ध्वंस' में फिर ध्वनि-शक्ति है—Sound Force है। एक दम नीचे गिरकर टुकड़े टुकड़े हो जाने में—अथवा 'अर्रा' कर सहसा मकान के गिरने में 'ध्वंस' की 'ध्वनि-शक्ति' प्रतीत होती है। 'नाश' में ध्वनि-शक्ति का अभाव होता है। 'ध्वनि' अदृश्य होती है। अपने आप ही अन्त हो गया—ऐसा भाव 'नाश' शब्द में होता है।

काव्य में ध्वनि-शक्ति पर गोस्वामी जी से लेकर गिरिधर कविराय तक—सभी प्राचीन कवियों ने ध्यान दिया था। परन्तु यह दुःख का विषय है कि आज के बड़े-बड़े कवियों का ध्यान भी

इस तरफ़ नहीं गया। श्री महादेवी जी के काव्य में जहाँ माधुर्य एवं स्निग्धता की प्रचुर मात्रा है वहाँ ध्वनि-शक्ति का अभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। जो ध्वनि-शक्ति गिरिधर कविराय की साधारण कविता :—

'नैया मोरी तनिक सी, बोझी पाथर भार'

में आ गई है वह आधुनिक असाधारण कवियों के उत्तम काव्य में भी नहीं आ पाई। 'बोझी पाथर भार' के शब्द ही ऐसे पथरीले, भारी, बोझीले से हैं और "नैया मोरी तनिक सी" के शब्द इतने कोमल और तनिक से, हलके से हैं कि अपने आप पढ़ते ही हृदय में यही भाव आ जाते हैं कि वास्तव में एक छोटी सी नाव में चट्टान से तोड़े हुए पत्थर भरे हुए हैं !!

इस लेख में ध्वनि-शक्ति का विषय यह दिखाने के लिए लाया गया है कि 'बंग-वंदना' के ऊपर उद्धृत किए दोनों छन्दों में प्रत्यक्ष विरोधाभास है। पता नहीं चल पाता कि कवयित्री जी के 'अन्धकार का' या 'नाश का' सागर शोर-गुल करता हुआ है या एक दम 'निस्तब्ध' हो रहा है !! यह भी पता नहीं चल पाता कि अन्धकार के सागर में 'ध्वंस' तैर रहा है या यही 'नाश' का सागर भी बन गया है !!

श्रीमती जी का यह कहना सर्वथा सही है कि कविता में "यथार्थ का पूरा चित्र तो हृदय को छू ही नहीं सकेगा। छू तो वही अधूरा चित्र सकता है जिसमें चित्रकार ने रेखा-रेखा न मिला कर आत्मा मिलाई है।

परन्तु दुःख इस बात का ही है कि इस 'बंग-वन्दना' में न तो रेखा ही मिल पाई और न आत्मा ही !! निस्तब्ध सागर यहाँ पर छन्द, लय, स्वर और भावों पर ही बह चला है; हृदय फिर भी अछूता रह गया है !!

अब, 'कविता' सुन्दरी वंग-भूमि है; बंगाल के छोटे ग्राम ही कविता के छन्द हैं; बंगाल के खेत ही कविता के 'लय-विश्राम' हैं !! 'वेणुवन' (शायद सुन्दर वन या रास की मुरली वाला वन !) में हाहाकार का स्वर सुनाई पड़ रहा है। यह ठीक ही है ! बड़े बड़े नगर छोड़ दिए गए यह भी ठीक है—या शायद वह कविता में 'महा-काव्य' होंगे जो बचा दिए गए !! फ़सल तो अच्छी थी परन्तु खेतों पर ही सागर बहा दिया गया !!!

बंगाल के 'सुभर पोखर' ही कविता के 'भाव' हैं परन्तु वह 'छाले' से जल गए हैं !! एक बात अवश्य है ताल ही ताल जले हैं; बड़ी बड़ी नदियाँ (हुगली सरीखी) बिलकुल अछूती रह गईं; !! समुद्र में वड़वानल भी जला देता है !! फिर अन्धकार के सागर में क्यों न अग्नि होगी ? उसे भी जलाने को केवल 'सुभर पोखर' ही मिले !! पोखरों में 'कमल' के फूल जले होते तो शायद वीभत्स रस का परिपाक हो जाता !! आखिर कवि की कल्पना ही तो है !!

एक बात रह गई। पहिले छन्द में तीन बार 'पहिला', 'पहिला', 'पहिला', आया है। कवयित्री जी का कहना है कि 'कविता' देवी ने यह पहिली बार 'कठिन अभिशाप का अंगार' झेला है, पहिली बार ज्वाला से लिपट कर अपना अभिषेक किया है; और; पहिली बार हलाहल का घूँट लेकर त्यौहार मनाया है। इसीलिए 'नीलकंठिनि' भी बना दी गई !! क्या आदिकाल के अब तक इतिहास में यह पहिला ही अवसर था जब 'सुभर पोखर' तक जल गए, या यह बृटिश काल के इतिहास में ही पहला अवसर था ? इस प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिलता !! न जानें कितने युद्ध, महामारी, अकाल, भूकम्प हुए होंगे; न जानें कितनी बार, परतंत्रता के एक सहस्र वर्ष में वंग-भूमि को 'नीलकंठिनि' बनना पड़ा होगा !! यह दूसरी बात है कि फसल अच्छी होते हुए भी मनुष्य-कृत ऐसा काण्ड अभी तक नहीं हुआ होगा ! परन्तु इस

बात का कविता में कहीं भी इंगित तक नहीं किया गया !! वहाँ तो 'नीलकंठिनि' बनाने से तात्पर्य था। नाश के सागर' ने जब 'स्वर', 'भाव'. 'लय-विश्राम' और 'छन्द' सभी समाप्त कर दिए थे तब भी क्या 'कविता देवी' बची ही रहीं ? या 'नाश' और ध्वंश के सागर को कविता देवी अपने कंठ में ही रोके बैठी रहीं ? यदि रोकने में सफल हुई होंगी तो स्वर, लय, छन्द, भाव बचे रहे होंगे !! मगर वे तो सब जला दिये गए !! और प्रारम्भ में 'अमर कविता' कह चुकीं थीं इसीलिए कविता को जीवित भी रखना पड़ा !!

वास्तव में यहाँ रुद्र रूप था। और जब रुद्र देव हलाहल का घूँट लेकर 'नीलकण्ठ' बन चुके थे तो प्रणयानुभूति के लिए किसी-न-किसी को नीलकंठिनि बनाना तो था ही !! सामने बेचारी बंगभूमि थी ! बस उसी को नीकवंठिनि बना दिया गया !! यह याद नहीं रहा कि कविता देवी का 'नीलकंठिनि' बनाना ठीक न होगा !! वास्तव में, यहीं पर छायावाद, रहस्यवाद और यथार्थ-वाद का सम्मिलन हो पाया है !!!

× × × ×

तीसरे और चौथे छन्द निम्नलिखित हैं:—

(३)

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तोलते हैं ?
आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?
अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,
'मरण केवल मरण' क्या संकल्प तेरे बोलते हैं ?
भेंट में तू आज अपनी शक्तियों की चेतना ले !

(४)

किरण-चर्चित, सुमन-चित्रित,
खचित स्वर्णिम-बालियों से,
चिरहरित पट है मलिन शत शत चिता-धूमालियों से
गृद्ध के पर छत्र छाते,
अब उलूक विरुद सुनाते
अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर-प्यालियों से।
मृत्यु-क्रन्दन गीत गाती, हिचकियों की मूर्च्छना ले!

ऊपर लिखे हुए प्रथम छन्द में तीन प्रश्न 'कविता देवी मानी हुई वंग-भूमि' से किए गए हैं :—

(१) क्या तेरे अश्रु के श्वास शक्ति की निधि को तोलते हैं? या तेरे श्वास अश्रु के शक्ति की निधि को तोलते है?

(२) आह! क्या तेरे स्वप्न कंकाल वन-वन डोलते हैं?

(३) क्या तेरे संकल्प 'मरण, केवल मरण' बोलते हैं?

अगर इन प्रश्नों का उत्तर 'ना' में है, तो कोई बात नहीं है! परन्तु यदि 'हाँ' में है, तो "हम तेरी सहायता करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास सिवाय 'वन्दना' के कुछ नहीं है। इसलिए भेंट में तू हमसे कुछ भी आशा न कर। भेंट में तू अपनी ही शक्तियों की चेतना ले ले।" कितनी अच्छी युक्ति है? कितनी अच्छी भेंट है? तेरी वस्तु तुझे ही अर्पण करते हैं!! तुभ्यं समर्पयामि'। 'हर्रा-लगै न फटकरी रंग चोखा आवै'!! मानव-कंकाल तो स्वप्न सरीखे मिथ्या हैं। उनका क्या प्रबन्ध करना!! अपने आप मिट जायँगे!

पर, कविता देवी की शक्ति की चेतना कहाँ से आवेगी? ऊपर छन्द, विश्राम, लय, भाव तो सब जला चुके हैं!! परन्तु उसके अंग जला चुकने के बाद उसे 'नीलकंठिनि' भी तो बना चुके हैं! शक्ति

की चेतना का प्रबन्ध भी तो कर दिया है ! मानव-कंकाल को चेतना की घुटी पिलाओ, शायद उठ खड़ा हो !! मिथ्या स्वप्न शायद सच्चा हो जाय !!

अब प्रश्न और भेंट तो हो चुके। तो भी दो पंक्तियाँ रह गईं:—

अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,

कहाँ तो संकल्प, और स्वप्न का वर्णन और श्वासों का तोला जाना !! और कहाँ एकाएक 'ढेरियाँ' और 'फेरियाँ' की तुक !!! जहाँ तीनों प्रश्न आध्यात्मिक दर्शन की ओर ले जाते हैं वहाँ यह तुकबन्दी तत्कालीन बंगाल की दशा के दर्शन का एक मात्र उदाहरण प्रतीत होती है। 'दर्शन' के दोनों अर्थ यहाँ बुरी तरह आपस में प्रेमालिंगन करते उसी प्रकार दिखाए गए हैं जिस प्रकार छायावादी कविता में किसी शेफाली कुञ्ज के नीचे अन्धकार और चाँदनी के प्रकाश का आलिंगन दिखाने की परिपाटी चल पड़ी है।

'जम्बुकों की फेरियाँ'—कितने सुन्दर शब्द हैं ? क्या इससे यह बोध हो जाता है कि अन्न न मिलने से असंख्य मनुष्य प्रतिदिन मर रहे थे !!

'अस्थियों की ढेरियाँ'—'ढेर' न रख कर 'ढेरी' का बहुवचन लाना क्यों श्रेयस्कर समझा गया ? फिर 'अस्थियों' और 'ढेरियाँ' के सम्मिलन से तो 'हड्डियों की ढेरियाँ' ही अच्छा रहता क्योंकि यह तो कंकाल की तो 'अस्थि' थीं ही। हड्डियों से अधिक तो रखा क्या था ? भाषा-दृष्टि से 'हड्डियों की ढेरियाँ' अच्छा भी रहता। परन्तु बोध यह होता है कि "कविता सुन्दरी के स्वप्न" कंकाल बन जंगल में डोलते-डोलते थक के गिर पड़े हैं और उन स्वप्नों की अस्थियों के ढेरों—नहीं ढेरियों—को देखने, बार-बार चीमटा बजाकर कनफटा बाबाजी लोग, जम्बुकों के रूप में, फेरियाँ लगा-लगा कर कह रहे हैं कि "अरे हम तो स्वप्नों को झूँठा समझते

थ परन्तु हड्डियाँ भी पड़ी हैं। ओहो! अब तो स्वप्न भी सत्य होने लगे।"

चौथे छन्द में भी फिर 'दर्शन' शब्द के दोनों अर्थों का सम्मिश्रण दिखाया गया है। 'कविता सुन्दरी' का चिर हरा वस्त्र है। वह 'किरण चर्चित' और 'सुमन-चित्रित' है। छायावाद में 'किरण' और 'सुमन' से आशा और नवउल्लास का बोध होता है। कहीं-कहीं 'किरण' से ज्ञान का भी तात्पर्य ले लिया जाता है। जिस समय जैसा कवि का मन होता है, अर्थ बना लिया जाता है!! 'स्वर्णिमबालियों' का 'कान की बालियों से' तात्पर्य तो साधारण भाषा में होता है, श्रीमतीजी का तात्पर्य शायद "जौ, गेहूँ आदि की बाल" से है। 'खचित स्वर्णिम-बालियों से' क्या अर्थ हुआ?

साधारण भाषा में तो यह अर्थ होगा कि "सोने की बालियों से कान खींचे जा रहे हैं"। परन्तु यहाँ वस्त्र का वर्णन है। तो अर्थ होगा कि सुनहरी बालों से इस वस्त्र पर चिह्न पड़ चुके हैं!! कैसे चिह्न पड़ चुके हैं? कविता सुन्दरी के वस्त्र क्या ऐसे चिह्नों से बिगड़ न जायँगे?

परन्तु यहाँ यथार्थवाद के भाव हैं—छायावाद की छाप है!! कहना यह है कि बंग-भूमि शस्य-श्यामला है और कही जा रही है यही बात आसमानी भाषा में!!!

'बालियों से तुक मिलाने के लिए 'शत-शत चिता धूमालियों' लाना पड़ा। क्या अर्थ हुआ? शायद यह कि सौ-सौ चिताओं की पंक्तियों के धुओं से चिर हरा वस्त्र मलिन हो गया। परन्तु भाषा में 'चिताओं की पंक्तियाँ' तो बन न पाईं; धुओं की पंक्तियाँ बना दी गई हैं। ऊपर को उठते धुओं की तो वैसे ही पंक्तियाँ बन जाया करती हैं। परन्तु कविता में क्षैतिज पंक्तियाँ (Horizontal) तो भी नहीं बन पाईं!! (Vertical) ऊर्ध्वाधर पंक्तियों से संतोष करना पड़ता है!! कविता-देवी का चिर हरा वस्त्र न जानें कैसा

है ? उसको मलिन करने के लिए क्या ये ऊर्ध्वाधर पंक्तियाँ पर्याप्त हैं या नहीं ?

हमने तो सुना था और अखबारों में भी पढ़ा था कि कंकालों की अस्थियाँ कहीं तैयार नहीं हो पाई थीं और न कहीं चिता का ही प्रबन्ध हो पाया था—जहाँ तहाँ कंकालों के शव ही शव पड़े थे !! परन्तु 'वंग-दर्शन' के 'वंग-वन्दना' में कहीं उसकी ओर इंगित तक नहीं किया गया !!

अब; मृत्यु तो क्रन्दन करके गीत गा रही है और हिचकियों का आना जाना है वही उस गीत का उतार-चढ़ाव है !! और 'कपाल' "शून्य कोटर प्यालियों" से अर्घ्य दे रहे हैं। वृक्षों के खोखले 'कोटर' कहलाते हैं। 'कोटर' ही सूनी प्यालियाँ हैं जिनसे कंकालों के कपाल अर्घ्य दिए जा रहे हैं !! शायद अर्घ्य और प्यालियों का नया सम्बन्ध स्थापित हो रहा है !! अभी तक अर्घ्य-पात्रों से अर्घ्य देने की प्रथा थी। अर्घ्यपात्र न होते तो अंजुली से ही अर्घ्य दिया जाता था। परन्तु कपालों के अंजुली नहीं थीं; कोटर न तो अंजुली ही बन सकते थे और न अर्घ्यपात्र !! इसलिए उनको "प्यालियाँ" ही बना दिया गया !!! यदि किसी को रस या चाय के प्याले पिलाने की आवश्यकता आ जाय तो प्यालियाँ तो अर्घ्य देने को रख ली जायँगी और अर्घ्यपात्र से रस और अंजुली से चाय पिलाई जाया करेगी !!! कवि का मन ही तो है !! 'वालियों', 'धूमालियों' के लिए तुक की जरूरत थी इसलिए प्यालियों से अर्घ्य दिया जाना आवश्यक हुआ !!!

इसके बाद गृद्ध के पंख हैं वही छत्र छा रहे हैं। और उलूक विरुद सुना रहे हैं ! पर यह तो नहीं बताया गया कि छत्र किस पर छाये जा रहे हैं ? विरुद किसको सुनाए जा रहे हैं ? अर्घ्य किसको दिए जा रहे हैं ? शायद कविता सुन्दरी को !! या उसके चिरहरित पट ही को !! जो मन में आवे समझ लीजिए !!

कवि का काम तो बेल-बूटे की शब्द-मयी रचना खड़ा कर देना है। और कवयित्री जी ने अपना कर्त्तव्य-पालन कर दिया !! किसी गहरी चोट का निदर्शन कविता में अगर नहीं आ पाया तो भी 'वाह्य सौंदर्य की इन्द्र धनुषो रेखाएँ' तो दिखला दी हैं !!

वास्तव में यह कविता न तो बंगाल के अकाल का ही हाल बतला रही है और न 'वन्दना' ही बन पाई है !! न तो कविता सुन्दरी का ही सांगरूपक है और न तिमिर सागर का ही। न तो छायावाद ही है और न यथार्थवाद ही !! दोनों को मिला कर 'श्मशान' का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें भाषा भी बिगड़ गई है !! 'श्मशान' का दृश्य भी तो सफल नहीं बन पाया !!

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का निम्नलिखित दृश्य सीधी-सादी भाषा में कहीं अधिक वर्णन-पटुता लिए हुए है। पढ़ते ही श्मशान का दृश्य आँखों के सन्मुख आ जाता है :—

रुरुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनि के नर-नारी
फटफटाय दोउ पंख, उलूकहु रटत पुकारी
अन्धकार बस गिरत, काक अरु चील करत रव
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावईं
सँग दादुर झींगुर रुदन धुनि, मिलि स्वर तुमुल मचावईं

श्रृगाल, गिद्ध, उलूक का जो यहाँ वर्णन है वही बंग-दर्शन में ध्वनि-शक्ति रहित हो 'श्मशान' में भी इन्द्रधनुष का दृश्य दिखलाने का प्रयत्न कर रहा है !!

वास्तव में जो वेदना-प्रधान कवयित्री 'यामा' में इतनी सफल हुईं वही एक छोटी-सी कविता में इतनी असफल रह जायँगी, यह असम्भव-सा प्रतीत होता था !!

अब, एक दूसरा छन्द :—

भृकुटियों की कुटिल लिपि में सरल सृजन विधान भी दे
जननि अमर दधीचियों को अब कुलिश का दान भी दे

\+ \+ \+

आज रुद्राणी ! न सो निष्फल पराजय वेदना ले !

कविता सुन्दरी 'श्मशान' के अनन्तर जननि और रुद्राणी बन जाती है 'हड्डियों की ढेरियाँ' ऊपर देख चुके हैं शायद उन्हीं के वज्र बनाए जाकर 'अमर दधीचियों' को दिये जा रहे हैं। 'रुद्राणी'—(या नीलकंठिनि से) कहा जा रहा है कि "निष्फल वेदना लेकर आज मत सो"—कल शायद भले ही सो जाना !!! कविता सुन्दरी की पराजय-वेदना का क्या अर्थ है ? कुछ भी तो पता नहीं चल रहा !!

बंगाल के महान व्यक्तियों का वैभव भी छायावादी दुर्गम पथ में ही दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यथा:—

तुंग मन्दिर के कलश को धो रहा 'रवि' अंशुमाली,
लीपती आँगन विभा से वह 'शरद' विधु की उजाली,

यह "कविता सुन्दरी" का मन्दिर है, या उसके 'हरित पट' का अथवा रुद्राणी, जननि या वंग-भूमि का ? श्री रवीन्द्र बाबू सूर्य होकर किसी न किसी मन्दिर के किसी न किसी ऊँचे कलश को धो रहे हैं और मन्दिर के आँगन को शरद्चन्द्र की चाँदनी के गोबर से लीप रहे हैं। जहाँ छायावाद ने खड़ी बोली को स्निग्धता, कोमलता, सुकुमारता और मार्दव प्रदान किया वहाँ बहुत से ग्रामीण प्रयोगों की भरमार से भाषा को लीपा-पोता भी गया है। 'ताल', 'तालाब', 'सर', सरोवर' न कहकर 'पोखर' से प्रेम हम ऊपर देख चुके हैं। यहाँ चाँदनी से आँगन ही लीपा गया है !! कई शब्द ऐसे हुआ करते हैं जो कालान्तर में एक ही अर्थ में लाए जा

सकते हैं उनका प्रयोग दूसरे अर्थ में नहीं किया जा सकता। 'लीपना' ऐसा ही शब्द है। 'लेप' और 'लीपना' में भेद है। जहाँ 'चन्दन का लेप' कहा करते हैं वहाँ 'लीपना' में 'गोबर और पीली मिट्टी' का मिश्रण आवश्यक हो चुका है। 'लीपना' सुनते ही 'गोबर और मिट्टी' से लीपना ही समझा जा सकता है। परन्तु छायावादी कवियों ने अपनी-अपनी कविता में 'चाँदनी' से ही 'भाषा के आँगन' को अच्छी तरह लीप देने में असाधारण प्रतिद्विन्द्विता दिखाई है !!

जहाँ पन्तजी ने 'उल्लुओं' का रंग श्वेत मान लिया हो वहाँ श्रीमती महादेवी जी ने 'चाँदनी' का रंग गोबर सदृश्य मान लिया हो तो आश्चर्य की तो कोई बात नहीं है !

× × ×

छायावाद और प्रतीकवाद में सभी जगह कल्पना का ऐसा ही हाल हुआ है। 'बंग-वंदना' में भी पदावली की तड़क-भड़क मिलती है। कल्पना केवल अप्रस्तुतों की योजना द्वारा बंगाल के अकाल का स्वप्न-मात्र दिखलाने के प्रयत्न में व्यर्थ नष्ट की गई है !! परिणाम यह हुआ है कि न तो लाक्षणिक वैचित्र्य ही काव्य में आ पाया है और न बंगाल के अकाल का ही कुछ भी हाल बतलाया जा सका है। ऐसा मालूम होता है कि 'रहस्यवाद' का पौधा यथार्थवाद की भूमि में आते ही मुर्झा जाता है।

कवयित्रीजी की कविता समझने के लिए मानसिक श्रम और श्रद्धा के सम्बल की अत्यधिक आवश्यकता बताई गई है। मानसिक श्रम तो प्रत्येक पाठक ने ही किया होगा; परन्तु श्रद्धा के सम्बल के लिए बुद्धि पर कम्बल डालने की आवश्यकता होती है !!

अवश्य, प्रसन्नता इस बात से हो रही है कि रहस्यवादी कवियों में अग्रगण्य, वेदना-प्रधान कवयित्री ने भी देश के घोर संकट के समय आगे आकर जैसा कुछ बना, समय के अनुसार, सेवा करने में हाथ बटाया। प्रत्येक भाषा-भाषी सज्जन उनका हृदय से आभारी

है। प्रतीत यह भी हो रहा है कि त्रस्त और पीड़ित वंग-भूमि भी, आभार प्रदर्शन के लिए, उल्टी, देवी जी की ही वन्दना निम्न-लिखित रूप में कर रही है:—

देवि ! शत शत वन्दना ले !

भव्य भावा की सरस 'यामा' हमारी वन्दना ले !
साध्य से साधक मिलें सदियों पुरानी यह कहानी !
अन्न, शक्ति स्वतन्त्रता, तज,—आत्म-चिन्तन-निरत, ज्ञानी !!
चतुर्दिशि फिर भी अँधेरा
नहीं हो पाया सवेरा !
दीप जल कर मन्द है, पर दूर है रवि की निशानी !!
उलझनों का जाल तज, सुलझे जगत की सर्जना ले !
देवि ! शत-शत वन्दना ले !

अंगराग, पराग, सौरभ, मलय, रश्मि, प्रकाश, छाया।
मधु, मधुप, तारक, जलधि—सब मनुज हित ही तो बनाया।
फिर असीम-ससीम-माया
चिर मिलन नर में समाया
ब्रह्म ही तो यह मनुज है; शून्य में किसने भ्रमाया ?
विरह-वेदन छोड़ अब, संयोग युग की कल्पना ले !
देवि शत-शत वन्दना ले !

रूढ़िवादी दुर्ग को विध्वंस कर, नव चेतना ले !
काल-सीमा-हीन, निष्क्रिय-स्वप्न, 'जन सक्रिय' बना ले !
तार तन्त्री का न टूटे,
भाग्य भावा का न रूठे;
छोड़ 'छायावाद' दुर्गम, सुगम कोई साधना ले !
भारती-जागरण के नव-मंत्र की आराधना ले !!
वंग-भू की वन्दना ले !
देवि ! शत-शत वन्दना ले !

तृतीय भाग

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का 'साकेत'

(१)

'साकेत' का पंचम संस्करण हाल में ही निकला है, जिससे 'साकेत' की लोक-प्रियता का अच्छा परिचय मिलता है। श्रद्धेय मैथिलीशरणजी गुप्त का यह महाकाव्य द्वादश सर्गों में समाप्त हुआ है और आलोचकों ने इस महाकाव्य की अत्यंत प्रशंसा की है।

प्रोफेसर नगेन्द्रजी, एम. ए. ने लिखा है—"साकेत में आकर गुप्तजी भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। कवि का भाषा पर अधिकार इतना व्यापक और विस्तृत हो जाता है कि वह जैसे चाहे उसका प्रयोग सरलता से कर लेता है। 'साकेत' के किसी स्थल को पढ़कर यह अनुभव हो सकता है कि कवि को कोई भी शब्द ढूँढ़ना नहीं पड़ता है, वह स्वयं उसकी जिह्वा पर आगया है।" (साकेतः एक अध्ययन, पृष्ठ २३८)

लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र-चित्रण में 'साकेत' ने एक विशेष स्थान प्राप्त किया है 'प्रिय प्रवास' के बाद खड़ी बोली का यह दूसरा महाकाव्य निःसंदेह स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है, परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि भाषा की दृष्टि से कोई भी निष्पक्ष समालोचक श्रीयुत नगेन्द्रजी से सहमत नहीं हो सकता।

जिस महाकवि ने 'जयद्रथवध, 'भारत भारती,' 'रंग में भंग,' 'विकट भट,' 'सैरंध्री,' 'बक संहार' और 'विरहिणी व्रजांगना' की परिष्कृत भाषा का खड़ी बोली को दान दिया हो, वही महाकवि 'साकेत' लिखने में इस प्रकार असफल रहेगा, यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है।

श्रद्धेय गुप्तजी ने नवीनचन्द्र सेन के बंगला भाषा के 'प्लासी के

युद्ध का' पद्य में अनुवाद किया है। अनुवाद के नाते या सुन्दर पद्य के नाते--दोनों दृष्टि से 'प्लासी के युद्ध' की भाषा अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक है। उसके बाद 'साकेत' पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है न तो भाषा में ओज है और न सौंदर्य। भाषा लड़खड़ाती सी प्रतीत होती है। ज्ञात यह होता है कि श्रद्धेय गुप्तजी के सिर पर एक बड़ा भारी बोझा रखा हुआ है और किसी-न-किसी प्रकार वह उस भार से निवृत्त हो जाना चाहते हैं। उनके पूज्यपाद पिताजी का पुनीत आदेश उनको बार-बार इंगित करता है कि कविता राम सम्बन्धी होनी चाहिए और इसीलिए श्रीराम सम्बन्धी महाकाव्य किसी न किसी प्रकार लिख लिखाकर वह उस ऋण से उऋण हो जाना चाहते हैं जो उनके हृदय को संतप्त कर रहा है। केवल कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से लिखे गए ऐसे महाकाव्य में भाषा की वह रस-धारा नहीं मिल सकती जो हृदय के अन्तरतम प्रदेश से उत्पन्न हुए काव्य में होती है।

इसीलिए इस महाकाव्य में भावों की कोमलता या विचित्रता, पद विन्यास की रमणीयता, और अपूर्वता, शब्दों के लालित्य और झंकार का अभाव खटकता है। भाषा की उस काव्य-धारा का चिह्न नहीं है जो श्रीराम सम्बन्धी महाकाव्य में अपेक्षित थी। भाषा एक सी नहीं रही है। बारह सर्गों में नई-नई भाषा के जोड़ मिलते हैं। एक एक सर्ग में बीसियों प्रकार की भाषा मिल जाती है जो 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' की छाप मात्र प्रतीत होती है क्योंकि काव्य की प्रतिभा जो 'केशव' में है 'साकेत' में नहीं मिलती। जो 'प्रियप्रवास' की भाषा में सरसता है वह भी 'साकेत' में नहीं मिलती। तो भी बीच-बीच में जो भावपूर्ण स्थल कवि के हृदय से प्रेरित हो उठे हैं उनसे भाषा में कहीं-कहीं सजीवता अवश्य आ गई है। श्री नगेन्द्रजी ने अपनी समालोचना में ये सारे भावपूर्ण स्थल चुन-चुन कर एकत्रित कर दिये हैं, परन्तु

'साकेत' महाकाव्य के विशाल आकार में यह भावपूर्ण स्थल बहुत ही कम हैं और भाषा-दोष यत्रतत्र बुरी तरह बिखरे पड़े हुए हैं। पंचम संस्करण में भी ये दोष वैसे के वैसे ही देख कर अत्यन्त खेद होता है। 'तुकबन्दी' भी वैसी की वैसी ही छोड़ दी गई है, यथा:—

अवसर न खो निठल्ली
बढ़जा, बढ़जा, विटपि—निकट वल्ली।
अब छोड़ना न लल्ली
कदम्ब—अवलम्ब तू मल्ली॥

वल्ली, लल्ली, मल्ली, निठल्ली, की तुक कर्णकटु ही नहीं ग्रामीण भी है।

उर्मिला के विरह-वर्णन में निम्नलिखित तुकबंदी कितनी अप्रयुक्त है?

मिलाप था दूर अभी धनी का
विलाप ही था बस का बनी का
अपूर्व आलाप वही हमारा
यथा विपंची—दिर दार दारा!

'दिर, दार, दारा' की तुकबन्दी महाकाव्य में कितना सौंदर्य प्रदान कर सकती है यह वे ही समालोचक समझ सकते हैं जिन्होंने 'साकेत' की भाषा की अत्यधिक प्रशंसा की है। इससे भी अधिक अप्रयुक्त निम्न लिखित कवित्त है जिसकी प्रशंसा एक दूसरे समालोचक महोदय ने की है:—

"नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से।
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।

किन्तु क्या करूँगा यहाँ"? उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाए पैंग दोनों ओर झूले से।
"हें-हें" कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले से॥

'भूले से,' 'झूले से', और "बाहर से संकुचित भीतर से फूले से" में सिवाय तुकबन्दी और निम्न कल्पना के और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता।

निम्नलिखित सामग्री इससे भी अधिक काव्यमय है!! लिखते हैं:—

"कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं
आली, तोयद तड़क रहे हैं
कुछ कहने के लिए लता के
अरुण अधर वे फड़क रहे हैं
मैं कहती हूँ—रहें किसी के
हृदय वही जो धड़क रहे हैं
अटक अटक कर भटक भटक कर
भाव वही जो भड़क रहे हैं।"

'कड़क,' 'तड़क,' 'फड़क,' 'धड़क' और 'भड़क' की इस तुकबंदी ने भाषा में अजीब खड़खड़ाहट पैदा करदी है जो अनावश्यक और निरर्थक प्रतीत होती है। 'लता के अरुण अधर' क्या हैं? क्या अरुण फूलों से या कोंपलों से तात्पर्य है? वास्तव में, कविता यहाँ बुरी तरह अटक रही है और काव्यधारा भावों की भूल-भुलैयों में भटक रही है।

यदि उर्मिला पागल होकर प्रलाप ही कर रही थी तो उसके प्रलाप की भाषा में भी तन्मयता होनी चाहिए थी जो यहाँ नहीं है। केवल तुक जोड़ने के लिए ही शब्द लाए गए प्रतीत होते हैं यथा—

हहह ! पागल हो यदि उर्मिला
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला !
प्रिय यहाँ वन से जब आयँगे
सब विकार स्वयं मिट जायँगे
न सपने सपने रह पायँगे
प्रकटता अपनी दिखलायँगे

'विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला' में कल्पना की पराकाष्ठा है !! और "प्रकटता अपनी दिखलायँगे" में भाषा नितान्त अशुद्ध है। आशय यह था कि अपनी 'स्थिति' या 'वास्तविकता' दिखलायँगे। वास्तविकता या अस्तित्व के स्थान में 'प्रकटता' का प्रयोग अशुद्ध है। एक स्थान पर लिखा है:—

बता अरी, अब क्या करूँ,
रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ,
मन मारूँ झखमार !

यहाँ 'रुपी रात से रार' और 'मन मारूँ झखमार' में निम्न ग्रामीण प्रयोग है। 'झखमारने' में ही 'मनमारूँ' का आशय आ जाता है।

'स्नेह जलाता है यह बत्ती' ! बड़ा सारगर्भित पद है, परन्तु तुकबन्दी ने वह भी बुरी तरह बिगाड़ दिया है।

'दीखे जिसमें राई रत्ती'
'खिल जाती है पत्ती पत्ती'
'ठंडी न पड़, बनी रह तत्ती'

की तुकों ने एक सुन्दर पद को हास्योत्पादक बना डाला है। 'गर्म' की जगह 'तत्ती' का ग्रामीण प्रयोग भी है।

इसी तरह एक स्थल पर आया है:—

"आकाश जाल सब ओर तना
रवि तन्तुवाय है आज बना।
करता है पाद-प्रहार वही
मक्खी सी भिन्ना रही मही"

यहाँ ज्ञात होता है कि 'तन्तुवाय' (?) सूर्य फुटबॉल में 'किक' (Kick) लगा रहा है जिसके कारण कविता मक्खी-सी भिन-भिना रही है !!

दूसरी तुकबंदियों की भी कमी नहीं है—

१—मन को यों मत जीतो—
"जन को भी मन चीतो"
"मानस, कभी न रीतो"
"जड़ न बनो दिन, बीतो"

२—अरी, गूँजती मधु मक्खी,
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रक्खी
"लूटेगा घर लक्खी"
"जहाँ सुधा-सी चक्खी"

ये तुकें निन्दनीय हैं और भाषा को बिगाड़ रही हैं।

एक स्थल पर लिखा है:—

"वनप्राची जननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना है।
उसको कलंक कहना, यह भी मानो कठोर टौना है।"

'डिठौना' और 'टौना' ब्रजभाषा के शब्द हैं और टौना का तो बिल्कुल अशुद्ध प्रयोग हुआ और 'कठोर' या 'कोमल' टौना कैसा होता है ?

एक दूसरा पद बड़ा सुन्दर प्रारम्भ किया है—

कहती मैं चातकि फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकती यदि मोल !

परन्तु बाद में तुकबन्दी की धुन में यह भी बिगड़ गया है। यथा—

"फिर भी, फिर भी, इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल"
"जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल डोल,
और सब हो रहे, सो रहे ये भूगोल-खगोल"

'भूगोल-खगोल' का अशुद्ध प्रयोग केवल तुक के लिए लाया गया !!

(२)

हमने अधिकाधिक उदाहरण नवम सर्ग से ही दिए हैं। उसका यह अर्थ नहीं है कि नवम सर्ग में ही तुकबन्दी एवं अन्य भाषा दोष वर्तमान है, दूसरे सर्गों में नहीं। साकेत में तो प्रथम सर्ग से भी पूर्व मंगलाचरण में ही भाषा-दोष की नींव पड़ चुकी है। वह मंगलाचरण निम्न लिखित है:—

'जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति,
स—गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं—
'देखो अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूँड से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं।
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं!

पहले मंगलाचरण सारगर्भित हुआ करते थे। 'साकेत' के मंगलाचरण में यह बात नहीं है। अब मंगलाचरण की कई पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम पंक्ति

'जयति कुमार—अभियोग गिरा गौरी—प्रति'

संस्कृत का एक मन्त्र सा प्रतीत होता है और अंतिम चरण—

'देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं'।

एक अत्यन्त साधारण बोल चाल की भाषा है। दोनों मिश्रित करके मंगलाचरण की रचना पूर्ण हुई है।

अब, प्रथम पंक्ति के शब्द एवं अर्थ अलग-अलग चल रहे हैं। 'गौरी-प्रति,' "कुमार-अभियोगगिरा" कल्याण करें—यह साधारण अर्थ होना चाहिए। तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि "गौरी के प्रति कुमार कार्तिकेय ने जो अभियोग लगाया है उसकी वाणी कल्याण करें।"

कवित्त सारा पढ़ जाने पर पता यह चलता है कि कुमार कार्तिकेय ने गौरी के प्रति कोई अभियोग नहीं लगाया। श्रद्धेय कवि यह बात कहना चाहते हैं कि गौरी के समक्ष कुमार कार्तिकेय ने गणेशजी के प्रति या गणेशजी के विरुद्ध एक शिकायत की—एक आक्षेप किया, एक आरोप लगाया वह वाणीकल्याण कारी हो। गौरी के प्रति और गौरी के समक्ष— ये दो बातें बिल्कुल भिन्न हैं। परन्तु कवि ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

अब वह शिकायत क्या है? आरोप क्या है? बहुत ही साधारण!! जिसे किसी भी दृष्टि से अभियोग की श्रेणी में लाना कठिन है। कुमार कार्तिकेय की वाणी की प्रथम पंक्ति है:—

"देखो, अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर,
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं"।

इस पंक्ति में, 'अम्ब' 'हेरम्ब,' 'मानस तीर' और 'तुन्दिल' संस्कृत के शब्द, और ब्रजभाषा के ग्रामीण शब्द 'ऊधम' मचाते हैं मिला कर यह चरण पूरा हुआ है" और 'ऊधम' शब्द "शोर-गुल,

उत्पात" इत्यादि की ओर इंगित करता है। बोध ऐसा होता है कि 'मानसरोवर के तीर पर सहस्त्रों मनुष्यों की भीड़ है—दौड़ हो रही है,—'हो हो' की चिल्लाहट और भारी करतल ध्वनि से घबरा कर कार्तिकेयजी कहते हैं कि "हे अम्ब देखो तो कितना ऊधम हो रहा है, गणेश जी कितना ऊधम मचा रहे हैं" परन्तु कवित्त पढ़ जाने पर पता चलता है कि कोई ऊधम नहीं है वहां तो दो भाइयों को छोड़कर कोई भी तीसरा व्यक्ति उपस्थित तक नहीं है। वहाँ पूर्ण शान्ति का साम्राज्य है। गणेशजी मोदक रखे हुए बैठे हैं कार्तिकेयजी को देने को सूँड से उठाकर दिखाते हैं, परन्तु देते नहीं। ऊपर ही उछाल कर स्वयं खा जाते है। सिवाय इस बात के और कोई शिकायत नहीं है। अगर कार्तिकेयजी स्वयं मचलते हों या ताली पीट कर चिल्लाते हों तो दूसरी बात है परन्तु वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति ताली पीटने वाला भी नहीं!! ऐसी परिस्थिति में "गणेशजी के ऊधम मचाने" की शिकायत सही नहीं है और न 'ऊधम मचाने' के शब्द ही उपयुक्त स्थान पर प्रयोग किए गए हैं।

कवि का आशय यह भी है कि एक-एक मोदक ऊपर उछालते जाते एवं स्वयं खाते जाते हैं परन्तु शब्दों में ऐसा भाव किंचित् मात्र व्यक्त नहीं हो पाया।

"ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं" ये मंगलाचरण के अंतिम शब्द हैं।

'झेल' शब्द में कुछ कठिनाई बोध हो रही है। कवि का आशय तो यह है कि ऊपर उछालकर ऊपर ही खा जाते हैं। उछाला नहीं कि खाया नहीं !! शीघ्रातिशीघ्र खा जाते हैं! 'खाते हैं' और 'शीघ्र खा जाते हैं' में भेद है। अंतिम शब्द भाव को उपयुक्त रूप से व्यक्त कर सकते थे। 'झेलकर खेलकर खाते हैं'! में खाने में

विलम्ब होने का आभास होता है जो कवि का भाव नहीं है। स्वयं झेलने वाले को कुछ कष्ट भी बोध हो रहा है।

मंगलाचरण के अनन्तर अब सरस्वती की वन्दना है—

अयि दयामयि देवि, सुख दे, सारदे
इधर भी निज वरदपाणि पसार दे

शब्द "वरद पाणि पसारदे" ध्यान देने योग्य है। कवि का आशय कुछ और है-शब्द कुछ और बतलाते हैं।

आशय यह है कि हे सुख देनेवाली दयामयि सरस्वती देवी! अपना वर देने वाला हाथ मेरे सिर पर भी रखदे।

परन्तु 'हाथ पसारना'-'हाथ फैलाना' याचना के भाव में ही प्रयोग होता है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। 'पसार दे' ने वन्दना ही अशुद्ध करदी है। भाषा की दृष्टि से यह चरण अत्यंत निंद्य है। शब्दों का अर्थ कुछ-कुछ यह होता है कि—'हे सुख देनेवाली दयामयी सरस्वती देवी! तूने बड़ों-बड़ों को वर दिए हैं। जरा अपना वह वर देनेवाला हाथ मेरे सामने तो फैला तो मैं तुझे एक सबसे बड़ा वर दे दूँ। जरा मेरा भी तो करिश्मा देख' !!

शब्द और भाव अपनी-अपनी राह अलग-अलग चल रहे हैं। भाव के अनुरूप ही नहीं-यहाँ तो बिल्कुल भाव के प्रतिकूल-भाषा ने चलना प्रारंभ किया है। 'सिरपर हाथ रखना' और 'हाथ फैलाना' एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं। जहाँ भाषा एवं भाव का यह वैषम्य मंगलाचरण एवं वंदना में ही प्रारम्भ हो गया हो वहाँ सारे ग्रंथ की भाषा का क्या हाल हुआ होगा, यह विज्ञ पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं !! उसके विषय में एक स्वतंत्र लेख लिखना उपयुक्त होगा, परन्तु यहाँ यह बतला देना अनुचित न

होगा कि 'साकेत' के प्रथम चार सर्ग की भाषा भाषा-दोषों से सर्वथा भरपूर है। बड़ा अच्छा हो कि ये चार सर्ग फिर से लिखे जाने का प्रयत्न हो तो अन्यान्य त्रुटियाँ निकाली जाकर महाकाव्य की भाषा परिमार्जित एवं प्राञ्जल हो सके।

सरस्वती-वन्दना के अनन्तर अयोध्या वर्णन में चार माया-मूर्तियों का वर्णन किया गया है, परन्तु रूपक उसमें भी सँभल नहीं पाया।

"राम सीता, धन्य धीराम्बर इला
शौर्य-सह सम्पत्ति, लक्ष्मण उर्मिला
भरत कर्त्ता, माण्डवी उनकी क्रिया
कीर्त्ति सी श्रुति कीर्ति शत्रुघ्न प्रिया"

यहाँ राम सीता तो धीराम्बर इला की भाँति हैं। लक्ष्मण और उर्मिला शौर्य और सम्पत्ति की भाँति हैं। भरत एवं माण्डवी—कर्त्ता एवं क्रिया की तरह हैं परन्तु शत्रुघ्न एवं श्रुतिकीर्ति किस-किस की भाँति हैं, कवि नहीं बतला सके। केवल यह कह कर चुप हो जाना पड़ा कि "शत्रुघ्न की प्रिया श्रुतिकीर्ति 'कीर्ति' सी है, परन्तु शत्रुघ्न की उपमा हम किसी से भी नहीं दे सकते !! अगर अलङ्कार दोष हो तो भले ही होने दो" !!

अयोध्या वर्णन में "ईति भीति जनु प्रजा दुखारी" का भाव भी लाया गया है परन्तु वह तुकबन्दी भी अत्यन्त नीरस होगई है:—यथा

अलग रहती हैं सदा ही ईतियाँ
भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ
नीतियों के साथ रहती रीतियाँ
पूर्ण हैं राजा प्रजा की प्रीतियाँ

ईतियां किससे अलग रहती है ? भीतियाँ शून्य में किस तरह भटकती होंगी ? शून्य का तात्पर्य क्या आकाश से है ? 'रीतियाँ' किस विषय की ? क्या कायदे और कानून से मतलब है ? राजा प्रजा की प्रीति, या प्रीतियां ? भाषा का घोड़ा बेलगाम सा तेजी से भागता चला जा रहा है !! श्रद्धेय कवि के काबू का नहीं मालूम होता !! हमारी भी निम्नलिखित तुकबन्दी इसमें मिला लें तो अच्छा हो: —

धन्य हैं साकेत की ये गीतियाँ !
और भाषा - भाव की मनचीतियाँ !!

'साकेत' और 'पलासी का युद्ध'

(१)

श्रद्धेय मैथिलीशरण जी गुप्त ने सर्व प्रथम सरल भाषा में प्रबन्ध काव्यों को लिखनेकी परम्परा चलाई थी। खड़ी बोली के काव्य में, इन प्रबन्ध काव्यों के कारण ही गुप्तजी का एक बहुत ऊँचा स्थान है। प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी उनका चिर ऋणी रहेगा। 'रंग में भंग', 'जयद्रथवध' और 'विकटभट' में उनकी भाषा अत्यंत सजीव और ओजस्वी है एवं प्रबन्ध-सौष्ठव भी अच्छा है।

उसके अनन्तर श्री नवीनचन्द्र सेन के बंगला के 'पलासी के युद्ध' के पद्यानुवाद में श्रद्धेय गुप्तजी अत्यन्त सफल हुए। यह अनुवाद एक स्वतंत्र कृति माना जाय तो अतिशयोक्ति का तो किंचित् भी भय नहीं है क्योंकि कवि के भावों की रक्षा करते हुए भी शब्द-चयन स्वयं गुप्तजी की स्वतंत्र शैली का परिचय देता है। 'पलासी के युद्ध' की भाषा इतनी प्रांजल और सजीव है कि जितनी बार यह काव्य पढ़ा जाय उतना ही अधिक उसे और पढ़ाने को जी चाहता है।

प्रबन्ध काव्य में छोटे-छोटे वर्णन और पारस्परिक संवाद की भाषा सजीव होनी आवश्यक है। कौशल पूर्वक पारस्परिक संवादों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रत्येक के भाव दिखा कर चरित्र-वैचित्र्य की रक्षा करनी पड़ती है। जैसा व्यक्ति हो उसी के अनुरूप उसके संवाद की भाषा प्रयुक्त करके उसके अनुरूप छंद भी प्रयुक्त करना आवश्यक हो जाता है। और फिर समय के अनुसार एक दूसरे छन्द का ठीक-ठीक सिलसिला भी मिलाना पड़ता है। क्योंकि जब तक सिलसिला नहीं मिलता तब तक महाकाव्य के कवि की कण्ठ-लहरी पाठकों के हृदयों के मर्म-स्थान पर पहुँच ही नहीं सकती।

'साकेत' में स्थलों के वर्णन, संवादों की भाषा और प्रबन्ध-सौष्ठव में श्रद्धेय कविवर सफल हुए हैं या असफल ? ऐसा प्रश्न है जिसका सही उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक 'साकेत' के कुछ अंशों की तुलना किसी दूसरे प्रबन्ध-काव्य के अंशों से न की जाय।

हम समझते हैं कि किसी दूसरे कवि के महाकाव्य से 'साकेत' की तुलना उचित नहीं होगी। श्रद्धेय गुप्तजी के 'पलासी के युद्ध' की भाषा से ही 'साकेत' की भाषा की तुलना अधिक समीचीन होगी इस लिये एक दृष्टि 'पलासीके युद्ध' के प्रथम सर्ग पर डालनी अनुचित न होगी।

'पलासी के युद्ध' के प्रथम सर्ग में नवद्वीप के राजा कृष्णचंद्र आदि जगत सेठ के भवन में बैठकर सिराजुद्दौला को राजच्युत करने का परामर्श करते हैं। इस षड्यंत्र के वर्णन में कवि ने जो कौशल दिखाया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। षड्यन्त्रकारियों में रानी भवानी का मत पूछा जाता है। रानी भवानी का जो मत है उसकी भाषा अत्यंत सजीव एवं ओजस्वी है जिससे उनकी दूरंदेशी एवं देशभक्ति का परिचय अपने आप मिल जाता है। यह भाषण इतना सुन्दर है कि यदि स्थान होता तो हम इसे आद्योपांत उद्धृत करते। तो भी कुछ अंश उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। कवि लिखते हैं :—

"रानी का मत क्या ?" सुन जाग मानों सोते से
बोली श्री भवानी रानी वाक्य सुधा सोते से
"मेरा क्या मत है ? महाराज कृष्णचन्द्र राय,
सुनने की इच्छा है, सुनो तो यह मेरी राय–
सबने जो नवाब का चरित्र दिखलाया घोर,
जानती हूँ मैं कि उससे भी वह है कठोर।
आप ही मैं अबला हूँ दुर्बल हृदय है।
क्या कहूँ परन्तु यह मन्त्र पाप-मय है।

कृष्णनगराधिप के योग्य नहीं कान्ति यह
ऐसे षड्यन्त्र की हुई क्यों भला भ्रान्ति यह ?
होगी इस वीरता की यों ही व्रतोद्यापना
दासता के बदले में दासता की स्थापना !
देखो महाराज, सूक्ष्म दृष्टि द्वारा एक बार-
भारत के चारों ओर दूर नहीं दिल्ली द्वार।
मुगल मलीन होते जाते घड़ी पल हैं,
और मराठों से हुए फ्रेंच हीनबल हैं।
क्लाइव के पैर बंग—भूमि यहाँ चूमती
ब्रिटिश पताका फ्रेंच दुर्ग पर झूमती।
नाहर ज्यों लगता है यूथप की घात में
क्लाइव त्यों रत है नवाब के निपात में।
सेनापति संग कहीं उससे मिलें जो आप
होगा तो अमोघ वेग और उसका प्रताप।
बंग में जलेगी वह भीमानल एक संग
भस्म होगा जिससे नवाब जैसे हो पतंग।
साध्य क्या जो सेनापति उसको बुझा सकें ?
बुझ न सकेगी आप गंगा भी बुझा थकें !!
बंग की क्या बात, सारे भारत में कौन भूप-
रोकेगा ब्रिटिश वेग होगा जोकि झंझा रूप ?

× × × ×

होते हैं दिन दिन यवन हत बल ज्यों
भारत के भाग्य को घुमाता विधि कल त्यों

× × × ×

जानती हूँ यवन फिरंगियों के ही समान-
भिन्न जाति वाले हैं तथापि भेद है महान।
सदियों से संग रहने से मुगलों के संग
हो गया है जेता-जित-रूपी विष-भाव भंग।

यवन हमीं में मिले आज इस भाँति हैं
पीपल में होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं।
राज सेना, राजकोश और राज मन्त्रागार
बोलो, हिन्दुओं का नहीं आज कहाँ स्वाधिकार ?

रानी भवानी का भाषण और भी बड़ा है और आदि से अन्त तक अत्यन्त चित्ताकर्षक और हृदयग्राही है। जगत सेठ और राजा कृष्णचन्द्र एवं मंत्री के भाषण भी अपने-अपने रूप में अत्यन्त प्रभावशाली हैं। राजा कृष्णचन्द्र के भाषण की निम्नलिखित पंक्तियाँ आन्तरिक मर्म-भेदी स्वदेश-वात्सल्य-स्रोत के सहसा उमड़ चलने की परिचायक हैं। पढ़ते-पढ़ते थक जाइए परन्तु फिर भी पढ़ने की उत्कण्ठा बनी रहती है।

कौन कहे, कौन जाने, पानीपत के के बार;
भारत के भाग्य का करेगा और भी विचार !?
नत हैं पठान, गत-प्राय ये मुगल हैं
शृंखलित किन्तु हम आज भी अचल हैं।
सदियाँ गई हैं, किन्तु दैव अब भी है क्रूर
भारत की दासता न जाने कब होगी दूर।
जाता दिन दुःख में, अनिद्रा में जाती रात
हमको मृदु शय्या भी होती शर-शय्या ज्ञात !!

वृद्ध मंत्रिवर की स्वामि-भक्ति का परिचय देने वाली निम्नलिखित पंक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं। वह कहते हैं:—

हाय ! जिस गाय के थनों से किया दुग्ध पान,
कैसे बदले में करूँ उसको विष-प्रदान ?
धर्म आज भी है धर्म, पाप आज भी है पाप
धर्म छोड़ पाप करूँ कैसे ? सोच लीजे आप
नरक समान है कृतघ्न चित्त पापारूढ़
खाता जिस कर से है काटे उसे कौन मूढ़ ?

करते बने जो वंग—शासन स्वबल से
दे सको नवाब को जो दण्ड निजदल से
तो समस्त युद्ध करो, करते क्यों छल हो ?
अन्यथा अधीन रहो जैसे आज कल हो !
मानता हूँ मैं सिराज, पापवृत्ति वाला है
किन्तु युक्ति से क्या व्याघ्र जाता नहीं पाला है ?
वसी भूत होता है कराल विषधर भी,
भूलते हैं कैसे फिर आप जान कर भी ?

'पलासी के युद्ध' में प्रारम्भ से अन्त तक ऐसा ही सुन्दर भाषा-प्रवाह बहता चला गया है। वास्तव में, यह प्रबन्ध काव्य हिन्दी भाषा का गौरव-ग्रन्थ है। आश्चर्य है कि पाठ्य-पुस्तकों में इसका कहीं भी नामोनिशान नहीं है !!

'पलासी के युद्ध' की गंभीर एवं मनोहर भाषा देखने के बाद यह आशा स्वाभाविक थी कि 'साकेत' की भाषा और भी अधिक गंभीर एवं मनोहर होगी; कारण, 'पलासी के युद्ध' के लिये कोई प्राचीन अवलम्बन नहीं था। वह ऐसा मार्ग है जिस पर होकर पहिले कोई गया ही नहीं था। इसके मुकाबले में 'साकेत'-मार्ग तो वही अत्यन्त प्राचीन मार्ग था जो अच्छी तरह ठुका, पिटा, पक्का किया हुआ, सदियों से साफ-सुथरा पड़ा हुआ था जिसके ऊपर 'कारवाँ' का 'कारवाँ' आसानी से गुजर चुका था। वाल्मीक, कालिदास, भवभूति तुलसीदास, केशवदास प्रभृति बड़े-बड़े महारथी उस सड़क को पार करने में कमाल दिखा चुके थे। आश्चर्य इसमें नहीं होता कि ऐसी पुरानी सड़क से जाकर कोई व्यक्ति सुगमता से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। अवश्य आश्चर्य इसमें होता है कि ऐसे पुराने मार्ग में भी कोई श्रेष्ठ कवि लड़खड़ा सकता है !!

× × ×

रामायण में राम बनवास के समय के दृश्य से बढ़ कर हृदय-

द्रावक दृश्य और नहीं है। उस समय राम और कौशल्या; कौशल्या और सीता; राम और लक्ष्मण के सम्वाद अत्यन्त महत्व के हैं। वनवास के अनन्तर कैकेयी और भरत के सम्वाद का स्थान अलग है। आर्य धर्मानुसार परमेश्वर एवं देवताओं के माने हुए अवतार—अयोध्या के विशाल राज्य-प्रासाद में पले हुए इन महान् व्यक्तियों के सम्वाद की भाषा में अत्यन्त गांभीर्य अपेक्षित था। विशेष कर महान् आपत्ति के समय आशा यह थी कि इन संवादों की भाषा उन संवादों की भाषा से अधिक ओजस्वी, अधिक गति शील एवं अधिक गंभीर होगी जो पलासी युद्ध के पूर्व जगत सेठ के मन्त्रणा-भवन में बताये गये थे परन्तु हमारे आश्चर्य की सीमा न रही जब 'साकेत' में राम-कौशल्या संवाद का, निम्नांश हमने पढ़ा ! वनवास की आज्ञा का समाचार श्रीराम के मुख से कौशल्या माता को सुनाया जाता है। भगवान राम कहते हैं:—

मॉं मैं आज कृतार्थ हुआ
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ !
पावन कारक जीवन का
मुझको वास मिला वनका।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ !!

कौशल्या सुनते ही कह उठती है :—

बोलीं वे हँस कर "रह तू
यह न हँसी में भी कह तू
तेरा स्वत्व भरत लेगा
वन में तुझे भेज देगा ?
वही भरत जो आता है
क्या तू मुझे डराता है ?

लक्ष्मण ! यह दादा तेरा
धैर्य देखता है मेरा !
ऐं लक्ष्मण तो रोता है
ईश्वर यह क्या होता है ?"

पता नहीं कविवर ने यह कौशल्या माता का अल्हड़पन दिखाया है या एक बच्चे का खिलवाड़ !!

इससे भी अधिक हास्यास्पद राम-लक्ष्मण संवाद हो गया है ! भगवान से कहलवाया जाता है:—

"अनुज मार्ग मेरा लेकर
संग अनावश्यक देकर
सोचो अब भी तुम इतना
भंग कर रहे हो कितना !
हठ करके प्यारे भाई
करो न मुझको अन्यायी !"

(क्या भंग कर रहे हो ? यह बताने की कृपा नहीं की)
श्री लक्ष्मण सुन कर ही कह उठते हैं :—

हाय आर्य रहिये, रहिये
मत कहिये यह मत कहिये
हम संकट को देख डरें
या उसका उपहास करें
पाप रहित सन्ताप जहाँ
आत्मशुद्धि ही आप वहाँ

नीचे के दो चरणों का अर्थ क्या है और कैसे यहाँ संगत हैं, यह तो परमात्मा जाने ! परन्तु 'हाय' 'रहिए', 'मत कहिए' 'मत कहिए' अवश्य ही शूरवीर लक्ष्मण के अनुरूप है !!

× × × ×

जितना बचपन लक्ष्मण के भाषण में है उससे कहीं अधिक बचपन सीता जी के भाषण में दिखाया गया है !!

× × × ×

सीता जी के मुँह से कहलाया गया है कि वन में उन्हें सब सुख मिलेंगे और वह वन में ही प्रभु और देवर लक्ष्मण के साथ चलेंगी, अयोध्या में नहीं रहेंगी। परन्तु भाषा में न तो सीता के अनुरूप गांभीर्य है, न सजीवता है और न गतिशीलता। सीताजी कहती हैं :—

"बधुएँ लंघन से डरतीं
तो उपवास नहीं करतीं !
मुक्त गगन है मुक्त पवन,
वन है प्रभु का खुला भवन
सलिल पूर्ण सरिताएँ हैं,
करुण - भाव - भरिताएँ हैं
उटज लताओं से छाया
विटपों की ममता माया
खग मृग भी हिल जावेंगे
सभी मेल मिल जावेंगे
देवर एक धनुर्धारी
होंगे सब सुविधाकारी,
वे दिन—रात साथ देंगे
मेरी रक्षा कर लेंगे
मदकल कोकिल गावेंगे
मेघ मृदंग बजावेंगे
नाचेंगे मयूर मानी
मैं हूँगी वन की रानी !!

सीताजी के उपर्युक्त संवाद में न तो कोई तर्क है, न भावुकता का ही आभास प्रतीत होता है। वन का असंगत वर्णन है। 'लंघन',

'भरिताएँ', 'खग, मृग का बिना कारण हिल जाना'—ऐसी बातें हैं, जिनका समझ में आना ही कठिन है। और यह विचार कर लेना कि वन में बारहों मास मेघ तो मृदंग बजाते रहेंगे, सीता देवी की बुद्धि का अपमान करना है। राज्य प्रासाद में पाली गई, राजर्षि जनक की पुत्री, और महाराजा दशरथ की वधू क्या इतनी नन्हीं भोली-भाली ग्रामीण बालिका होगी जो वन चलते वक्त यह कह कर प्रसन्न होगी कि :—

नाचेंगे मयूर मानी
मैं हूँगी वन की रानी !

चौदह वर्ष के वनवास को उद्यत देखते हुए क्या समय के अनुसार, परिस्थिति के अनुसार, भावों में, शब्दों के घुमाव में, एवं शब्द ध्वनि में गांभीर्य लाना श्रेयस्कर नहीं हो सकता था ?

सीताजी के उपर्युक्त भाषण में प्रभावोत्पादक या हृदय विदारक कोई बात तो नहीं मालूम होती। परन्तु इसका प्रभाव उर्मिला पर सब से अधिक हुआ ! यह तो बोल ही नहीं सकी !! भाषण समाप्त होते ही धड़ाम से गिर पड़ी। सीताजी के भाव या भाषा में जादू हो या न हो, मूर्छित कर देने वाली बात हो या न हो, उर्मिला तो 'हाय' कह कर गिर पड़ी ! क्योंकि "उर्मिला तो साकेत की अमर सृष्टि है जो लोक के स्मृति पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेगी" !! "साकेत की उर्मिला में", प्रोफेसर नगेन्द्र के कथनानुसार, 'प्रयत्न-कलाकार की तूलिका के चिन्ह दिखाई देते हैं' !!

शायद इसीलिए उसे मूर्छित कर देना ही उचित समझा गया ! परन्तु यह दृश्य भी देखने योग्य है। उर्मिला 'निरी मुग्ध' थी। इसीलिए कवि कहते हैं :—

सीता और न बोल सकी
गद्गद् कण्ठ न खोल सकी

इधर उर्मिला मुग्ध निरी
कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी !
लक्ष्मण ने दृग मूँद लिए
सब ने दो-दो बूँद दिए

(किस वस्तु के दो-दो बूँद दिए ? नहीं बतलाया गया)

कौशल्या माता का अल्हड़पन फिर भी पूर्वानुसार चला जाता है !! कविवर आगे लिखते हैं :—

उस मूर्छित बधू का सिर
गोदी में रक्खे अस्थिर
कौशिल्या माता भोली
धाड़ मार कर यों बोली
"देव-वृन्द ! देखो नीचे
मत मारो आँखें मीचे
जाओ, वत्स ! कहा मैंने
जो आ पड़ा सहा मैंने।"

पढ़ते-पढ़ते मस्तिष्क थक जाता है यह पता नहीं चलता कि किसी साहित्य के महाकाव्य का संवाद पढ़ रहे हैं या किसी दूरस्थ ग्राम में ग्रामीणों का अनर्गल संवाद ! "धाड़ मार कर बोली" "आँखें मींचे मत मारो"—यह भाषा राज-प्रासाद में बैठी कौशल्या माता के अनुरूप अवश्य कही जा सकती है !! और धाड़ मार कर बोलने की आवश्यकता ही क्या थी ? शायद साधारण बोली में देव-वृन्द को नहीं सुनाई देता !

(२)

प्रबन्ध काव्य के लिए कथा के मार्मिक स्थलों की पहिचान आवश्यक है। राम बनवास के अनन्तर भरत का अयोध्या में

वापिस आना, रामायण में एक अत्यन्त मार्मिक स्थल है। गोस्वामीजी ने ऐसे ही प्रसंगों का बड़ी सावधानी से वर्णन करके अपने रचना कौशल और प्रबन्ध पटुता का परिचय दिया है। सूनी और उदास अयोध्या को देखकर भरत शत्रुघ्न का दिल धड़कने लगता है और महाराज दशरथ के देहावसान और राम बनवास के सहसा समाचार सुन कर दिल में ऐसा धक्का बैठता है कि उसका वेग उन्हें सँभालना कठिन हो जाता है। जब भरत को यह पता चलता है कि इस सारे अनर्थ के एक मात्र कारण वह स्वयं ही हैं तो उनका हृदय आत्म ग्लानि से और भी भर जाता है।

इस समय की, भरत की दशा का वर्णन करना कोई सुगम कार्य नहीं है और इस अवस्था के वर्णन करने में यदि 'साकेत' के कवि ने वाल्मीकीय रामायण से सहायता ली तो भी कोई अनुचित बात नहीं थी। आदि कवि ने लिखा है कि "धार्मिक कुलीन पवित्र, भरत यह वचन सुन कर पिता के शोक से पीड़ित होकर सहसा भूमि पर गिर पड़े। "हा हतोऽस्मि" ऐसे दुखी और दीन वचन कहते हुए महाबाहु बलवान भरत बाहु पटक कर जमीन पर गिर पड़े। पिता की मृत्यु से दुःखित ऐसे महा-तेजस्वी भरत विलाप करने लगे। उनकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गई थी।"

रामायण के श्लोक ये हैं—

> हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्।
> निपपात महा बाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान्॥
> ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरण दुःखितः।
> विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलित चेतनः॥

यदि इन श्लोकों का ही पद्यानुवाद साकेत में रख दिया जाता तो भी प्रसंगानुकूल भाषा बनी रहती!! परन्तु 'साकेत' के श्रद्धेय कवि को प्रतीत यह हुआ कि जिस प्रकार सीता ही सीता रामायण में दिखाई गई है, उर्मिला छोड़ दी गई है, उसी प्रकार यहाँ भी

आदि कवि ने भरत की ही बात करके शत्रुघ्न को कोरा ही छोड़ दिया! इसी कमी को पूरी करने के लिये वाल्मीकीय रामायण के उपर्युक्त भाव को लेकर 'साकेत' के श्रद्धेय कवि ने लिखा:—

'हा हतोऽस्मि'! हुए भरत हतबोध
"हूँ" कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध
ओठ काटा और पटका पैर
किन्तु लेता वीर किससे बैर?

यदि आदि कवि ने भरत को बाँह इधर उधर पटकते दिखाया तो साकेत के कवि ने शत्रुघ्न को पैर पटकते ही दिखाना उचित समझा!! कुछ मौलिकता तो होनी ही चाहिये! 'साकेत' के उपर्युक्त छन्द पढ़ने पर सहसा यह बोध होता है कि साधु भरत संस्कृत भाषा पढ़े हुए थे इस लिये उन्होंने "हा हतोऽस्मि" तो कह डाला! बेचारे शत्रुघ्न संस्कृत भाषा से ही अनभिज्ञ थे, कुछ कह ही नहीं सके! "हूँ" कहकर, ओठ काट, पैर पटक कर वहीं ठस से रह गये!! संस्कृत पढ़ने का कष्ट स्वयं नहीं उठा सके, तो बेचारे इसके लिये बैर किससे लेते!!

\+ \+ \+

अब भरत-कैकेयी सम्वाद की भाषा का साकेत में एक विशेष स्थान है। कवि लिखता है:—

कैकेयी चिल्ला उठी सोन्माद
सब करें मेरा महा अपवाद
किन्तु उठ ओ भरत, मेरा प्यार
चाहता है एक तेरा प्यार;
राज्य कर, उठ वत्स मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल
दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप,
दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप।

('शक्ति' क्या ? शायद 'अधिकार' से तात्पर्य है !
भरत का उत्तर भी ध्यान देने योग्य है ।)

"दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड
किन्तु वह तो है यहाँ हिमखण्ड ।
चण्डि ! सुनकर ही जिसे सातंक
चुभ उठें सौ बिच्छुओं के डंक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प
है तुषानल तो कमल-दल तल्प

श्रद्धेय कविवर का आशय तो यही है कि भरत अपनी माता से कहते हैं कि हे "चण्डि ! तुमने वह दुष्ट कार्य किया है कि जिसके लिये कैसा ही कठोर दण्ड भी कम ही प्रतीत होगा। "नरकानल का चिरन्तन चण्ड या आतंक के साथ सौ बिच्छुओं के डंक" या, 'तुषानल' यह दण्ड तुम्हारे लिये अपर्याप्त ही प्रतीत होते हैं" !

आशय तो यही है परन्तु कवि की भाषा भावों को व्यक्त नहीं कर रही है। नरकानल का अति प्राचीन ताप किस प्रकार हिमखण्ड बन जायगा ? यह समझ में नहीं आता ! और न यह समझ में आता है कि 'तुषानल' (भूसी, फूस या घास की आग) किस प्रकार कमल दल की सेज (तल्प) बन जायगी ? प्रत्यक्ष है कि शब्द—'हिमखण्ड' एवं 'तल्प' केवल पादपूर्ति के लिये लाये गए हैं और कविवर ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि कहीं अर्थ का अनर्थ तो नहीं हो रहा है।

इस सम्वाद की भाषा पढ़ कर एक सज्जन ने लिखाः—

देख भाषा चण्ड औ उद्दण्ड
देख अर्थ अनर्थ अति बरिबंड

'हा हतोऽस्मि', विलोक "हूँ" सकोच
कहे आलोचक हुए हतबोध !!
"क्या यही है पाठकों को दण्ड ?
या यही साकेत का हिमखण्ड ?
सुप्त हो, जिस पर, समझकर तल्प
कर रहा नवकाव्य कायाकल्प !!"

(२)

प्राचीन महाकाव्यों में रूप-वर्णन की परिपाटी पाई जाती है। सीताराम और राधाकृष्ण के रूप वर्णन में ही सैकड़ों सुन्दर सरस छन्द लिखे गए हैं। गोस्वामीजी ने तो सीता और राम के रूप वर्णन में बड़ी अच्छी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। उनकी-सी व्यवस्थित भाषा तो दूसरे कवि में मिलना ही कठिन है। साथ-साथ अलंकार योजना भी देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

'पलासी के युद्ध' में रूप-वर्णन की गुंजायश कम थी। परन्तु कवि ने बड़े कौशल से ब्रिटिश राज्य-लक्ष्मी को वहाँ लाकर उसका रूप वर्णन करके प्राचीन परिपाटी निभाई है। क्लाइव का चित्त युद्ध के फल की आशंका से अशान्त हो रहा है। उस समय ब्रिटिश राज्य-लक्ष्मी आकाश से उतर कर उसे सान्त्वना देने आती है। इस रूप वर्णन की भाषा भी सुगठित और व्यवस्थित है। कवि ने लिखा है :—

फैला शत शत सूर्य
तेज-सा नभमंडल में,
उतरी एक प्रकाश—
राशि-सी पृथ्वी तल में,
क्लाइव-मन में विविध
भाव विस्मय के जागे,

देखी ज्योतिर्मयी एक
रमणी - मणि आगे !
युवती की तनुकांति
शुभ्र थी, नील नयन थे
अरुण अधर स्वर्गीय
रागमय अमृत अयन थे

+ + +

ब्रिटिश - सुन्दरी - सदृश
वेश - भूषा - सज्जित थी
किन्तु सर्वथा दिव्य
दीप्ति में विनिमज्जित थी
अर्ध अनावृत पीन—
पयोधर - युग्म पूर्ण था
गलता था हिम हृदय
देखके, स्फटिक चूर्ण था

दिखा रहा था वह
सुविमल युवती का अन्तर,
चिर प्रसन्नता पूर्ण
प्रीति पयोधि निरन्तर
वदन - चन्द्र की अरे !
कहाँ से दूँ मैं उपमा
देता, यदि देखता स्वर्ग
शारद - शशि सुषमा !

विश्व - मोहिनी - छटा,
वसन्त - श्री - विहारिणी
कमल-नेत्र, पिक-कंठ,
मलय निश्वास धारिणी

शत - शत संख्यक
'कोहनूर' की प्रभा पाट कर
दमक रहा था दिव्य
रत्न उन्नत ललाट पर।

अत्यन्त सशक्त, सुगठित, स्वच्छ भाषा और सुन्दर शब्द योजना का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इसको पढ़ने के बाद साकेत के सीता रूप वर्णन को पढ़ते हैं तो भाषा-शैथिल्य पर अकस्मात दृष्टि जाती है। कविवर का निम्न लिखित ध्यान देने योग्य है:—

मूर्तिमती ममता माया,
कौशल्या कोमल काया।
थीं अतिशय आनन्द युता,
पास खड़ी थीं जनकसुता।
गोट जड़ाऊँ घूँघट की
बिजली जलदोपम पट की
परिधि बनी थी विधु-मुख की
सीमा थी सुषमा-सुख की
भाव सुरभि का सदन अहा!
अमल कमल का वदन अहा!
अधर छबीले छदन अहा!
कुन्द-कली से रदन अहा!
साँप खिलाती थीं अलकें
मधुप पालती थीं पलकें
और कपोलों की झलकें
उठती थीं छबिकी छलकें
गोल गोल गोरी बाँहें
दो आँखों की दो राहें

पढ़ने पर प्रतीत होता है कि उत्सुकता से कोई छोटा बच्चा बार बार घूँघट उठा उठाकर सीता देवी का चेहरा देख देख कहता जा रहा है कि "अहो! यह तो भाव-सुरभि का सदन भी है"! अहो! "यह तो कमल सा चेहरा भी है!" "अहा! इनके ओठ भी छबीले हैं।" "अहा! इनके दाँत भी कुन्द कली से हैं।" अरे देखो तो इनकी अलकें साँप भी खिलाती हैं और पलकें (?) भौंरों को भी पालती हैं!" "इनकी बाहें गोल मटोल गोरी हैं और दोनों आँखें भी अलग-अलग दो राहों पर चल रही हैं!! 'एक उत्तर की तरफ देख रही है' दूसरी दक्षिण की तरफ!!

न जाने कितना बाँकापन, तिरछापन या टेढ़ापन होगा!

सीता का ही नहीं भगवान् राम की भी "कनौखी और "अनौखी अँखियों" का वर्णन है यथा:—

तनिक कनौखी अँखियों से
अजब अनोखी अँखियों से
प्रभु ने उधर दृष्टि डाली
ढील पड़ी दृढ़ हृदयाली

उर्मिला के रूप वर्णन की अजीब भाषा भी ध्यान देने योग्य है। कहते हैं:—

जल से तट है सटा पड़ा
तट के ऊपर अटा खड़ा
खिड़की पर उर्मिला खड़ी
मुँह छोटा अँखियाँ बड़ी बड़ी!
तब बोल उठी वियोगिनी
जिसके सम्मुख तुच्छ योगिनी!
"तम फूट पड़ा, नहीं अटा
यह ब्रह्माण्ड फटा फटा फटा!!

जैसा उर्मिला का रूप वर्णन किया है वैसा ही उर्मिला का भाषण भी है !! भाषा-सौष्ठव फटा फटा-सा हो रहा है !!

और महाराज दशरथ के देहावसान के समय कौशल्या और सुमित्रा तो बिल्कुल "हथिनियाँ" बतायी गई हैं !! शोकाकुल महाराज दशरथ की अवस्था का वर्णन करते लिखते हैं:—

गजराज पंक में धँसा हुआ
छटपट करता था फँसा हुआ
हथिनियाँ पास चिल्लाती थीं
वे विवश विकल बिल्लाती थीं

यहाँ "उपमा" हाथ जोड़कर शायद 'चिंघाड़' रही है !! न जाने रानियों को कौन सी चक्की का पिसा आटा मिलता था जो इतनी अधिक मोटी हो हो कर हथिनियाँ बन गई थीं !

(४)

दृश्यों की स्थानगत विशेषता 'साकेत' और 'पलासी के युद्ध' दोनों में ही अच्छी है। प्राकृत दृश्यों का भी वर्णन दोनों में ही रोचक रहा है।

'पलासी के युद्ध' में गंगा नदी का निम्न-लिखित वर्णन कितना रोचक है !

हेमघनों से घटित गगन हँसता है ऊपर
क्रीड़ापूर्वक नाच रही है गंगा भू पर
कल तरंगिणी चूम रही है मन्द पवन को
तरल कनक-सा सलिल मोह लेता है मन को
शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में

\+ \+ \+

वह शोभा का दृश्य दूर से क्या कहना! है
जवाकुसुम का हार जन्हुजा ने पहना है

'साकेत' में भी गंगा का अच्छा वर्णन है:—
यथा—

गोरस धारा-सदृश गोमती पार कर
पहुँचे गंगा तीर धीर धृति धार कर
यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी
स्वर्ग-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर पड़ी
सह न सकी भवताप, अचानक गल गई
हिम होकर भी द्रवित रही, कल जल मई

नीचे के दो चरणों को और 'धीर धृति को' छोड़ कर भाषा काफी रोचक है। यहाँ तक ठीक ही था। किन्तु निषाद फौरन ही आ जाते हैं और भगवान राम उनसे मिलने को उठते हैं तो निषाद के मुँह से कहलवाया जाता है कि "आप बैठे ही रहिये उठिए नहीं"। यहाँ भाषा निराली है, यथा:—

"रहिए रहिए उचित नहीं उत्थान यह
देते हैं श्रीमान किसे बहु मान यह"

यहाँ शब्द 'उत्थान' ने रोचकता रोक कर सहसा भाषा का 'पतन' दिखा दिया है !! जिस प्रकार अभी हाल में महायुद्ध में किसी राष्ट्र का उत्थान और दूसरे का 'पतन हुआ, उसी प्रकार यहाँ भी 'राम का उत्थान' और भाषा का पतन' एक साथ दिखाई पड़ता है !! साकेत में भाषा जहाँ रोचक होती है वहीं कुछ न कुछ भद्दे प्रयोग आ जाते हैं !!

(५)

ऊपर के कुछ अवतरणों से यह स्पष्ट है कि जहाँ "पलासी के युद्ध" की भाषा अत्यन्त व्यवस्थित एवं सुगठित है—'साकेत' के

कई महत्वपूर्ण सर्गों की भाषा अत्यन्त शिथिल एवं कृत्रिम बन गई है। प्रथम सर्ग में ही 'पलासी के युद्ध' में ग्रन्थ के महत्व एवं उसकी शक्तिशाली भाषा का आभास मिल जाता है। परन्तु 'साकेत' के पाँचवें सर्ग के पहिले रोचकता का आभास नहीं मिल पाता। पाँचवें, एवं आठवें सर्ग की भाषा में पहले-पहल सजीवता मिल पाती है। नवम सर्ग की शैली ही दूसरी है। इसमें कई शैलियाँ भी मिल जाती हैं। 'साकेत' के कुछ अत्यन्त सरस एवं मधुर गीत एवं मधुर पद इस सर्ग में मिल जाते हैं। साथ-साथ कुछ शुष्क एवं अत्यन्त नीरस पद भी यत्र-तत्र इस सर्ग की शोभा बिगाड़ रहे हैं। दशम सर्ग का छन्द ही अनुपयुक्त चुना गया है। यह अज-विलाप का प्रसिद्ध 'वियोगिनी' छन्द है जो गुप्तजी की शैली के उपयुक्त हो नहीं सकता। एकादश में 'वीर' छन्द एवं द्वादश में 'रौला' का प्रधान्य है और 'गीतिका' तथा 'हरिगीतिका' के सिद्ध-हस्त गुप्तजी सब से अधिक सफल इन्हीं दोनों सर्गों में रहे हैं। 'साकेत' में पंचम, अष्टम नवम, एकादश एवं द्वादश सर्ग की भाषा सबल है, रोचक भी है। परन्तु इन पाँच सर्गों के बाहर रोचकता या सजीवता के दर्शन दुर्लभ हैं।

प्रत्येक कवि की अपनी निजी शैली होती है जिसके लिए विशेष छन्द ही उपयुक्त हुआ करते हैं। बिहारी का 'दोहा', रहीम का 'बरवै', तुलसी की 'चौपाई', देव के कवित्त और रसखान के सवैये प्रत्येक कवि सफलता से प्रयोग में नहीं ला सकते। श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के लिए एक बड़े छन्द की आवश्यकता हुआ करती है; और हिन्दी-साहित्य का यह दुर्भाग्य था कि 'साकेत' का प्रारम्भ एक अत्यन्त छोटे छन्द "पीयूष-वर्णन" से किया गया।

बताया जाता है कि लक्ष्मण-उर्मिला के प्रणय-परिहास से ग्रन्थारम्भ करना था, इसीलिए 'पीयूष वर्णन' छन्द चुना गया था। संभव है यह सही हो; परन्तु श्रद्धेयक विचर में वह भावुकता नहीं है—जो प्रणय-परिहास में सहायता दे सकती। शिष्ट-मर्यादा की

ओर लक्ष्य रखते हुये शृङ्गार रस का व्यञ्जक वर्णन करना, उनकी शैली को दृष्टि में रख कर, कठिन ही प्रतीत होता है। इसीलिए 'पीयूष वर्णन' छन्द के द्वारा प्रणय-परिहास वर्णन में भी वे सफल नहीं हो पाये।

लक्ष्मण जिस परिहास को प्रारम्भ करते हैं उसमें न तो वास्तविक प्रणय का ही आभास मिलता है और न परिहास ही मिल पाता है। उर्मिला के बनाये चित्र को देख कर लक्ष्मण से कहलवाया गया है:—

मंजरी-सी, अंगुलियों में यह कला
देख कर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला?
क्यों न अब मैं मत्त गज सा झूम लूँ?
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करना एक बात है और कला देखकर सुध-बुध भूल जाना दूसरी बात है। जहाँ आत्म-विस्मृति हो गई वहाँ यह कहना कि मैं आत्मविस्मृत हूँ असंगत एवं असंभव है। आत्म-विस्मृत होकर हाथी की तरह झूम लेना अस्वाभाविक है, और मस्त हाथी की तरह झूमते रह कर कर-कमल का चूमना और भी असंगत है। तन्मयता का अभाव एवं बाहरी टीप-टाप, छन्द की भाषा से अलग दिखाई पड़ते हैं।

इस छंद के अनन्तर भी न प्रणय है, न परिहास है, न हाजिर जवाबी ही। लिखते हैं:—

हँस पड़े सौमित्र भावों से भरे
उर्मिला का वाक्य था केवल "अरे"
"रङ्ग घट में हो गया, देखा, रहो
तुम चिबुक धरने चली थीं क्यों न हो?
उर्मिला भी कुछ लजाकर हँस पड़ी
वह हँसी थी मोतियों की सी लड़ी।"

उर्मिला जब चित्र बनाते बनाते 'चिबुक' रचना कर रही थी, लेखनी से (या तूलिका से) पीत रंग घट में सहसा गिर गया। लक्ष्मण देखकर हँस पड़े और उर्मिला के मुँह से सहसा एक वाक्य निकल पड़ा। प्रणय-परिहास पूरा करने के लिए इसी छंद के बाद लिखा गया:—

"बन पड़ी है आज तो !" उसने कहा
क्या करूँ बस में न मेरा मन रहा
हार कर तुम क्या मुझे देते कहो ?
मैं वही हूँ किन्तु कुछ का कुछ न हो
हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले, "एक परिरम्भन प्रिये
सिमिटसी सहसा गई 'प्रिय की प्रिया'
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया
आपही फिर प्राप्य अपना ले लिया !"

यह सब महान् व्यक्ति का चरित्र चित्रण स्वाभाविक ही प्रतीत होता है !! 'सिमिट कर सहसा अपांग देना' अवश्य ही "माडर्न एक्टिंग" है !! कुछ का कुछ न हो' 'प्रिय की प्रिया' घाते में लिया' भाषा में माधुर्य की प्रचुरता के उदाहरण हैं !! और अच्छी बात तो कविवर ने यह बताई कि "आप ही अपना प्राप्य ले लिया"; कहीं अपना प्राप्य दूसरे के मारफत लेते तो खटाई में पड़ गये होते !

खैर; चतुर्थ सर्ग का छंद और भी छोटा है। चौदह मात्रा का मानव [या हाकलि] छंद न तो श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के उपयुक्त था और न गार्हस्थ्य चित्रों के अंकन के योग्य ही था। इस छंद में लिखे हुए ये चरण:—

"प्रभु की वाणी कट न सकी
युक्ति एक भी अट न सकी"

भाषा दोषों के प्रसिद्ध उदाहरण बन चुके हैं। "वाणी का कटना" और "युक्ति का अटना" कैसा होता है ? एक सज्जन ने छंद के इन चरणों को देख कर लिखा:—

"भाषा भी कट-छट न सकी
दौड़ धूप में डट न सकी
भावों में वह सट न सकी
राम नाम भी रट न सकी !!!"

चतुर्थ सर्ग में न जाने कितने भाषा दोष भरे हैं। भाषा शैथिल्य एवं ग्राम्य-दोष से दूषित पंक्तियों ने 'साकेत' का मूल्य बहुत कम कर दिया है। हम यह नहीं कहते कि 'साकेत' में गुण नहीं हैं। श्रद्धेय गुप्तजी प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। वर्णन करने में भी वे अत्यन्त क्षमताशाली हैं। 'पलासी के युद्ध' एवं 'साकेत' में दोनों में कहीं-कहीं अत्यन्त ललित पदावली मिलती है। कहीं-कहीं दोनों में हृदय-हारिणी भाषा एवं सरस कविता बही है। परन्तु जहाँ 'पलासी के युद्ध' में ओजस्विनी कविता के मोह-मंत्र से मुग्ध होकर भाषा—दोष देखने का अवकाश ही नहीं रहता; वहाँ, साकेत के अत्यन्त छोटे छंदों की मन्थर गति के नीरस वातावरण में भाषा-दोषों के साथ-साथ प्रबन्धात्मक शैली का अभाव भी बुरी तरह से खटकता है। यदि 'साकेत' के प्रथम सर्ग का छंद भी वही रहता जो 'पलासी के युद्ध' के प्रथम सर्ग का छन्द है तो वह श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के अनुरूप होता और 'साकेत' एक सुन्दर रूप में हो आता। 'साकेत' के प्रथम चार सर्ग यदि फिर से लिखे जायँ तो अवश्य ही, 'साकेत' एक अमर रचना बन जायगी।

श्री हरिऔधजी का प्रिय-प्रवास

(१)

वर्णिक वृत्तों में संस्कृतमय भाषा का होना अनिवार्य है। वर्णिक वृत्तों एवं संस्कृतमय भाषा में पद लालित्य अपने आप आ जाता है। इसलिए "प्रियप्रवास" का अधिकांश भाग कोमलता और अतिमधुरता से भरा पड़ा है। श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी जी का यह कहना सही नहीं है कि "प्रिय-प्रवास" में संस्कृत के वर्णिक वृत्त अपनी राह से भटक गये हैं और अरण्य-रोदन कर रहे हैं।

फिर भी कहीं-कहीं यह अवश्य प्रतीत होता है कि कुछ हिन्दी के शब्द "प्रिय-प्रवास" के वर्णिक वृत्तों में कृत्रिमता की झलक दिखाकर भूल भुलैयों में भटकते रहे हैं।

एक स्थान पर लिखा है:—

स-बलराम स-बालक मंडली
विहरते बहु मंदिर में रहे
विचरते हरि थे अकेले कभी
रुचिर वस्त्र विभूषण से सजे।

यहाँ अर्थ तो यह है कि कृष्ण भगवान अपने भाई बलराम और बालक मंडली के साथ कई स्थानों में बिहार कर रहे थे।

परन्तु पढ़ने पर प्रतीत यह होता है कि श्रद्धेय कविवर बतला रहे हैं कि एक 'सबल-राम' थे जो बालक मंडली के साथ कई स्थानों में बिहार करते रहते थे, किन्तु इनको छोड़ कर हरि कभी-कभी अकेले भी विचर जाते थे, क्योंकि, भगवान अच्छे वस्त्र और आभूषणों से सजे थे जो शायद 'सबल-राम' के पास नहीं थे।

वास्तव में यहाँ "स" की मिट्टी खराब हुई है। वर्णवृत्त छन्दों में लघु गुरु नियम पालन करने के लिए 'स' को बराबर लाना अनिवार्य रहा होगा। इसीलिए "प्रिय-प्रवास" में मौके बे मौके 'स' की भरमार दिखाई पड़ती है। एक अन्य स्थान पर लिखा है :-

सलिल प्लावन से अब ये बचे
लघु बड़े, बहु उन्नत पंथ जो
सब उन्हीं पर हो स-सतर्कता
गमन ये करते गिरि अंक में

यहाँ पर 'सतर्क' लिखने के स्थान में "स-सतर्कता" शब्द लाया गया, जो अनावश्यक ही नहीं अशुद्ध भी है।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर लिखा है :—

इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया
सशंकता त्याग अशंक चित्त से।

"शंका" त्याग करके ही 'निश्चित' किया जाता है। शंकित चित्त से कैसे निश्चित हो सकता है? 'निश्चित' शब्द में ही "शंका का त्याग" और "अशंक चित्त' का भाव निहित है।

वर्णवृत्त छन्दों में लघु गुरु के नियम बहुत ही कठिन हैं। "प्रिय-प्रवास" में इन नियमों का पालन बड़ी खूबी से अधिकांश में किया गया है। इतने बड़े ग्रन्थ में इस पर भी यदि कहीं-कहीं शब्द तोड़े मरोड़े गये हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। एक स्थान में "सेवा" को "सेवना" करना पड़ा तो दूसरी जगह 'चिन्ता' को 'चिन्तना' भी करना पड़ा।

जो वे होतीं परम व्यथिता
मूर्च्छिता या विपन्ना
तो वे आठों पहर उनकी
सेवना में बिताती

'सेवा 'संज्ञा है, 'सेवना' क्रिया अकर्मक है। दोनों में भेद है।

इसी प्रकार—

कैसे भला स्वहित कर चिन्तनाएँ
कोई मुकुन्द हित ओर न दृष्टि देगा

'चिन्ता' में फिक्र और खटके के साथ सोच विचार का भाव होता है। 'चिन्तना' में चिन्तन करना, ध्यान करना और अभ्यास करने का भाव निहित है। दोनों में भेद है। चिन्तना में फिक्र नहीं होती।

इसी प्रकार 'अकेले' को 'अकले' और 'इकट्ठे' को 'इकठे' करना पड़ा। यथा—

मेरी बातें श्रवण करके
आप जो पूछ बैठे
कैसे प्यारे कुँअर अकले
व्याहते सैकड़ों को

× × ×

सब पड़ोस कहीं समवेत था
सदन के सब थे इकठे कहीं

वर्णवृत्त छन्दों में बहुत से शब्द कहीं भी प्रयुक्त ही नहीं हो सकते। इसीलिए "प्रिय-प्रवास" में "अस्त व्यस्त" का बहिष्कार किया जाना प्रतीत होता है। इसके स्थान में 'शश व्यस्त' या 'व्यस्त समस्त' प्रयुक्त किया गया है जिसके कारण कहीं-कहीं छन्द ही अस्त व्यस्त हो गया है। यथा—

मुकुन्द की शान्ति हुई विदूरता
समंडली वे शश व्यस्त हो गए

और भी—

अपार कोलाहल ग्राम में मचा
विषाद फैला ब्रज सद्म-सद्म में
ब्रजेश हो व्यस्त समस्त दौड़ते
खड़े हुए आकर उक्त कुंड पै

ऐसा ही आगे लिखा है—

हुए कई मूर्छित घोर त्रास से
कई भगे, भूतल में गिरे कई,
हुई यशोदा अति ही प्रकम्पिता
ब्रजेश भी व्यस्त समस्त हो गए

× × ×

तदपि था पड़ता जल पूर्व सा
इसलिए अति व्याकुलता बढ़ी
विपुल लोक गए ब्रज भूप के
निकट व्यस्त समस्त अधीर हो

ऊपर के उदाहरण केवल इस बात के हैं कि वर्णवृत छन्दों में कई शब्द ठीक ठीक नहीं बैठाले जा सकते। जो दूसरे शब्द लाए गए उन्होंने भाव ही बदल दिए। परन्तु कई शब्द अत्यन्त सुगम होते हुए भी ठीक ठीक प्रयुक्त नहीं हो पाए हैं।

पंचम सर्ग का एक मन्दाक्रान्ता छन्द देखिए, लिखते हैं :—

रोता-धोता, विकल बनता,
एक आभीर बूढ़ा ;
दीनों के से वचन कहता,
पास अक्रूर के आ।
बोला कोई जतन जन को
आप ऐसा बतावें,

मेरे प्यारे कुंवर मुझसे
आज न्यारे न होवें ॥

"बनता" ध्यान देने योग्य है। शब्द अत्यंत सुगम है। कोई दाँव पेच का शब्द नहीं है। परन्तु फिर भी ठीक ठीक प्रयुक्त नहीं हुआ। ऐसा मालूम होता है कि बूढ़ा आभीर स्वतः दुखमग्न नहीं था, केवल दूसरों को दिखाने के लिए उसे "बिकल" बनना पड़ा।

"बनता" शब्द ने तन्मयता कम करके बुरी कृत्रिमता का बुरा प्रदर्शन किया है। हमारी राय में जहाँ-जहाँ 'बनता' 'शब्द' 'प्रिय-प्रवास', में आया है वहीं कृत्रिमता ने काव्य का आनन्द समाप्त कर दिया है।

चतुर्थ सर्ग का एक शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है :—

नयन से बरसाकर वारि को
बन गईं पहले बहु बावली
निज सखी ललिता मुख देख के
दुख कथा फिर यों कहने लगी

पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि राधा को किंचित भी दुःख नहीं था। परन्तु अपनी सखी ललिता का मुख देखकर वे नाहक बावली बन गईं! आँखों में आँसू भी नहीं आ रहे थे परन्तु ललिता का दुख देखकर, केवल शिष्टाचार के नाते, जबरदस्ती उन्हें आँसू बहाने पड़े!! आँसू बहाकर, उन्होंने बहुत बड़ी बावली का स्वांग दिखाया और फिर दुःख कथा कहने लगीं।

एकादश सर्ग का एक वंशस्थ छन्द है :—

कालिन्दजा की कमनीय धार जो
प्रवाहिता है भवदीय सामने
उसे बनाता पहिले विषाक्त था
विनाशकारी विष कालिनाग का

'भवदीय सामने', में कुछ विचित्र प्रयोग तो है ही, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यह लिखने का तात्पर्य क्या है कि कालि-नाग का विष पहिले धार को विपाक्त बनाता था। यह कहीं भी लिखने की कृपा नहीं की कि बाद में क्या होता था।

अब प्रथम सर्ग के एक द्रुतविलंबित छन्द में "बनी हुई" और बनती की बानगी देखिए :—

विविध भाव विमुग्ध बना हुई
मुदित थी बहु दर्शक मण्डली।
अति मनोहर थी बनती कभी
बज किसी कटि की कल किंकणी॥

अर्थ यह होता है कि दर्शक मंडली बहुत प्रसन्न थी क्योंकि वह नाना भावों से विमुग्ध बनी हुई थी। अनावश्यक होते हुए भी "बनी" शब्द लाया गया है। और कभी कभी किसी की कमर से करधनी बज कर अति मनोहर "बनती" थी। शायद जबरदस्ती बजाई जा रही थी। एक दूसरा छन्द देखिए। लिखते हैं :—

घड़े लिए कामिनियाँ, कुमारियाँ
अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता।
पधारती जो जल ले स्वगेह थीं
बजा बजा के निज नूपुरादि को॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कामिनियों, कुमारियों के चलने में नूपुर आदि के बजने की आवाज अपने आप नहीं आती थी, लेकिन वे सब जान बूझकर अपने नूपुर आदि को बजा रही थीं।

एक और छन्द है :—

तथा किसी ने जल से भरा घड़ा
उसे किसी ने सिर से गिरा दिया

अनेक दौड़ीं सुधि गात की गवा
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने

कवि का तात्पर्य तो यह है कि श्याम के आने की खबर सुनते ही सारी गोपियाँ सुधि बुधि भूलकर उन्हें देखने को दौड़ीं और उस एकाएक दौड़ने में किसी के सिर से घड़ा भी गिर गया। मगर छन्द में तन्मयता का आभास नहीं आ पाया। शब्दों में कृत्रिमता की झलक है। दूसरी पंक्ति पढ़ने से ज्ञात होता है कि किसी गोपी ने जानबूझकर अपने सिर से घड़ा गिरा दिया।

काव्य को कृत्रिम दिखाने के ये प्रयोग बचाए जा सकते थे परन्तु श्रद्धेय कविवर का ध्यान इधर किंचित भी नहीं गया।

(२)

'पल्लव' में 'छाया' के लिए पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा था :—

कौन-कौन तुम पर हित वसना
मलिन मना भू पतिता सी

"भू पतिता" शब्द पर कई समालोचकों ने शंका प्रकट की थी। "पतित" विशेषण है और हिन्दी भाषा में इसका अर्थ "अपने धर्म से गिरा हुआ" 'पापी', 'दुष्ट', 'अधर्मी' इत्यादि होता है।

हम पतित, तुम पतित पावन
दोऊ बानिक बने।

एक प्रसिद्ध पद के ये शब्द किसकी स्मृति में गहरी छाप न लगाए होंगे ?

संस्कृत भाषा में 'पत्' धातु परस्मैपद है जिसका अर्थ 'गिरना' 'नीचे आना' है। इस प्रकार 'छाया' के लिए संस्कृत भाषा या हिन्दी भाषा दोनों में 'भू पतित' शब्द में गौरवान्वित पद से नीचे

गिरने का भाव निहित है। 'छाया', विशेषकर पन्तजी की 'छाया'– स्वर्ग से भूमि पर गिरी बताई गई है। इसलिए 'भू पतित' का भाव ठीक ही है। परन्तु हिन्दी भाषा एक स्वतंत्र भाषा है। संस्कृत की ऋणी होते हुए भी वह आज संस्कृत भाषा का आधार छोड़ चुकी है। संस्कृत में एक शब्द शुद्ध होते हुए भी हिन्दी में अशुद्ध हो सकता है। 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि आज हिन्दी भाषा में 'कुएँ' में गिरने के लिए कोई यह नहीं कहेगा कि "उसका कुएँ में पतन हो गया" या "वह कुएँ में पतित है।"

यह देखकर खेद होता है कि स्थान-स्थान पर 'पतित' और 'पात' का प्रयोग 'प्रिय-प्रवास' में साधारण रूप से 'गिरने' के अर्थ में ही किया गया है जो अशुद्ध ही नहीं अत्यन्त हास्यास्पद हो गया है। जैसा ऊपर लिखा है—'पतित' में 'पातकी' 'पापी' या 'धर्मच्युत' का भाव रहता है, परन्तु श्रद्धेय कविवर का साहस तो देखिए कि उन्होंने भगवान की कृपामयी दृष्टि को भी 'पतित' बना डाला है! लिखते हैं :—

यदि कभी प्रभु दृष्टि कृपामयी
पतित हो सकती महि मध्य हो
इस घड़ी उसकी अधिकारिणी
मुझ अभागिनि तुल्य न अन्य है।

इसी प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी के भूमि पर छिटकने के लिए लिखते हैं :—

राका स्वामी सरस सुख की
दिव्य न्यारी कलाएँ
धीरे धीरे पतित जब थी
स्निग्धता साथ होती।

रथ से उड़ती हुई धूलि को देखकर एक बाला से कहलाया गया है :—

आ आ, आके लग हृदय से
लोचनों में समा जा
मेरे अंगों पर पतित हो
बात मेरी बना जा।

पहाड़ के झरनों की उठती और गिरती फुहारों के लिए कहा गया है :—

जो छींटे उड़ती अनन्त पथ में
थी दृष्टि को मोहती
शोभा थी अति ही अपूर्व
उनके, उत्थान की, पात की।

वृक्ष के पत्तों के धीरे से गिरने पर लिखते हैं :—

सकल पादप नीरव थे खड़े
हिल नहीं सकता इक पत्र था
च्युत हुए पर भी वह मौन ही
पतित था अवनी पर हो रहा

यह अवनी पर 'पतित' हो रहा है या भाषा का 'पतन' हो रहा है?

क्या तू भी है रुदन करती
यामिनी मध्य यों ही
जो पत्तों में पतित इतनी
वारि की बूँदियाँ है।

यहाँ 'पत्तों में पतित' और 'वारि की बूँदियाँ' दोनों ही दर्शनीय हैं।

एक और द्रुतविलम्बित छन्द को देख कर हम "पतित" का प्रसंग समाप्त करते हैं। लिखा है;

व्रजधरा इक बार इन्हीं दिनों
　　पतित थी दुख वारिधि से हुई
पर उसे अवलम्बन था मिला
　　व्रज विभूषण के भुज पोत का

जिस "प्रिय-प्रवास" की नवीन शैली और माधुर्य का हिन्दी साहित्य को गर्व होना चाहिये उसी 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कविवर की काव्य-प्रतिभा एक 'पतित' शब्द के हास्यास्पद प्रयोगों ने न जाने कितनी कम करदी है। एक सज्जन ने इन प्रयोगों को देख कर लिखा था:—

"प्रियप्रवास" लिखा, लिख के पढ़ा,
　　पतित थे दुख वारिधि में हुए
पर रही सुधि ये कवि को नहीं
　　'पतित' से कविता पतिता हुई।

(३)

'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली के कारण काव्य में दो दुर्विशेषताएँ आई बताई गई हैं:—

(१) क्लिष्ट शब्दावली एवं (२) संश्लिष्ट पदावली; और इसीलिए कई समालोचकों ने लिखा है कि 'प्रिय-प्रवास' में प्रायः प्रसादगुण का अभाव ही दीख पड़ता है। भाषा न तो सरल है और न बोधगम्य।

चतुर्थ सर्ग के निम्नलिखित दो शार्दूल विक्रीडित छन्दों को उद्धृत करके समालोचकों ने क्लिष्ट शब्दावली एवं संश्लिष्ट पदावली पर ध्यान दिलाया है। ये छन्द राधा की प्रशंसा में लिखे गये है। लिखा है:—

नाना भाव-विभाव-हाव-कुशला
आमोद आपूरिता ।
लीला-लोल कटाक्ष-पात निपुणा
भ्रू-भंगिमा पंडिता ॥
वादित्रादि - समोद - वादन - परा
आभूषणा भूषिता ।
राधा थीं सुमुखी विशाल नयना
आनन्द आन्दोलिता ।
सद्वस्त्रा - सदलंकृता गुणयुता
सर्वत्र सम्मानिता ।
रोगी वृद्ध जनोपकार निरता
सच्छास्त्र चिन्ता परा ।
सद्भावातिरता अनन्य हृदया
सत्प्रेम सन्तोषिका ।
राधा थीं सुमना प्रसन्न वदना
स्त्री जाति रत्नोपमा ॥

एक विद्वान् लेखक ने इन दोनों छन्दों को, सुनाते हुये एक बार कहा था कि 'जनाब' एक "थीं" को किसी थैली में बन्द कर दीजियेगा—फिर किस की मजाल जो इसे संस्कृत भाषा न बतलावे ?

इस आक्षेप में कुछ तथ्य मानते हुए भी, दो बातें ध्यान देने योग्य हैं ? पहली यह कि, क्लिष्ट शब्दावली होते हुए भी इन दोनों छन्दों में भाषा-माधुर्य या भाषा-प्रवाह में कोई कमी नहीं हो पाई। दूसरी बात यह कि, 'प्रिय-प्रवास' में ऐसे संश्लिष्ट पदावली के कुल छन्द दस-बीस से अधिक नहीं होंगे। ऊपर लिखित छन्दों की भाषा कभी भी 'प्रिय-प्रवास' की भाषा की प्रतिनिधि नहीं बताई जा सकती।

हमने 'प्रिय-प्रवास' पचीसों बार पढ़ा होगा, परन्तु जितना

पढ़ा उतनी ही बार हमारा यह विचार और भी दृढ़ होता गया कि जहाँ-जहाँ संस्कृत-गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली शुद्ध रूप में है वहीं 'प्रिय-प्रवास' में श्रुतिमधुरता एवं संगीतमयता अधिक बढ़ गई है और वहीं 'प्रिय-प्रवास' को पढ़ने में अत्यधिक आनन्द आता है। संस्कृत-गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली का एकदम त्याग कर देने पर "वैदेही-वनवास" नीरस एवं शुष्क हो गया है। 'प्रिय-प्रवास' के मुकाबले में, "वैदेही-वनवास" का मूल्य कुछ भी नहीं है। उसकी भाषा ढीली-ढाली और कहीं-कहीं बहुत ही लचर हो गई है। संस्कृत-गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली, वास्तव में 'प्रिय-प्रवास' के भूषण हैं—दूषण नहीं।

कवि और लेखक की अपनी निजी शैली होती है, कोई क्लिष्ट भाषा को अपनाता है, कोई सरल भाषा को। आलोचक को तो केवल यही देखना होता है कि कवि या लेखक ने अपनी रुचि के अनुसार जैसी भाषा अपनाई है, उसमें कृत्रिमता तो नहीं आगई ? पूरे काव्य में वह भाव को ठीक-ठीक व्यक्त करने में असफल तो नहीं हुआ ? और भाषा एवं भावों का सामंजस्य ठीक-ठीक बना रहा या नहीं ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कविवर इस कसौटी पर अधिकतर खरे ही उतरे हैं। संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा दोनों पर उनका समान अधिकार प्रतीत होता है। जहाँ सरल शुद्ध हिन्दी भाषा ही प्रयुक्त हुई है वहाँ भी 'प्रिय-प्रवास' में श्रुतिमधुरता बनी रही है। एक उदाहरण लीजिये:—

धारा वही, जल वही, यमुना वही है
है कुञ्ज वैभव वही, वन भू वही है
है पुष्प पल्लव वही, ब्रज भी वही है
ए हैं वही, न घनश्याम बिना जनाते

एक दूसरा उदाहरण देखिए :—

कुवलय कुल में से तो
अभी तू कढ़ा है
बहु-विकसित प्यारे - पुष्प
में भी रमा है
अलि अब मत जा तू
कुंज में मालती को
सुन मुझ अकुलाती
ऊबती की व्यथाएँ
यह समझ प्रसूनों पास
मैं आज आई
क्षिति - तल पर है ए
मूर्ति उत्फुल्लता की
पर सुखित करेंगे ए मुझे
आह कैसे
जब विविध दुखों में मग्न
होते स्वयं हैं !!

यदि शुद्ध संस्कृत भाषा अथवा शुद्ध हिन्दी भाषा में ही सारा महाकाव्य लिखा गया होता तो 'प्रिय-प्रवास' आधुनिक भाषा का गौरव ग्रंथ एवं हिन्दी काव्य का आदर्श ग्रन्थ हो गया होता। किन्तु श्रद्धेय कविवर को यह धुन समाई कि हिन्दी को जबरदस्ती संस्कृत के ढाँचे में ढाल दिया जाय और संस्कृत भाषा को हिन्दी बना दिया जाय। इन दोनों प्रयत्नों के असफल होने में तो आश्चर्य क्या हो सकता है ? अवश्य, इस पर खेद होता है कि एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ को, इन प्रयत्नों ने, स्थान-स्थान पर नीरस एवं कृत्रिम बना डाला है !! हम इसके कई उदाहरण इसी लेख के पहिले भाग में दे चुके हैं यहाँ अब दोहराने की आव-

श्यकता नहीं रही है। वास्तव में, कहीं-कहीं तो ऐसी भाषा लिखी गई है जो संस्कृत एवं हिन्दी, दोनों में अशुद्ध है। यथाः —

मुकुन्द ने एक विशाल दण्ड ले
सदर्प घेरा इक बार बाजि को
अनन्तराघात अजस्र से उसे
प्रदान की वांच्छित प्राण हीनता।

'मृत्यु दंड देने' को या 'मार डालने को' यह कहना कि "प्राण-हीनता प्रदान की" कहाँ तक शुद्ध हो सकता है? शायद "आँख फोड़ डालने को" 'नेत्र हीनता प्रदान की' कहना ठीक रहेगा? या 'हाथ काट डाले' के स्थान में यह लिखना उचित होगा कि "उसे हस्त हीनता प्रदान की"

एक स्थान पर लिखा है:—

पिला-पिला चंचल वत्स को कहीं
पयस्विनी से पय थे निकालते

'पयस्विनी' अधिक दूध देने वाली गाय को कहते हैं। उसका दूध दुहने का भाव 'पय थे निकालते' में तो नहीं आ पाया!! शायद दूध "दुहा" नहीं जा रहा था, परन्तु या तो 'फूँका' द्वारा अन्य उपाय से 'निकाला' जा रहा था!!!

एक अन्य स्थान पर लिखा है:—

मारा भी है कुसुम कलिका से
कभी लाड़िले को
तो भी मैं हूँ निकट सुत के
सर्वथा मार्जनीया

शब्द 'मार्जनीया' का क्या अर्थ है? संस्कृत में मार्जन' 'स्वच्छ करने' या साफ करने' को कहते हैं। झाड़ू या बुहारी को 'मार्जनी'

कहते हैं। ढोल के शब्द को 'मार्जना' कहते हैं। 'मार्जनीया' हिन्दी में बना लिया गया है। शायद इसका अर्थ है "मैं सुत के निकट" स्वच्छ करने योग्य हूँ" !!! क्या 'ताड़नीया' से तात्पर्य है ?

एक और उदाहरण देखिये। लिखते हैं:—

ऊधो ! ऐसी दुखित उसके हेतु
क्यों अन्य होगी
माता की भी अवनितल में
है अ—माता न होती।

'अ-माता का क्या अर्थ है ? 'पिता' और "अ-पिता" "भ्राता" और 'अ-भ्राता', 'माता' और 'अमाता', 'पत्नी' और 'अपत्नी', में जरा सोचिये तो, कितना बारीक भेद है !

एक जगह लिखा है—

मम सदृश मही में कौन
पापीयसी है ?
हृदय मणि गँवा के, नाथ !
जो जीविता हूँ।

'पापीयसी' का अर्थ संस्कृत भाषा में है 'अपेक्षाकृत खराब'। यहाँ 'मम सदृश' के अनन्तर 'पापीयसी' का कोई अर्थ ही नहीं रहता !! प्रतीत होता है कि 'पापिनी' के स्थान में 'पापीयसी' का प्रयोग कर दिया है जो अशुद्ध है।

एक स्थान पर आया है—

जो पाती हूँ कुँवर मुख के
जोग में भोग प्यारा
तो होती हैं हृदयतल में
वेदनायें बड़ी ही।

'जोग' और 'भोग' का जोड़ा देखने योग्य है !! 'योग' और 'भोग' प्रतीत होता है। सोच-विचार करने पर पता चलेगा कि योग्य' को 'जोग' बना डाला है और 'भोज्य' को 'भोग' बना डाला है !!

संस्कृत के साधारण पंडित भी 'वृद्धा' के स्थान में 'प्राचीना' को प्रयुक्त नहीं करेंगे। परन्तु 'प्रियप्रवास' में 'प्राचीना' कई स्थान पर इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यथाः—

जो सन्तप्ता सलिला—नयना
बालिकाएँ कई हैं
ए प्राचीना - तरल - हृदया—
गोपियाँ स्नेह द्वारा
शिक्षा देना समुचित इन्हें
कार्य होगा तुम्हारा
होने पावे न वह जिससे
मोह - माया निमग्ना।

और भी—

प्राचीना की सदुख सुन के
सर्व बातें मुरारी
दोनों आँखें सजल करके
प्यार के साथ बोले

ब्रज भूमि की ये 'प्राचीनायें' कदाचित् ऋग्वेदिक काल से जीवित चली आ रही होंगी !!

(४)

संस्कृत भाषा में 'ता' एक भाववाचक प्रत्यय है जो विशेषण और संज्ञा शब्दों के बाद लगता है, यथा 'शत्रु' से 'शत्रुता', 'मनुष्य'

से 'मनुष्यता', इत्यादि । 'ता' कोमल शब्द है, और कोमल कान्त पदावली में अति मधुरता अपने आप ही आ जाती है । शायद इसीलिए 'प्रिय-प्रवास' में और विशेष कर उसके छन्दों के अंतिम चरण में 'ता' की भरमार प्रतीत होती है । यथा—

(क) द्रुतविलम्बित छन्दों में :—

१. मदिरता, मृदुता, मधुमानता
२. सरसता, शुचिता, रुचिकारता
३. सफलता, कलता, अनुकूलता
४. कुटिलता, कटुता, मदशालिता

(ख) वंशस्थ छन्दों में :—

५. कुशीलता, आविलता, करालता
६. प्रवाहिता, भानु-सुता, प्रफुल्लिता
७. यथोचता, श्यामरता, विमोहिता
८. अवांछिता, कातरता, मलीनता

इत्यादि ।

ऐसे 'ता' वाले भाववाचक संज्ञा शब्दों की गणना की जाय तो 'प्रिय-प्रवास' में सैकड़ों की संख्या में ही मिलेंगे ।

कहीं-कहीं छन्द इनके कारण बड़े मनोहर बन गये हैं । यथा—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अति मंजु भाव से
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को,
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता ।

× × ×

वसन्त माधुर्य विकाश-वर्द्धिनी
क्रिया-मयी मार-महोत्सवांकिता

सुकोपलें थीं तरु अङ्क में लसी
स्व-अंग-रागा अनुराग रंजिता
नये नये पल्लववान पेड़ में
प्रसून में आगत थी अपूर्वता
वसन्त में थी अधिकांश शोभिता
विकाशिता वेलि प्रफुल्लिता लता

कहीं-कहीं 'ता' वाले शब्दों की आवृति से छन्द में बड़ी अच्छी नाद शक्ति (Sound Force) भी आ गई है। एक उदाहरण देखिए—

तरल तोयधि तुंग तरंग से
तिमिर-नीरद थे घिर घूमते
प्रबल हो जिनकी बढ़ती रही
असितता घनता रवकारिता

पढ़ते ही प्रतीत होता है कि काले बादलों के झुण्ड के झुण्ड उमड़ घुमड़ कर घिरते चले आ रहे हैं। इसी प्रकार यमुनाजी के कल-कल करते हुए, फेन और बुद्-बुदों सहित, बढ़ते हुए प्रवाह का सुन्दर दृश्य बड़े अच्छे शब्दों में अंकित किया गया है। लिखते हैं—

स बुदबुदा फेन युता सु शब्दिता
अनन्त-आवर्त-मयी प्रफुल्लिता
अपूर्वता अंकित सी प्रवाहिता
तरंग मालाकुलिता कलिन्दजा

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'प्रिय-प्रवास' की सुन्दर संगीत लहरी का अधिकतर कारण उन अक्षरों की आवृत्ति ही है जिनके अन्त में भाव-वाचक प्रत्यय 'ता' आता रहता है। कहीं-कहीं ये शब्द सर्वथा संस्कृत व्याकरण के अनुसार शुद्ध हैं; कहीं-कहीं हिन्दी

प्रणाली के अनुसार शुद्ध हैं; परन्तु, कहीं-कहीं न तो हिन्दी प्रणाली के अनुसार और न संस्कृत व्याकरण के ही अनुसार शुद्ध हैं। वास्तव में, कहीं-कहीं तो यह प्रतीत होता है कि 'प्रिय-प्रवास' ने मशीन की तरह ये शब्द गढ़ डाले हैं !! श्रद्धेय कवि ने इस ओर किंचित भी ध्यान नहीं दिया कि 'अति सर्वत्र वर्ज्यते'। 'कवितागत सौकर्य सम्पादन' के बहाने न जाने कितने अनावश्यक एवं अशुद्ध शब्द 'प्रिय-प्रवास' के संगीत मय वर्णिक वृत्तों की सरसता को कम करते प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर लिखा है—

> किसी गुणी वैद्य समान था खड़ा
> स्वनिंबता गर्वित वृक्ष निंब का

'स्वनिंबता' क्या होती है? बबूल का वृक्ष 'स्वबबूलता' से गर्वित था और नींब का वृक्ष 'स्वनिंबता' से गर्वित था !! स्वनिंबता यहाँ गढ़ा गया है, और अनावश्यक होते हुए भी छन्द में 'ता' के नाते रख दिया गया है ! इसी प्रकार लिखा गया है—

> प्रवंचना से उसकी प्रवंचता
> विशेष होती ब्रज की वसुन्धरा

'प्रवंचना' और 'प्रवंचता' का जोड़ देखने योग्य है, अर्थ चाहे कुछ निकलता हो या नहीं !

अब संस्कृत का एक शब्द 'दग्ध' है। 'दग्ध हृदय' 'जले हुए' या 'दुःखित हृदय' को कहते हैं; दग्ध हृदय वाली स्त्री को अधिक से अधिक 'दग्ध हृदया' कह लीजिएगा, परन्तु 'दग्धा' नहीं कहते। 'दग्धा' का अर्थ या तो 'पश्चिम' दिशा होता है या अशुभ तिथियाँ (दग्धा तिथियाँ) होता है।

परन्तु प्रिय-प्रवास में कई स्थलों पर 'दग्धा' 'दग्ध हृदया' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

यथा—

"ऐसी दग्धा परम दुखिता जो हुई मोदिता है
ऊधो तो हूँ परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी"

'दग्धा' के बाद 'दग्धिता' भी गढ़ लिया गया है। यथा—

(१) जो वंशी के सरस स्वर से
है सुधा सी बहाता
ऐसे माधो विरह दव से
मैं महा दग्धिता हूँ
(२) जो बालाएँ विरह दव में
दग्धिता हो रही हैं
इत्यादि।

इसी प्रकार 'कलवादिता' का नमूना भी देखिये—

कलित नूपुर की 'कलवादिता'
जगत को यह थी जतला रही

अथवा—

ज्यों ज्यों हुई अधिकता कलवादिता की
ज्यों त्यों रही सरसता अभिवृद्धि पाती
त्यों त्यों कला विवशता सुविमुग्धता की
होती गई समुदिता उर में सबों के—

अब 'कष्ट' से 'कष्टिता' गढ़ लिया गया है। संस्कृत में 'कष्टी' एक विशेष प्रकार की वेदना (प्रसव वेदना) से पीड़ित स्त्री को कहते हैं। पता नहीं 'प्रियप्रवास' में 'कष्टिता' का अर्थ क्या है, परन्तु कई बार प्रयुक्त हुआ है। यथा—

(१) हो जावेगी प्रथित मृदुता
पुष्प संदिग्ध तेरी
जो तू होगा व्यथित न
किसी कष्टिता की व्यथा से
(२) तेरी तीखी महक मुझको
कष्टिता है बनाती

इसी प्रकार 'उत्कण्ठा' के स्थान में 'उत्कंठिता' भी बना लिया गया है; यथा—

ऊधो बीते दिवस अब वे
कामना है विलीना
भोले भाले विकचमुख की
दर्शनोत्कंठिता में।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि 'मूलता' 'आमूलता' 'अशंकता' 'सशंकता' 'सदम्बुता' 'निरम्बुता' 'सांगता' 'सदंगता' 'लोमता' 'अलोमता' 'विलोमता' 'आश्वासिता' 'उपलगठिता' 'मर्दनोद्यता' 'अनपत्यता' इत्यादि गढ़े हुए शब्द 'प्रिय-प्रवास' में जहाँ-जहाँ प्रयुक्त हुए हैं वहाँ व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी और संस्कृत भाषा में शायद ही ऐसा कोई शब्द बचा हो जिसमें 'ता' लगाकर भाववाचक संज्ञा या विशेषण बना कर 'प्रिय प्रवास' में न रखा गया हो, कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ऐसे शब्दों को छन्दों में रखने के उद्देश्य से ही अनेक व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रसंग भी बढ़ा दिये गये हैं। यह कृत्रिमता छन्दों में अलग ही दृष्टिगोचर हो रही है।

दशम सर्ग में, घर में यशोदा और नन्द बैठे हुए बताये गये हैं उस समय वहाँ कुछ वृद्धा 'परिचारिकाएँ' भी होंगी। उनका वर्णन अनावश्यक होते हुए भी, 'ता' प्रत्ययवाले शब्दों के प्रलोभन के कारण ही किया गया प्रतीत होता है लिखते हैं—

अति जरा विजिता बहु चिन्तिता
विकलता ग्रसिता सुख वंचिता
सदन में कुछ थीं परिचारिका
अधिकृता कृशता अवसन्नता
मुकुर उज्ज्वल मंजु निकेत में
मलिनता अति थी प्रतिबिम्बिता
परम नीरसता सह आवृता
सरसता शुचिता-युत वस्तु थी

पढ़कर प्रतीत होता है कि जो अत्यन्त बुढ़ापे के कारण जर्जरित थीं, केवल वे परिचारिकाएँ ही विकल चिन्तित एवं सुख वंचित थीं। जो वृद्धा नहीं थीं शायद, वे सब कृष्ण-वियोग में सुखी रही होंगी! और 'अधिकृता कृशता अवसन्नता' का क्या अर्थ हुआ? यह पंक्ति ही निरर्थक एवं व्यर्थ है, श्रद्धेय कविवर का अवश्य यह तात्पर्य है कि वे सब परिचारिकाएँ विषाद एवं कृशता (दुबलेपन) से अधिकृत थीं। 'विषाद कृशता' ने उन पर अधिकार कर लिया था। परन्तु 'अति जरा विजिता' (अत्यन्त बूढ़ी) उन्हें पहले ही बतला चुके थे। केवल कृष्ण वियोग में दुबली हो गई थीं यह भाव तो नहीं आ पाया।

अब निकेत (घर) तो उज्ज्वल एवं मंजु था परन्तु मलिनता की परछाईं शायद इन्हीं परिचारिकाओं के कारण पड़ रही थी। यह परछाईं परम नीरस तो नहीं थी, परन्तु नीरसता सह आवृत्ता थी। किन्तु विरोधाभास तो देखिए 'परम नीरसता सह आवृता' होने पर भी 'सरसता शुचिता युत' बनी हुई रही। अगर आप पूछें कि 'मलिनता' 'प्रतिबिंबता और 'नीरसता सह आवृता' होने पर भी 'सरसता' कहाँ से आ गई तो हमारा निवेदन यही है कि केवल 'ता' की करामात से 'सरसता' भी आ गई !!

निःसन्देह 'ता' ने 'प्रिय-प्रवास' को अपार माधुर्य एवं कोमल कान्त पदावली प्रदान की है। साथ-साथ अनावश्यक अशुद्ध एवं

निरर्थक प्रयोग भी 'ता' की एकतानता की कृपा के फल हैं। 'प्रिय प्रवास' की सरसता एवं नीरसता का मिश्रण एक 'ता' के अपार मोह के कारण ही है इसीलिए हमारा विचार है कि निम्न-लिखित छन्द 'प्रिय प्रवास' के साथ-साथ 'ता' की स्मृति को भी चिरस्थायी बनाने में सहायक होंगे। 'प्रिय-प्रवास' की प्रशंसा में लिखे गए इन छन्दों को उद्धृत करते हुए हम अपना निबन्ध समाप्त करते हैं:—

'प्रियप्रवास महा मृदुला रता
सरसता, प्रियता, सुमनोज्ञता,
ललित, छन्द कला रमणीयता,
विकसिता कविता उत्फुल्लता
'सिसक'ता, 'पिक'ता, अति–'शब्द'ता,
तदपि नीरसता, पुनि व्यर्थता,
नियम, पद्धति, रीति धता बता
लगन ता' महिं ये कवि लाप्तता॥

(५)

किसी महाकाव्य की सफलता के लिये आदि से अन्त तक सुगठित एवं सुव्यवस्थित भाषा का होना आवश्यक है।

भाषा का अच्छा रहना हृदय में उठते हुए तूफानों पर भी अवलम्बित है। जब कवि के हृदय में एक तूफान उठता है या भावों का उफान वेग से आता है, उस समय जो भाव हृदय के बाहर से आते हैं उन भावों को व्यक्त करती हुई भाषा स्वतः ही अच्छी हो जाती है। कवि को उस समय न तो परिश्रम करना पड़ता है और न परिश्रम करने की आवश्यकता ही होती है। इसीलिए छोटे-छोटे गीति काव्यों की भाषा अधिकतर अच्छी होती है।

परन्तु महाकाव्य में बहुत से स्थल ऐसे होते हैं जहाँ कवि के हृदय में न तो कोई तूफान ही उठ सकता है और न भावों का कोई उफान ही आ सकता है। महाकाव्य में, बहुत से छन्द तो केवल सिलसिला मिलाने के लिए लिखने पड़ते हैं, बहुत से छन्द इतिवृत्तात्मक वर्णन के लिये लिखने पड़ते हैं और बहुत से छन्द केवल चरित्र चित्रण के लिए लिखने पड़ते हैं। ऐसे छन्दों की भाषा एवं शैली, कवि को परिश्रम करके इतनी ऊँची बनानी पड़ती है कि उन छन्दों की भाषा एवं शैली से मिल जाय जो कवि ने तूफान और उफान के वेग में अपनाई है। इस भाषा के मिलाने में ही कवि-कौशल की परीक्षा हुआ करती है; साधारण इतिवृत्तात्मक वर्णन के छन्दों की भाषा ही वास्तव में महाकाव्य के परखने की कसौटी होती है।

इसी बात पर, एक विदेशी समालोचक ने १९३० के अप्रेल अंक के 'हिबर्ट जरनल' में जोर दिया था। उन्होंने लिखा था—

"To maintain a mastery of form when the emotional pitch is low needs a finer technical skill than to write well under the compelling influence of strong emotion."

(E. D. Selincourt: Testament of Beauty)

जोरदार भावों के आवेग में अच्छी भाषा प्रयोग करने की अपेक्षा उस समय शैली का उत्कर्ष बनाये रखने में अधिक लेखन-कौशल की आवश्यकता है जब हृदय में भावों का उफान मन्द पड़ गया हो।

तात्पर्य यह है कि महाकाव्य की भाषा परखने के समय केवल अच्छे-अच्छे छन्दों पर ही दृष्टि सीमित न रखनी चाहिए। उन छन्दों की भाषा पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है जो केवल इति-वृत्तात्मक वर्णन में या सिलसिला मिलाने के लिये लिखे गये हैं।

यदि कवि की भाषा यहाँ भी ऊँची रही है, यदि कवि की विशिष्ट शैली में यहाँ भी कोई कमी नहीं दिखाई पड़ती, तभी यह कहा जा सकेगा कि कवि निःसंदेह सक्षम हैं और उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है।

'प्रिय-प्रवास' जैसा सरस काव्य, और विशेषकर नवीन शैली में, हिन्दी भाषा में अवश्य दुर्लभ है। साधारण छन्दों में भी उसमें एक विशेष आवेग है और एक संगीतमयता प्रतीत होती है। 'प्रिय-प्रवास' का अधिकांश वास्तव में इस कसौटी से भी खरा उतरता है जिसकी ओर ऊपर लिखित विदेशी समालोचक ने ध्यान खींचा है।

इतने बड़े काव्य ग्रन्थ में, अधिकतर भाषा अच्छी होते हुए भी यदि कहीं-कहीं भाषा शैथिल्य आ गया है तो वह क्षम्य है। उसका एक मात्र कारण यह है कि काव्य लिखते समय श्रद्धेय कविवर हरिऔधजी का ध्यान केवल संस्कृत वृत्तों पर ही था, भाषा की एकरूपता, या आदि से अन्त तक महाकाव्य की सुगठित एवं सुव्यवस्थित भाषा पर नहीं था। हिन्दी भाषा के आधुनिक काव्य ग्रन्थों में 'प्रिय-प्रवास' एक नितान्त नवीन शैली के सफल प्रयोग करने में ही लगा था। आदि से अन्त तक भाषा की सुव्यवस्था पर उतना ध्यान नहीं रह सका।

कहीं-कहीं भाषा शैथिल्य अलग दिखाई पड़ता है। एक स्थान पर लिखा है—

टापों का नाद जब तक था
    कान में स्थान पाता
देखी जाती जब तक रही
    यान ऊँची पताका
थोड़ी सी भी जब तक रही
    व्योम में धूलि छाती

यों ही बातें विविध करते
लोग ऊबे खड़े थे ।

'टापों के नाद' का 'कान में स्थान पाना' अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होता है ! वास्तव में यही 'नाद' 'कान में स्थान' पाता रहा तो स्वयं ही पाठक 'ऊब' कर खड़े हो जायँगे ।

एक अन्य स्थल पर लिखा है—

घेरा आके सकल जन ने
यान को देख जाता
नाना बातें दुखमय कहीं
पत्थरों को रुलाया,
हा हा खाया बहु विनय की
औ कहा खिन्न हो के
जो जाते हो कुँवर मथुरा
ले चलो तो सभी को

यहाँ भाषा ही, मन्दाक्रान्ता छन्द से, 'हा-हा' खाती नजर आ रही है ।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है —

दोनों तीखे तुरग उचके
औ उड़े यान को ले
आशाओं में, गगन तल में,
हो उठा शब्द हा हा

दोनों घोड़े शायद किसी ऊँची चीज को पकड़ने के लिए 'उचके' होंगे ! इसीलिए शायद 'आशाओं में' हा हा शब्द हो उठा होगा ! कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग ठीक न हो सकने के कारण सुन्दर छन्दों का सौन्दर्य ही बिगड़ गया है ।

श्यामा प्राणी श्रवण करके
हरि के नाम ही को
क्या होता है पुलकित कभी
जो उसे भी न पावे
हो पाता है कब तरणि का
नाम ही त्राण कारी
नौका ही है शरण जल में
मग्न होते जनों की

सोचने की बात है कि जल में डूबते हुओं के पास नौका हमेशा कहाँ से आ सकती है ? मुहावरा है 'डूबते हुओं को तिनके का सहारा'। श्रद्धेय कवि कह रहे हैं, 'डूबते हुए को 'नाव' का सहारा !' 'परमात्मा का सहारा' ही बताते तो अच्छा रहता।

संस्कृत मयी शैली में गँवारू शब्द भी यत्र-तत्र बुरी तरह खटकते हैं। यथा—

जी चाहे तो शिखर सम जो
सद्म के हैं मुंडेरे
वाँ जा ऊँची अनुपम ध्वजा
अंक में ले उड़ाना

यहाँ 'सद्म के मुंडेरे' भाषा को बिगाड़ रहा है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है :—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में
कोई नहीं काम था
काँटे से कमनीय कुंज कृति में
क्या है न कोई कमी
पोरों में कब ईख की

विपुलता है ग्रन्थियों की भली
हा दुर्दैव प्रगल्भते अपटुता
तू ने कहाँ की नहीं ?

यहाँ संस्कृत गर्भित भाषा में 'ईख के पौंरे' अलग दिखाई देकर छन्द की एक रूपता में 'अपटुता' का आभास दे रहे हैं !

एक मन्दाक्रान्ता छन्द की 'एँड़ी बेड़ी' भाषा देखने योग्य है। लिखते हैं—

ऊधो बोले समय गति है
गूढ़ अज्ञात बेड़ी
क्या होवेगा कब यह नहीं
जीव है जान पाता

यहाँ शब्द 'बेड़ी' ने भाषा भी 'अज्ञात बेड़ी' बना डाली है। एक अन्य स्थान पर लिखा है—

पेचीले नव राजनीति पचड़े
जो वृद्धि हैं पा रहे
यात्रा में व्रजभूमि की अहह वे
हैं विघ्नकारी बड़े

'प्रिय-प्रवास' की सरस भाषा में न जाने ऐसे 'पेचीले' 'पचड़े' कहाँ से आ घुसे हैं ?

संस्कृत पदावली में खड़ी बोली की 'खड़खड़ाहट' भी कहीं बहुत बुरी दिखाई पड़ती है। यथा—

सब अनेक उपस्कर सज्जिता
अति मनोरम काय अकंटका
विपिन को करती छवि धाम थी
कुसुमिता फलिता बहु झाड़ियाँ

संस्कृत शब्दावली और कोमल-कांत-पदावली के रसास्वादन के अनन्तर एक दम अंत में 'झाड़ियों' का आ जाना कर्ण कटु ही नहीं प्रतीत होता, भाषा प्रवाह को भी बुरा बना देता है। 'कुसुमिता फलिता बह झाड़ियाँ' ध्यान देने योग्य है। कवि ने सदा ही 'कुंज', 'निकुंज' शब्द प्रयुक्त किये हैं, परन्तु केवल इसी स्थान पर 'झाड़ियाँ' शब्द का प्रयोग कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर लिखा है :—

उद्विग्ना औ विपुल विकला
क्यों न सो धेनु होगी
प्यारा लेरू अलग जिसकी
आँख से हो गया है

यहाँ शब्द 'लेरू' ने भाषा को विकल और उद्विग्ना बना डाला है।

समा का समा

कहीं-कहीं संस्कृत शब्द और उर्दू लफ्ज पास-पास रखकर, या दोनों का समान प्रयोग करके, या संस्कृत शब्दों के बीच में उर्दू का लफ्ज बैठाल करके भाषा की एकरूपता नष्ट की गई है। एक छोटा सा उदाहरण पर्याप्त होगा। लिखा है :—

पूजाएँ सो विविध व्रत
औ सैकड़ों ही क्रियायें
सालों की हैं परम श्रम से
भक्ति द्वारा उन्होंने

यहाँ फ़ारसी लफ्ज 'साल हा साल' का रूपांतर 'सालों' ने भाषा की एकरूपता नष्ट तो की है, साथ साथ यह भी शंका होती है कि कहीं साली सलहज वाले 'सालों' से तो मतलब नहीं है।

'सालों' के स्थान में 'वर्षों' लिख दिया होता तो भाषा भी ठीक रहती और छन्द भी ठीक बना रहता।

इसी संबंध में 'समा' के समा पर ध्यान देना अनुचित न होगा। 'प्रिय-प्रवास' में 'सम' के स्थान पर 'समा' अधिकतर प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है 'समान' या 'तुल्य'। यथा—

तृण समाकर नीलम नीलिमा
मसृण थीं तृण राजि विराजतीं

और—

विलोकनीया नभ नीलिमा समा
नवाम्बुदों की कल कालिमोपमा

या—

तवा समा थी तपती वसुन्धरा
स्फुलिंग वर्षा रत तप्त व्योम था

या —

नितान्त ही थी बनती भयंकरी
प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा

यदि इसी अर्थ में 'समा' बराबर प्रयुक्त होता रहता तो आपत्ति क्या हो सकती थी। हम यही समझ लेते कि 'समान या', 'सम' न लिख कर छन्द ठीक करने को 'समा' लिख दिया।

परन्तु इन प्रयोगों के साथ अरबी लफ़्ज़ 'समाँ', का भी बराबर ही प्रयोग किया है।

यथा—

ऊधो! बातें न यक पल भी
हाय वे भूलती हैं
हा! छा जाता दृग युगल में
आज भी सो समा है

या—

इधर था इस भाँति समा बना
उधर व्योम हुआ कुछ और ही

या –

प्रलयकालिक सर्व समा दिखा
बरसता जल मूसलधार था।

अथवा—

जैसा बँधा इस महानिशि में समा था
होगी न कोटि मुख से उसकी प्रशंसा

इन दोनों 'समा' को बराबर प्रयुक्त होते देखकर कहीं-कहीं यह पता नहीं चल पाता कि कौन से 'समा' से तात्पर्य है। एक स्थान पर लिखा है—

जहाँ न वंशीवट है न कुञ्ज है
जहाँ न केकी पिक है, न शारिका
न चाह वैकुण्ठ रखें न है जहाँ
बड़ी भली, गोप लली, समा अली

यहाँ 'भली' 'लली' 'अली' का अनुप्रास तो बन गया है। परन्तु सोचिए तो 'समा अली' का अर्थ क्या हुआ? वास्तव में, यहाँ 'समा' का 'समाँ' प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है!!

हमें याद है, एक परीक्षार्थी ने अर्थ न समझते हुए भी कुछ न कुछ अर्थ निकालने का यत्न करते हुए यह लिखा था—

'रहीम, रसखान, ताज, मुबारक, महबूब और नजीर की तरह 'मियाँ समाअली' भी बड़े ही कृष्ण भक्त हुए हैं। उन्हीं समाअली को संबोधन करते हुए कविवर कह रहे हैं कि हे समाअली! जहाँ वंशीवट नहीं, कुंज नहीं, केकी, पिक, सारिका नहीं, बड़ी भली गोप लली नहीं, वहाँ वैकुंठ भले ही हो, मुझे उसकी चाह नहीं है।

शायद मियाँ समा अलीभी सहमत हुए होंगे! वास्तव में 'प्रिय-प्रवास' में 'समा' का 'समाँ' देखने योग्य है।

'प्रिय प्रवास' के ऐसे प्रयोगों ने भाषा की एकरूपता एवं सरसता को न जाने कितनी हानि पहुँचाई है।

यदि 'प्रिय-प्रवास' ऐसे प्रयोगों से बचाया जाता तो उसकी छन्द कला रमणीयता तो नष्ट न होने पाती। और भिन्नतुकान्तता एवं संस्कृत वृत्तता के सहित नितान्त नवीन शैली का एक मौलिक काव्य ग्रन्थ, प्रिय-प्रवास, मातृभाषा का अद्वितीय पुष्पोपहार बन कर ही रहता। किन्तु श्रद्धेय कविवर का ध्यान इन दोषों की ओर किंचित भी नहीं गया। संस्कृत की संश्लिष्ट पदावली में खड़ी बोली के, ब्रजभाषा के, अवधी के, एवं ग्रामीण भाषा के शब्दों को जबरदस्ती बिठाने से भाषा कहीं-कहीं अत्यंत लचर हो गई है। कहीं-कहीं कर्णकटु शब्दों की भरमार है। कहीं कृत्रिमता एवं नीरसता भी आ गई है। यह मानते हुए भी कि 'प्रिय-प्रवास' का अधिकांश सरसता से भरा हुआ है, यह लिखने में संकोच नहीं होता कि उपरोक्त नीरसता एवं कृत्रिमता ने 'प्रिय-प्रवास' का शुद्ध साहित्यक मूल्य अवश्य कम कर दिया है। यदि श्रद्धेय कविवर हिन्दी शब्दों को संस्कृत का आवरण पहिनाने का व्यर्थ प्रयत्न न करते तो भी भाषा का कुछ भला होता और 'प्रिय-प्रवास' की सरसता बची रहती। कहीं-कहीं हिन्दी शब्दों को संस्कृत के साँचे में ढालने के प्रयोग अत्यंत हास्यास्पद भी हो गये हैं। एक स्थान पर लिखा है—

समुच्च शाखा पर वृक्ष की किसी
तुरन्त जाते चढ़ते स-व्यग्रता
सुने कठोरा ध्वनि अश्व टाप की
समस्त आभीर अतीव भीत हो

यहाँ 'घोड़े की टाप' की आवाज भी संस्कृत भाषा का आवरण

पहिनकर पाठकों को भयभीत बना रही है। ऐसी कठोर ध्वनि से कौन नहीं डरेगा ?

अब श्रद्धेय कविवर की पैनी नजर का दूसरा नमूना देखिए 'भड़भूजे की भाड़' 'तक को नहीं छोड़ा ! लिखते हैं—

विदग्ध होके कण धूलि राशि का
हुआ तपे लौह कणा समान था
प्रतप्त बालू इव दग्ध भाड़ की
भयंकरी थी महि रेणु हो गई

'प्रतप्त बालू' और दग्ध 'भाड़' की भाषा देखने योग्य है। भाग्य तो देखिए, भड़भूजे के भाड़ की बालू का ! कितने सरस महाकाव्य में कितनी सुगमता से आ डटी है !! 'भाड़' भी संस्कृत भाषा का शब्द बना दिया गया है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है—

रहे खिलाते पशु धेनु दूहते
प्रदीप जो थे गृह मध्य बालते

'दूहते' और 'बालते' की जोड़ी तो देखने ही योग्य है। 'गृह मध्य प्रदीप बालते' की भाषा भी दर्शनीय है।

वास्तव में 'प्रतप्त बालू', 'दग्ध भाड़', 'गृह मध्य बालते' की भाषा 'कागा और कोकिल' की जोड़ी प्रतीत होती है। ऐसी जोड़ीदार भाषा 'प्रिय-प्रवास' में यत्र-तत्र सुगमता से मिल जाती है।

एक स्थान में कोयल से यशोदाजी कहती हैं—

यथैव हो पालित काक अंक में
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं
तथैव माधो यदु वंश में मिले
यशोभगा, खिन्नमना, मुझे बना

'त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं' की भाषा और भाव दोनों ध्यान देने योग्य हैं। 'त्वदीय' संस्कृत का शब्द है। दोनों का जोड़ा 'कागा-कोकिल' का ही जोड़ा रहा। अब 'त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं' का अर्थ हुआ 'तुम्हारे बच्चे तुम्हारे बनते हैं' शायद कविवर कहना चाहते हैं 'तुम्हारे बच्चे तुम्हारे सदृश हो जाते हैं' परन्तु भाषा से यह भाव नहीं आ पाता। जो कुछ भी हो, 'त्वदीय बच्चे' की भाषा 'प्रिय-प्रवास' की निजी भाषा है, इसकी एक विशेषता है !!

इसीलिए एक सज्जन ने लिखा था कि यदि कविवर उपरि-लिखित छन्द को बदल कर निम्नलिखित बना देते तो 'प्रिय-प्रवास' की भाषा के संबंध में कुछ ठीक-ठीक निष्कर्ष तो निकल आता :—

यथैव हो पालित काक अंक में
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं
तथा निराली, कवि-अंक में पली
मदीय 'हिन्दी' भवदीय सामने !!

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू'

श्री सियारामशरण जी गुप्त ने 'आर्द्रा', 'विषाद' 'मौर्य्य-विजय' 'दूर्वादल', मृण्मयी', पाथेय' 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'बापू' और 'उन्मुक्त' लिखकर हिन्दी काव्य का कलेवर अलंकृत किया है। सशक्त एवं सजीव भाषा का जो रूप हमें 'उन्मुक्त' में मिलता है, वह उनकी अन्य रचनाओं में कहीं नहीं मिलता।

किन्तु 'उन्मुक्त' उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया जितना 'बापू' !! हिन्दी-संसार में 'बापू' का अत्यन्त आदर-सत्कार भी हुआ और इंटरमीजिएट की परीक्षा में भी कई साल तक पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता रहा। आलोचकों ने अनेकानेक प्रशंसात्मक लेख लिखे और प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा एम० ए० ने तो 'बापू' से भी बड़ी 'बापू-विचार' नामक समीक्षात्मक पुस्तक ही लिख डाली।

महात्मा गान्धी जी के सिद्धान्तों की व्याख्या अथवा उनका जीवन-चरित्र न होकर 'बापू' में केवल उनका यशोगान हुआ है। वास्तव में, जिस व्यक्ति का इसमें यशोगान है, वह वर्त्तमान विश्व की एक अनुपम विभूति थे। 'बापू' की लोक-प्रियता का मुख्य कारण यही है। स्वर्गीय श्री महादेव देसाई के प्रशंसात्मक प्राक्कथन के रूप में छपे हुए पत्र के कारण 'बापू' को और भी अधिक अपनाया गया है। इस दृष्टिकोण को अलग करके हमें 'बापू' में कवि के काव्य-कौशल पर ही एक दृष्टि डालनी है।

संस्कृत की छाप

'बापू' में संस्कृत की पूरी छाप है। संस्कृत के क्लिष्ट संधिज शब्दों का भी बाहुल्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम संस्कृत

गर्भित भाषा के विरुद्ध हैं। लेखक एवं कवि की अपनी-अपनी शैली होती है। कोई तत्सम प्रधान भाषा पर अधिक अधिकार रखता है, कोई तद्भव-प्रधान भाषा पर। एक को राष्ट्रीय बताकर दूसरी को विदेशीय बताना शैली के प्रति अन्याय होगा। हम केवल भाषा की एकरूपता, सुन्दर भाषा-प्रवाह एवं शुद्ध प्रयोग पर जोर देकर यही देखना चाहते हैं कि भाषा भावों की अनुगामिनी है या नहीं? भाषा भावों को ठीक-ठीक व्यक्त कर रही है या नहीं? तत्सम-प्रधान भाषा के संस्कृत वातावरण में कहीं किसी बेसुरे तद्भव या ग्रामीण शब्द ने भाषा-प्रवाह को तो नहीं बिगाड़ दिया? कहीं अंत्यानुप्रास और पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द लाकर अर्थ का अनर्थ तो नहीं कर दिया?

एक उदाहरण उचित होगा। पृष्ठ ४५ पर 'बापू' में लिखा है—

जाना अहा! जाना तब,
मानलिया, अहा! मनमाना अब,
कष्ट वह था न व्यर्थ;
वैसे में तवागम का स्पष्ट अर्थ
आज के उछाह में लिखित है;
अप्रिय कठोरता में प्रियता निहित है!

कवि का भाव यह है कि "जो जो कष्ट आपने आकर उठाये थे, वे बाहरी दृष्टि से बुरे जान पड़ते थे परन्तु उनका परिणाम अच्छा रहा।"

उपर्युक्त पद्य पढ़ कर भाव कठिनता से समझ पड़ते हैं। 'अहा' 'अहा' से कवि का शब्द-कोष खाली जान पड़ता है। 'मनमाना' का अर्थ 'मनचाहा' या 'दिल-पसंद' है। परन्तु कवि का भाव यह है कि मेरा मन अब मान गया है।

फिर "वैसे में" के अनन्तर "तवागम" और फिर तत्सम-प्रधान

भाषा। "तवागम का स्पष्ट अर्थ" के अनन्तर 'उछाह' लाकर भाषा बिगड़ गई है।

एक अन्य स्थान पर लिखा है:—

आते हैं दुरन्तदोल भूमिचाल,
स्थल के तरंगोत्ताल
देने समहीन ताल
उच्छृङ्खल काल नृत्य-गति में
मुक्ति अनियति में
पीछे कहीं दौड़ दौड़ पड़ते
हाँप से उखड़ते
खस खस पड़ते समुन्नत महीध्रशृंग
अचला के अंक में लिपटते

संस्कृत शब्दों के 'महीध्रशृंग' भाषा की दौड़ में हाँफते-हाँफते उखड़ कर खस पड़े हैं—ऐसा यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

इसके आगे लिखते हैं—

उच्च हर्म्य हेम धाम!
छिपते उजाड़ में नगर ग्राम;
चाहते अशान्त—
उर विस्तृत सुनीरनिधि
कौन विधि
ओट लें सपाट मरुस्थल की

संस्कृत भाषा के वातावरण में 'ओट लें सपाट' ने भाषा को ही चौरस बना दिया !!

भाषा प्रवाह एक दम रुक गया है। 'बापू' में पुराने छंद-विधान को त्याग कर सारी रचना, नवीन प्रकार से, केवल लय के

आधार पर ही की गई है। अन्त्यानुप्रास में किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया है। कहीं पास है कहीं दूर, कहीं अन्त्यानुप्रास का अभाव भी मिलता है। किन्तु कई स्थलों पर केवल अन्त्यानुप्रास के लिए शब्द गढ़े जाकर काव्य में कृत्रिमता भी लाई गई है।

यथा—एक स्थान पर लिखा है—

लौटा नहीं, लौटा नहीं, हाय हाय,
आग्रही अकम्प काय।
उधर पशुत्व का कराल कोप फूट पड़ा,
बाँध तुल्य टूट पड़ा
एक साथ ज्वालामुखी गति में;
अत्याचार यातना की क्षति में
कम्पित अनन्त में दिशाएँ हुईं चारों ओर
गूँज उठा हा हा कार आर्ति-रोर

यहाँ 'हाय-हाय' शब्द अनावश्यक था, परन्तु उसको लाकर एक नवीन शब्द गढ़ा गया "अकम्प काय", संस्कृत भाषा में 'कंप' संज्ञा है, विशेषण नहीं, 'कम्पः' का अर्थ है 'कँपकपी' 'थरथरी'। विशेषण होगा 'कंपित या 'कंपान्वित'। 'अकम्पकाय' चिन्त्य प्रयोग है और अनावश्यक भी है। यहाँ केवल तुक मिलाने के लिए रख दिया गया है।

एक बात और देखने योग्य है। 'बाँध तुल्य' टूट पड़ने और 'ज्वालामुखी' तुल्य फट जाने में कुछ भी समानता नहीं है। दोनों की गति अलग-अलग हैं। दोनों के कर्म भी अलग-अलग हैं। बाँध टूट कर पानी नीचे की भूमि पर आता है। ज्वालामुखी का लावा एक दम ऊँचा जाता है। यहाँ दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया गया है। शायद 'पशुत्व का कराल कोप' फूट पड़ने पर पहले नीचे जाता हो, फिर ऊपर !!!

एक दूसरे छंद में कहते हैं:—

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य हरिश्चन्द्र की अटलता ;
लब्ध इसे ताराग्रह मंडल से
श्री प्रह्लाद की अनन्त-भक्ति-समुज्ज्वलता
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञान-कर्मयोग इसने
पुण्यदत्त पाँचजन्य स्वर में
जीवन का पाया है अमर भोग इसने ;
भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता
प्राप्त इसे स्वेच्छा मृत्युवरता ।

यहाँ 'ब्रह्मचरता' और 'मृत्युवरता' दोनों ही अशुद्ध एवं भद्दे प्रयोग हैं। तत्सम-प्रधान भाषा में बेसुरे हैं सो अलग। भीष्म आजन्म ब्रह्मचारी रहे थे। महात्माजी के लिए उनकी 'ब्रह्मचरता' का संकेत करना निरर्थक नहीं तो क्या है ? और 'सत्य हरिश्चन्द्र' कौन थे ? 'सत्य हरिश्चन्द्र' तो उस नाटक का नाम है जिसमें सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा बताई गई है। यहाँ 'नाटक' की अटलता से तात्पर्य है या महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य बोलने के दृढ़ व्रत से ?

फिर प्रह्लाद की अनन्त भक्ति 'समुज्ज्वलता' ताराग्रह मण्डल से कैसे मिली ? कहीं ध्रुव की भक्ति से तो तात्पर्य नहीं है ? शायद 'तारामण्डल' और 'ग्रह मंडल' अब मिल चुके हैं। 'फेडरेशन' के इस युग में आकाश में भी 'तारा मण्डल' एवं ग्रहों को मिलाकर नवीन संघ स्थापित किया जा रहा है !

आगे लिखते हैं:—

बुद्ध से मिला है परमार्थ भाग
ईसा से नरानुराग

हिंसा त्याग धीर महावीर के वरद से
दृढ़ता मुहम्मद से ;
धौत तुलसी के मानसर से
लाया है पराई पीर नरसी के घर से
टालस्टाय से अधीत
प्रेम प्रतिरोध का समर-गीत
शाश्वत गिरा ने दिया राम-नाम
अपना विराम धाम।

यहाँ 'नरानुराग' की तुक मिलाने के लिए 'परमार्थ' में 'भाग' जोड़ा गया है। 'भाग' वास्तव में अनावश्यक है। पढ़ कर ऐसा मालूम होता है कि ईसा से तो पूरा 'नरानुराग' मिल गया परन्तु बुद्ध से पूरा 'परमार्थ' नहीं मिल सका। 'परमार्थ' का एक 'भाग' ही मिल पाया !! फिर, यह समझ में नहीं आता, 'महावीर' को 'वरद' क्यों कहा गया ? क्या वह वरदान देते रहते थे ? केवल 'मुहम्मद' की तुक मिलाने को ही महावीर को 'वरद' बताया गया प्रतीत होता है।

अशुद्ध प्रयोग

इसी प्रकार घर से' की तुक मिलाने को तुलसी के 'मानस' को 'तुलसी के मानसर' कर देना पड़ा। हमारी राय में 'धौत' और 'मानसर' दोनों अशुद्ध हैं। 'धौत' हिन्दी में विशेषण है, संस्कृत में वर्तमान काल बोधक कृदन्त है; जिसका अर्थ धोया हुआ, चमकाया हुआ, चमकीला, सफेद होता है। कवि का भाव 'उज्ज्वलता' प्रतीत होता है। मानसर' का अर्थ 'मान सरोवर' है न कि 'रामचरित मानस'। इसी प्रकार 'अधीत' एवं 'विरामधाम' कवि के भावों को व्यक्त करने के लिए सफल नहीं हो रहे। केवल अन्त्यानुप्रास की लहर में लाए गए हैं।

सोचने की बात यह भी है कि जब 'हरिश्चन्द्र की अटलता'

आ चुकी थी तो 'मुहम्मद की दृढ़ता' की क्या आवश्यकता रही? क्या 'अटलता' और 'दृढ़ता' में कोई भेद है?

अस्त-व्यस्त भाषा

अब 'कारागार' को देखकर एक स्थान पर कविवर लिखते हैं —

> पूज्य वह कारागार ?
> अब तो अबन्धन का मुक्तिद्वार
> अंकुरित होकर वहाँ अखेद
> मुक्ति-बीज क्रूर भित्ति भूमि भेद
> फूट पड़ा बाहर है
> लाली लिए ले रहा लहर है
> मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु।

कवि कहना चाहते हैं कि जेल ही स्वतंत्रता का द्वार है और जेल की भूमि में ही स्वतंत्रता का बीज अंकुरित होकर फूट पड़ा है। परन्तु छन्द की भाषा से यह भाव और का और हो गया है। 'भित्ति-भूमि' देखने योग्य है। 'भीति की भूमि' का अर्थ क्या होगा? 'भूमि रूपी भीति' करना पड़ेगा।

'अबन्धन' का अर्थ होगा 'जहाँ बन्धन न हो' अर्थात् 'मुक्ति' फिर 'अबन्धन का मुक्तिद्वार' क्या हुआ? 'मुक्ति का मुक्तिद्वार' भी शायद कहीं होता होगा!! उसी 'मुक्ति' के 'मुक्तिद्वार' में प्रसन्नता-पूर्वक मुक्ति का बीज कठोर जेल की दीवाल रूपी भूमि को भेदकर बाहर फूट पड़ा है, और मृत्यु के घर पर जीवन की पवित्र ध्वजा लाली लिए लहरा रही है। छंद का अर्थ तो यह हुआ, जो कवि के भाव से बहुत दूर जा पड़ा!!

अब यूक्लिड की भाँति कल्पना कीजिए। 'मुक्ति' के 'मुक्तिद्वार' में 'मुक्ति का बीज' अंकुरित हुआ। जेल के अहाते की भूमि को कल्पना से दूर करके, जेल की दीवालों को भूमि मानिए। जब बीज

फूटता है तो मिट्टी की तह फटती जाती है और अंकुर उठता आता है। यहाँ वह बीज भूमि में ऊपर को नहीं उठता। जेल की दीवारों को छेद कर आर-पार करके बाहर निकल रहा है और बाहर फटने को है। द्वार में तो अंकुरित हो रहा है; मगर दीवारों में सेंध लगाकर बाहर आ रहा है। शायद यह सोचा जाय कि बाहर आकर वही अंकुर लाली लिए लहरावेगा। परन्तु यह बात भी नहीं। अंकुर के स्थान में जीवन का पुण्य-केतु, लाली लिए लहरा रहा है और वह भी जेल में नहीं; जेल की दीवारों पर नहीं, जेल के द्वार में नहीं, और जेल के बाहर भी नहीं, मृत्यु के निकेत पर! शायद फाँसी घर पर!!

कल्पना कितनी उत्कृष्ट रही? और कल्पना में अनौचित्य की मात्रा कितनी अधिक है? 'बापू' में यत्र-तत्र ऐसी ही भाषा और ऐसी ही कल्पना सुगमता से मिल जाती है जिसके कारण कवि के भावों का पता लगाना भी अत्यंत कठिन हो जाता है।

इसी में आगे लिखते हैं:

जारहे वहाँ की तीर्थ यात्रा हेतु
लक्ष लक्ष नारी नर
मंगलेच्छा सब सुखकारी कर,
धरके तुम्हारे वे चरण-चिह्न
भीति भय छिन्नभिन्न
साग्रह प्रवेश की चलाचल है
द्वार वह दीखता खुला-सा अनर्गल है

'भीति' और 'भय' शायद अलग-अलग होते होंगे! इसी प्रकार 'खुला-सा' लिख कर 'अनर्गल' जोड़ा गया है। 'अनर्गल' का अर्थ 'खुला हुआ' ही तो है। अनावश्यक शब्दों की भरमार से भाषा में कोई जान तो नहीं आ पाई। अवश्य, ऐसे पर्यायवाची

शब्दों से यत्र-तत्र लय का उतार चढ़ाव तो ठीक हो गया है, परन्तु भाषा अस्त-व्यस्त हो गई है।

यथा –

दूर हुई एक संग जड़ता
ढीली पड़ी बन्धन की कर्कश निगड़ता

'निगड़ता' का अर्थ भी तो 'बन्धन' ही है। 'बन्धन ढीला पड़ा' कहना तो उचित होगा; किन्तु 'बन्धन का बन्धन ढीला पड़ा' कौन कहेगा ?

(२)

प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि शैली ने एक स्थान पर लिखा है कि मस्तिष्क में आई हुई कल्पना को भाषा में व्यक्त कर देना ही कविता है। इस मत से पूर्ण रूपेण सहमत होना कठिन है, किन्तु यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि कल्पना कवि का एक विशेष गुण है। कल्पना के सहारे कवि-प्रतिभा का विकास होता है। जितना बड़ा कवि होगा उसके काव्य में कल्पना की उड़ान उतनी ही ऊँची होगी। कवि वास्तव में अपने मनोवेगों की स्थिति का चित्रण करता है। हृदय में जब भावों के हिल्लोल उठने लगते हैं तब कवि के समक्ष अनेकानेक कल्पनाएँ रूपक, उपमा, मानवीकरण के रूप में अनायास ही आने लगती हैं। उस समय कवि को यह देखना आवश्यक हो जाता है कि वे कल्पनाएँ असंगत और अस्वाभाविक तो नहीं हैं। उस समय उन कल्पनाओं को भाषा में व्यक्त करने के पहले उसे कुछ ऐसे शब्द-चयन पर भी ध्यान रखना आवश्यक है जो मौलिक होते हुए भी भावों को पाठक के हृदय के अंतर्गत प्रदेश में पहुँचाने में समर्थ हो सकें।

आजकल पश्चिमी मूर्त्त-विधान की शैली पर मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण अथवा मानवीकरण बहुत चलने लगा है, किन्तु मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण

की मर्यादा पर कम ध्यान दिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि सन् १९१२ ई० में जब एजरा पाउँड, रिचार्ड एलिंडगटन और एफ. एस. फ्लिन्ट ने 'इमैजिस्ट' स्कूल की स्थापना की थी तब जो तीन सिद्धान्त स्वीकृत किए थे उनमें एक सिद्धान्त यह भी था कि एक भी शब्द ऐसा प्रयोग न किया जाय जो व्यर्थ अथवा अनावश्यक हो। "To use absolutely no word that does not contribute to the presentation".

हमारे शास्त्रों में भी 'शब्द' और 'अर्थ' तराजू के दो पलड़े बताए हैं और आदेश यह है कि 'शब्द' का पलड़ा कभी भारी न होने पावे। इस आदेश पर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जा रहा है।

जो कल्पना मस्तिष्क में आवे उसे किसी भाषा में अस्पष्ट रूप से लिख देने से कोई कवि बड़ा नहीं हो पाया। बड़े कवियों के लिए थोड़े से 'स्वकीय नियंत्रण' की आवश्यकता है। हमारे यहाँ अर्थ की स्पष्टता को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्रसाद गुण सभी रचनाओं के लिए आवश्यक माना गया है। जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि और स्वच्छ वस्त्र में जल व्याप्त हो जाता है, उसी भाँति पाठक के चित्त में छंद के अर्थ का प्रकाश हो जाना चाहिए।

'बापू' में कल्पना की उड़ान कहीं-कहीं अवश्य ऊँची है। एक स्थान पर भविष्य में आने वाली शताब्दियों को मूर्तिवती मानकर गांधीजी को देखने को उत्सुक बताया है—

> "आगे की शताब्दियाँ गवाक्ष खोल,
> विलग भविष्य के निकेतन में
> आगे झुक विस्मृत दृगी अलोल,
> ध्यान निज लाकर श्रवण में
> कुछ सुनती है—"बड़ी दूर वहाँ
> कुछ गुनती है—बड़ी दूर वहाँ"

बोल रहा कौन वह जन है ?
खोल रहा अन्तर कपाट यहाँ
कौन वह, कौन महज्जन है ?"

अवश्य ही यह कल्पना ऊँची है, परन्तु ऐसी ही शब्द-योजना सब स्थान पर नहीं रही। कहीं-कहीं समझने में कोषों की शरण लेनी पड़ती है और फिर भी अर्थ समझने में संदिग्धता बनी रहती है। कहीं-कहीं वैसी ही निराशा बनी रहती है जैसी निराशा नारियल की जटा हटाकर कड़ा कोष तोड़कर भी नीचे की गिरी न मिलने पर, या बुरी मिलने पर होती है !

एक स्थान पर कवि का भाव यह है कि गांधीजी अनंत यौवन-शाली हैं और उस यौवन में आत्म-साधना की प्रेरणा है, वासना की नहीं ; किन्तु भाषा किसी दूसरी ओर ही चलती चली गई है। लिखते हैं :—

श्रेष्ठ रथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के
यात्री हो, अनन्त काल पथ के
नित्य के अनंग की अरुणिमा
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा ;
उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति भरी प्रीता से
वय की दुरन्त झकझोर झोर
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर ?
प्रियता, अतन्द्र प्रेम—प्रियता,
वह है तुम्हारी क्रिया क्रियता
अहरह सर्व काल ।

'आत्म रथ' शायद 'आत्मा रूपी रथ' को कहते होंगे। 'आत्म ज्ञान' तो ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मा का ज्ञान होता है। परन्तु 'आत्म

कल्याण' 'आत्म-गौरव' 'आत्म घात' में 'स्वकीय' या 'अपने' का भाव निहित है।

यहाँ 'अपना रथ' न लेकर 'आत्मारूपी रथ' लिया गया है। सूर्य भगवान जैसे अपने रथ में चलते हैं वैसी ही कल्पना आत्मा रूपी रथ चलाने की की गई है। सूर्य के सारथी अरुण हैं; परन्तु यहाँ स्वयं ही रथ हाँकने का भाव है। इसीलिए 'श्रेष्ठ रथि' कहा गया है। आत्मा रूपी रथ अरुद्ध है इसकी गति रुकती नहीं। यह चलता ही जाता है; इसीलिए अनन्तकाल पथ के यात्री बताया गया। आत्म साधना का कितना विकट रूप है ? साधना के लिए आत्मरथ चलता ही रहना चाहिए।

अब 'अरुणिमा' और 'तरुणिमा' की जोड़ी पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 'आत्म साधना' और अनंग का संबंध दिखाना यहाँ व्यर्थ था। चिरंतन कामदेव (नित्य के अनंग) बिना शरीर के हैं उनकी अरुणिमा महात्माजी का यौवन कैसे बन जायगी ? परन्तु निरंतर गतिशील सूर्य के रथ का दृश्य कवि के सम्मुख था। वहाँ 'अरुण' रथ को हाँकता है, तो 'अरुणिमा' (अरुण की स्त्री) को भी कहीं न कहीं खींचे बिना कल्पना अधूरी ही रह जाती ! और 'अरुणिमा' आई तो 'तरुणिमा' शब्द गढ़कर तुक मिलाना आवश्यक हो गया।

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कवि का, भाव केवल यह है कि आत्म-साधना की प्रेरणा से महात्माजी अनन्त यौवनशाली हो गए हैं, किन्तु भाषा कुछ और ही हो गई है। 'अनंग', 'अरुणिमा', 'तरुणिमा', 'परिणीता'— शब्द लाकर संकेत स्पष्ट रूप से वासना की ओर हो जाता है। भाषा भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने में असफल ही नहीं रही, यहाँ भावों के प्रतिकूल भी चल रही है।

अब 'परिणीता' कौन है ? अनंग की 'अरुणिमा' ? या पुण्य की विश्वास भरी प्रीता ? 'प्रीति' का अर्थ 'अनुराग' है और

कामदेव की स्त्री (रति की सौत) का नाम भी 'प्रीति' है। पता नहीं यहाँ 'प्रीता' से क्या तात्पर्य है ? 'प्रियता' और 'क्रियता' की जोड़ी भी कम रोचक नहीं ! कवि कहते हैं—

'निरालस्य' प्रेम की प्रियता तुम्हारी क्रिया क्रियता हो गई है।' प्रिय शब्द से 'प्रियता' (प्रिय होने का भाव) तो शुद्ध ही है, परन्तु 'क्रिया' तो स्वयं संज्ञा है। 'क्रिया' से क्रियता' कैसे हो जायगी। संस्कृत भाषा में 'क्रिय' का अर्थ 'मेष' राशि है, परन्तु 'क्रिय' से भी 'क्रियता' का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। छन्द की भाषा का अर्थ करना असंभव है। प्रेम की प्रियता किसी की क्रिया क्रियता बन ही कैसे जायगी ?

'बापू' में इससे भी कठिन छंद भरे पड़े हैं। इससे भी अधिक असंगति और अस्वाभाविक कल्पनाएँ अन्य छन्दों में सुगमता से मिल जाती हैं।

सन्दिग्ध वातावरण

कठिन छंदों को छोड़कर अब हम ऐसे मुक्तक (उन्नीसवें गीत) को लेते हैं जिसकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है और जिसकी भाषा भी बोधगम्य है। भाषा-प्रवाह सुन्दर होने के अतिरिक्त संसार में इस समय लगी हुई अग्नि का अच्छा वर्णन है। मानवीकरण अलंकार और अध्यवसित रूपक के अतिरिक्त भय, शोक, विषाद, विस्मय, इत्यादि भावों का दिग्दर्शन भी होता है। लिखा है—

धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
एक साथ धुसि त्याग
प्रखर प्रत क्षण क्षण क्षण में
क्षुब्ध होरही है समुच्चालित समीरण में
धाम वह धाँय धाँय
धूम का गुँगाटा भरे भाँय भाँय

सब निराश्रय खड़े जन हैं
भय से विषण्ण मन, दाह दग्ध तन हैं

× × ×

चीर कर अन्तर सा
प्रज्ज्वलन्त ज्वाला की घहर का
सहसा सुनाई पड़ा माता का व्यथित रोर
कोमल में तीव्र घोर—
"भीतर कहाँ है अरे मेरा लाल, मेरा लाल !"
सब अवसन्न से निमेष काल
'मेरा लाल !' व्योम में ध्वनित था,
"मेरा लाल, मेरा लाल" वायु में स्वनित था
सबके उरों में वही "मेरा लाल !"
सबके सुरों में वही "मेरा लाल, मेरा लाल !"

अब बताते हैं कि यह माता विश्व-माता ही है। विश्व भर में आग लग रही है। भारत विश्वमाता का लाल है जो जलने वाला है। उसको बचाने सहसा कोई आ जाता है। लिखते हैं—

माता ! यह माता विश्वमाता है।
इसके हृदय बीच उमड़ा सा आता है
दुःख, शोक, ताप विश्व भर का
इसका प्रदाह नहीं भीतर के स्तर का
दीख सके मात्र एक क्षण को
म्लान, हततेज इस गेह का दहन हो !
दृष्टि में करालोन्माद,
भाल पर भासित महा विषाद
वेणी-बन्धमुक्त, पड़ा झुलसा
वस्त्र तन मध्य कहीं उलझा

हड्डियाँ झँपाती हुई
सारा वायुमंडल कँपाती हुई
दीख पड़ी विद्युत की एक ही चमक सी
प्रज्ज्वलन-राग की गमक सी
क्षण में अदृश्य हुई ज्वालित सदन में
अन्तरित तब भी अदर्शन में
गूँजा स्वर तत्क्षण बिना विलम्ब—
"धीरज न खोओ अम्ब! धीरज न खोओ अम्ब!"
और कोई माता का नवीन लाल
भारी भीड़ में से निज को निकाल
धावित था माता के चरण चिह्न धरके,
गति में दुरन्त वेग भरके!

× × ×

"भीत न हो, भीत न हो डर से"
उसका पुनीत गान आ रहा है भीतर से
'धाम यह विस्तृत है धूम मय
भीतर नहीं है अभी वैसा भय"
छिन्न कर भीति जाल
"आओ तो, निकाल लें, कहाँ है वह माँ का लाल?"

× × ×

धाँय, अब भी है वह धाँय धाँय;
धूम का गुंगाटा भरे भाँय भाँय;
सब निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं।
भय से विषण्ण मन दाह दग्ध तन हैं
सबकी पुकार है यही है राम!
"अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम।"

स्पष्टतः 'माता का नवीन लाल', महात्माजी हैं, जो जलती आग में, भारतवर्ष को बचाने के लिए, यकायक कूद पड़े हैं। भाव भी अच्छे हैं, भाषा भी अच्छी है। अलंकार भी आ गये हैं। परन्तु एक बात रह रह कर खटकती है। क्या यह सारी कल्पना अनुचित नहीं है? क्या वृद्ध भारतवर्ष इतना नन्हा लाल होगा जितना गीत में दिखाया गया है? क्या बापू को उस नन्हे लाल का बड़ा भाई बता देना ठीक है!!

जिस आलोचक ने जैसा जब चाहा उसने 'मेरे लाल' की वैसी ही कल्पना कर ली है। एक ने लिखा 'लाल' मानवता है। यदि मानवता ही एक 'लाल' है तो विश्व-माता का दूसरा 'लाल' इसी मानवता का ही तो एक 'लाल' हुआ। मानवता और एक मानव दोनों को समवयस्क बताना और भी अनुचित है। एक अन्य आलोचक ने लिखा, यहां भारत माता को ही विश्व-माता बताया गया है। यदि यही बात ठीक मानें तो जलते हुए घर में भारत माता का कौन सा लाल रह गया था? यदि भारतवर्ष आग में जल रहा था तो 'बापू' भी तो उसी आग के बीच रहे होंगे, बाहर कहाँ से आकर कूदे होंगे? वास्तव में कवि ने सारा वातावरण संदिग्ध बनाकर छोड़ दिया है। आवेग में जैसी कल्पना सामने आई बिना मनन किये वैसी की वैसी ही रख दी है। पढ़ने पर बोध होता है कि विश्व-माता का एक 'लाल' तो देश भारत है, दूसरा लाल चीन, ईरान, मिश्र, रूस, अमरीका देश न होकर, पहले देश भारत का ही एक मनुष्य है। विश्व-माता का एक 'लाल' तो भारत देश और दूसरा लाल, भारत का एक पुत्र।

सारी कल्पना असंगत एवं अस्वाभाविक है। प्रथम तो गीत की भाषा ही सन्दिग्ध है, दूसरे जो कुछ भी अर्थ लें, उस अर्थ से वह गीत अनौचित्य की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रतीत होता है।

अवश्य, कविवर ने जो कुछ लिखा है वह एक अनन्य भक्त की भावना से प्रेरित होकर ही लिखा है। प्राणि मात्र में सत्य और अहिंसा का प्रचार करने वाला, संसार का महान् व्यक्ति अटूट श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति का पात्र होता है। ऐसे महात्मा का यशोगान करने में भक्त कवि अपने भावों के प्रदर्शन में यदि अनुचित बातें भी लिखें, तो भी क्षम्य हैं। भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही प्रभु को देखता है। श्री सियारामशरणजी के लिये तो महात्माजी एक विराट् तीर्थ थे। उस तीर्थ के विपुल सलिल से, दूसरों को पिलाने के लिये, उन्होंने अपनी छोटी-सी गगरी भर ली है। उसके थोड़े से यशोगान से अपनी छोटी-सी रचना पूरी कर ली है। विराट् तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई में वे नहीं पहुँच सके हैं; किन्तु यह छोटी सी गगरी ही उनकी तृप्ति-पिपासा को शान्त करने के लिये पर्याप्त है। अपनी इस कृति से उन्हें संतोष है। इन भावों से प्रेरित होता हुआ 'बापू' का अंतिम गीत सुगेय है। इसकी स्वर-लहरी से भक्त-हृदय झनझना उठता बताया गया है। इसलिए यह अन्तिम गीत यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है। लिखा है:—

तेरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी,
कल कल्लोलित धारा पाकर
तट पर ही यह तरी तरी।

तेरे क्षीरोदधि का पदतल
जहाँ शान्ति लक्ष्मी है अविचल,
फुल्लित फलित जहाँ मुक्ताफल
नहीं ला सकी पहुँच वहाँ की
पुण्य सुधा कल्याण करी

तेरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी ।

पाया पा सकती थी जितना
अधिक और भरती यह कितना ?
कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना ?
गहरी नहीं जा सकी तब भी
तृप्ति पिपासा हरी हरी
तेरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी ।

कवि के भाव बड़े अच्छे हैं, इसमें किंचित् भी संशय नहीं है। किन्तु भाषा भटक रही है। 'भरी भरी', 'तरी तरी' 'हरी हरी' 'कम क्या कम क्या, कम क्या', इत्यादि पुनरावृत्तियाँ अनावश्यक हैं। बार-बार शब्दों को दुहराने से भाषा में जोर नहीं आ पाया। हम यह नहीं समझ सकते कि 'तट पर ही यह तरी तरी' क्या अर्थ करें ? बात गगरी भरने की कही जा रही है; भाव यह है कि तट पर से ही गगरी भर ली है; किन्तु अर्थ अब यह होगा कि "किनारे पर ही मेरी तरी (नाव) तर गई।" नाव और गगरी में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकेगा ? नाव आ कहाँ से गई ? उत्तर, सिवाय इसके कुछ नहीं कि 'भरी भरी' की तुक मिलाने के लिए अनावश्यक शब्द 'तरी तरी' लाने पड़े। यह सोचने का समय कहाँ कि गगरी के साथ नाव बताना ठीक नहीं। नाव तट पर ही तिर कैसे सकती है ? तट पर 'तरी' में बैठ कर गगरी भरना और भी अनुचित है ?

कहना यह है कि विराट तीर्थ-सलिल की गहराई में जाकर पुण्य-सुधा नहीं ला पाये। उसके लिए तीर्थ-सागर को क्षीर सागर बता देना कहाँ तक उचित है ? 'क्षीरोदधि का पद तल' क्या होता है ? 'पद तल' अधिक से अधिक किसी छोर को कह सकते हैं।

यदि गहराई ही लें तो क्या क्षीर-सागर की गहराई में लक्ष्मी ऊपर आई थीं। क्या समुद्र की गहराई में फिर पहुँच कर लक्ष्मी अविचल हो गई? कवि के चित्त में तो वास्तव में क्षीर-सागर में लेटे हुए विष्णु भगवान् के पदतल के पास बैठी हुई शान्त लक्ष्मीजी की मूर्ति बसी हुई है। किन्तु उस मूर्ति का वर्णन भाषा में नहीं कर सके। बोध यह होता है कि समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी फिर समुद्र की गहराई में पहुँच कर अपना चंचल स्वभाव छोड़ चुकी है!!

अब कवि के अनुसार, समुद्र की गहराई में, क्षीर-सागर की गहराई में, विशेष कर मोती के वृक्ष होते हैं जिनमें फूल आते और फल लगते हैं। इसलिए वह कहते हैं "फुल्लित फलित जहाँ मुक्ताफल!" मोती कहाँ फूले और फले होंगे? सीप अवश्य फूलती है; किन्तु उसमें भी फूल नहीं आते और न फल ही आते हैं। संस्कृत भाषा में 'मुक्ता' और 'मुक्ताफल' दोनों शब्द 'मोती' के लिए व्यवहृत होते हैं, 'मुक्ता' स्त्रीलिंग है, 'मुक्ताफल' नपुंसक लिंग। संस्कृत भाषा में 'फल' का अर्थ केवल वृक्षों के फलों के लिए ही सीमित नहीं है। उसका विस्तृत क्षेत्र है जो 'योग फल', 'गुणन फल' शब्दों से समझा जाता है। केवल 'मुक्ता फल' शब्द से ही मोतियों का फलना और फूलना लिख देना उचित नहीं है। 'तृप्ति पिपासा हरी हरी' भी संदेह में ले जाने को उद्यत है। 'तृप्ति' और 'पिपासा' में विरोध है। यहाँ अर्थ करना होगा कि आत्म शक्ति की अर्थात् आत्मा की शान्त करने की पिपासा हर ली गई। यानी आत्मा शान्त हो गई। 'हरी हरी' का अर्थ होगा 'हर ली गई'। किन्तु यह अर्थ भक्ति भावना के प्रतिकूल होगा, क्योंकि भक्त तो प्रभु का गुण-गान बारम्बार करता है। उसे एक बार में तृप्ति हो कैसे सकती है? 'मानस' में कहा है कि—

राम कथा जो सुनत अघाहीं।
रस विशेष पावा तिन नाहीं॥

इसलिए अर्थ करना होगा कि 'तृप्ति पिपासा' फिर भी ताजी, टटकी (हरी) बनी हुई है। यह अर्थ कवि के गगरी भर लेने के भावों के प्रतिकूल होता है !!

पता नहीं कवि को कौन सा भाव रुचिकर प्रतीत होगा? कवि ने तो 'भरी भरी' 'तरी तरी' 'हरी हरी' लिख कर अन्त्यानुप्रास और पाद-पूर्ति का कठिन कार्य पूरा कर दिया। पाठक जैसा चाहें वैसा अर्थ करते रहें !!

यदि भाषा की यह व्यवस्था दो एक गीत में ही होती तो हमें कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु जहां पग पग पर दुरूह समास, क्लिष्ट संधिज शब्द और अशुद्ध प्रयोग अर्थ का अनर्थ करते चले जा रहे हैं, वहाँ मौन धारण करना क्षम्य नहीं है।

जिस खड़ी बोली की कविता के मार्ग को स्वर्गीय पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी ने निश्चित और परिमार्जित करने का अत्यधिक प्रयत्न किया था, वही खड़ी बोली की कविता 'बापू' में आकर संदिग्धता, क्लिष्टता, जटिलता और अनौचित्य के भँवरों में पड़कर बुरी तरह डाँवाडोल हो रही है।

अधिक न लिखकर 'बापू' के अन्तिम गीत के राग में राग मिलाकर, उसी गीत की भाषा में लिखे हुए एक छंद को उद्धृत करके हम अपने लेख को समाप्त करते हैं :—

'बापू' पढ़ कर देखी,
हिन्दी की यह बोली खड़ी खड़ी !!
कूट, जटिल, संदिग्ध पदों से,
अथ से इति तक कड़ी-कड़ी !!
कैसा क्षीरोदधि का पदतल ?
कहाँ पहुँच होती भी अविचल ?
फूले फले कहाँ मुक्ताफल ?

नहीं पहुँचती बुद्धि यहाँ तक,
असहयोग कर रही अड़ी।
'बापू' पढ़ कर देखो—
हिन्दी की यह बोली खड़ी खड़ी !!

पढ़ा, आज पढ़ सकता जितना,
अधिक और पढ़ता मैं कितना ?
कुछ तो समझा, कम क्या इतना ?

अर्थ अनर्थ हो रहा इससे
कहता भाग्य हड़ी हड़ी !!
'बापू' पढ़ कर देखो—
हिन्दी की, यह बोली खड़ी खड़ी !!

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त'

(१)

बिहार के प्रसिद्ध कवि पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने पहले भी 'निर्माल्य एवं 'एकतारा' सरीखी सुन्दर रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान की हैं। 'आर्यावर्त' लिख कर उनकी कवि-प्रतिभा और भी अधिक प्रस्फुटित हुई है। हिन्दी भाषा में यह अमित्राक्षर छन्द में सर्व प्रथम महा काव्य बताया जाता है।

कथानक

तेरह सर्गों में, अतुकान्त मुक्त छन्दों में इस महा काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' का कुछ हेर-फेर के साथ नवीन राष्ट्रीय चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। महाराज पृथ्वीराज की पराजय के अनन्तर दो प्रसिद्ध शूरवीर आहत श्रान्त एवं क्लान्त योद्धा महाकवि चंद एवं राणा समरसी एक देवी मंदिर में मिल कर युद्ध-वर्णन करते हैं। उधर राजा जयचंद के सामने शहाबुद्दीन गोरी पराजित एवं बन्दी महाराज पृथ्वीराज की आँखें निकलवाता है और उनको अन्धा कर देता है। कवि चंद दिल्ली आकर महा-राणी संयोगिता से पराजय का हाल निवेदन कर दूसरे युद्ध के लिये प्रार्थना करते हैं। इस युद्ध में महाराणी संयोगिता के सेना-पतित्व में सारे भारत के नरेन्द्र युद्ध के लिये आते हैं। महाराणी संयोगिता अपने पिता राजा जयचन्द्र को पत्र भेजती है। देशद्रोह के पाप के प्रायश्चित स्वरूप राजा जयचन्द्र देशभक्त बन कर युद्ध के लिये आते हैं। भीषण युद्ध में राजा जयचंद मारे जाते हैं और आर्य-सेना की विजय होते ही शहाबुद्दीन गोरी भाग जाता है। युद्ध के पूर्व ही बन्दी एवं अन्धे पृथ्वीराज गजनी भेज दिये जाते हैं।

कविचन्द मुसलमान फकीर शाह का भेष बना कर महाराज पृथ्वीराज से मिलने गजनी जाते हैं। वहाँ 'शाह' नामधारी कवि चन्द के चमत्कार देखकर मुसलमान प्रजा मुग्ध हो जाती है और वहाँ का वजीर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी को इस करामात की खबर देता है। सुलतान जाकर फकीर शाह के पैरों पर लोट कर भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करने के लिये विजय-यात्रा का मुहूर्त वगैरा पूछते हैं। शाह कहते हैं कि पहले कैदी पृथ्वीराज का भाग्यलिपि देख लूँ तब कुछ बता सकूंगा। इस बहाने फकीर बने महाकवि चन्द कैदखाने में महाराज पृथ्वीराज से मिलते हैं और शहाबुद्दीन गोरी के मारने की व्यवस्था कर जाते हैं।

वापिस आकर 'शाह' फकीर सुलतान गोरी से कहते हैं कि भारत पर चढ़ाई करने के पहले पृथ्वीराज से धनुर्विद्या तो सीख लो! यह भी कहते हैं कि मन-मन भर के ७ लोहे के तवों को अन्धे पृथ्वीराज शब्दभेदी बाण द्वारा तोड़ सकते हैं। सुलतान सहमत होकर पृथ्वीराज का वह कौशल जनता को दिखाने को उद्यत होता है। अशान्त जन समूह के बीच उच्च मंडप में बैठे गोरी की आज्ञा से पृथ्वीराज के हाथों में जयचन्द से उपहार में मिला हुआ धनुष दिया जाता है। प्रत्यंचा चढ़ाकर पृथ्वीराज ऐसा बाण मारते हैं कि सातों तवे तड़ा तड़ टूट-फूट जाते हैं। सुलतान के मुँह से "वाह-वाह" शब्द निकलते ही दूसरे बाण से पृथ्वीराज सुलतान को भी मार डालते हैं; और शाह (महाकवि चन्द) और महाराज पृथ्वीराज आपस में तलवार द्वारा कट मरते हैं।

'आर्यावर्त' की कथा इतनी ही है। परन्तु कहने का ढंग अपूर्व है, भाषा प्रवाह भी बड़ा ही अच्छा है।

अनैतिहासिकता

जो बात खटकती है वह है 'आर्यावर्त' की अनैतिहासिकता। हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि काव्य का सत्य एक भिन्न

प्रकार का सत्य हुआ करता है। कवि को यह अधिकार नहीं है कि ऐतिहासिक असत्य की कल्पना करके उसकी नींव पर अपने काव्य की भित्ति खड़ी करने का आयोजन करे। अगर कवि ऐसा करता है तो वह अनधिकार चेष्टा है और प्राचीन काव्य शास्त्र के अनुसार वह काव्य-दोष माना गया है। काव्य शास्त्र में पुराण और इतिहास को सुरक्षित रखना भी कवि का एक कर्तव्य बताया गया है। प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अभी तक अंधकार से पूर्णतः बाहर आने का गौरव प्राप्त नहीं कर सका है। ऐसी परिस्थिति में यदि कवि ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं कर सकते तो कम से कम यह गुत्थियाँ उलझाने का प्रयत्न तो उनको न करना चाहिये। इतिहास इस बात का साक्षी है कि महारानी संयोगिता के अधीन न तो कोई सेना गोरी से लड़ी थी और न राजा जयचंद किसी राष्ट्रीय सेना में सम्मिलित ही हुए थे। महाराज पृथ्वीराज के पराजय के अनन्तर पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर की गद्दी पर बिठा दिया था। उस समय जिस व्यक्ति ने राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया था वह पृथ्वीराज का भाई हरिराज था जिसने विदेशी सुलतान के अधीनस्थ गोविंदराज का राजा होना स्वीकार नहीं किया था और थोड़े दिन बाद गोविंदराज से उसने अजमेर की गद्दी छीन ली और वि० सं० १२५० (ई० सन् ११७३) में शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने हरिराज के सेनापति चतरराय को हराकर दिल्ली छीन ली और वि० संवत् १२५२ में अजमेर भी छीन लिया था। इसी दरमियान में राजा जयचंद से कन्नोज का राज्य भी छिन गया था; और राजा जयचंद दिल्ली से दूर चंदवार के पास लड़ते लड़ते मारे गये थे। यदि हरिराज और राजा जयचंद एक हो जाते तो कोई विदेशी सत्ता ऐसी नहीं थी जो सम्मिलित शक्ति को इस प्रकार नष्ट भ्रष्ट कर सकती। यदि परस्पर फूट न होती तो भारत का भाग्य-सितारा कुछ और ही हुआ होता।

ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर संयोगिता के स्थान पर हरिराज को सेनापति बनाकर 'आर्यावर्त' का कवि नवीन भारतीय राष्ट्रीय शक्ति दिखा सकता था और राजा जयचंद की अलग रहने की नीति पर आक्षेप करते हुए भाई-भाई की फूट द्वारा भीषण कुपरिणाम—आर्यावर्त का पतन—दिखलाकर भविष्य के लिये एकत्र शक्ति पर जोर देकर कविता में नवीन जीवन फूँक सकता था।

कवि ने एक अच्छा अवसर हाथ से जाने दिया, इसका खेद है। ऐतिहासिक असत्य के आधार पर जो काव्य-भवन निर्माण किया गया है उसकी नीव दृढ़ हो नहीं सकती। वह काव्य किस प्रकार हृदयग्राही हो सकता है जो प्रारंभ से अंत तक असत्य पर निर्धारित हो। जिस काव्य में भगवान राम पर यह दोष लगाया गया हो कि उन्होंने मन्दोदरी का हरण किया और जो काव्य यह बताता हो कि लक्ष्मण रावण से मिल गये थे वे काव्य कितनी ही ओजस्वी भाषा में लिखे जायँ, कभी भी पाठकों के हृदय को पूर्णतः प्रभावित नहीं कर सकते। ऐतिहासिक तथ्य का आधार लेना आवश्यक है; इस दृष्टि से 'आर्यावर्त' का साहित्यिक मूल्य अवश्य कम होगया है।

ओजपूर्ण काव्य

फिर भी, 'आर्यावर्त्त' अत्यन्त ओजपूर्ण काव्य है। भाषा-प्रवाह एवं प्रबन्ध-सौष्ठव भी प्रारम्भ से अन्त तक सुरक्षित रहा है। आर्य जाति की महत्ता एवं राष्ट्रीयता की भावना से तो यह काव्य ओत-प्रोत ही है।

राणा समरसी का देहान्त होने के 'अनंतर देवी के मंदिर में महाकवि चंद आते हैं और देखते हैं कि देवी के चरणों में समरसी लिपटे पड़े हैं। इस समय कवि के भाव एवं भाषा ध्यान देने योग्य हैं। कवि लिखता है:.........

एक आघात लगा
कवि के हृदय को
किन्तु सहा उसने
कठोरता से वज्र को।
क्षण भर स्तब्ध रहा
चंद हतप्राण सा
फिर अट्टहास कर
बैठ गया, हाय रे,
मानव है कोमल
सिरिस फूल से भी किन्तु
वज्र से भी कठिन
हृदय दिया विधि ने।
जिन नयनों से
करुणा की सुरधुनि दिव्य
फूट पड़ती है,
उन्हीं आँखों से प्रलय की
ज्वाला सर्व ग्रासिनी
विभासिनी भड़कती!
बोला कवि चंद—
'हे नृमुण्डमाल-धारिणी
जन प्रति पालिनी
हे स्ववश विहारिणी
मातः किस दोष से
हुई हो रुष्ट इतना
इस स्वर्ण देश को
यों मरघट बना दिया
सर्पिणी सी निज
सन्तान को चबाती हुई

हाय, "जगदम्बा" का
लजाया पद तुमने !!!
कर सकती जो नहीं
त्राण आर्त-जन का तो
धारण किया है क्यों
कृपाण तूने कर में
बोल बोल चंडी,
बोल महिष–विदारणी !
डूबती है लाज आज
तेरे करवाल की ।

भाषाप्रवाह आदि से अन्त तक ऐसा ही चला गया है। एक बार काव्य उठाकर प्रारम्भ किया तो अन्त तक उसका जादू पीछा नहीं छोड़ता। भाषा की प्रशंसा जितनी की जाय थोड़ी है।

काव्य के प्रारंभ में विद्वद्वर पं० रामदहिन जी मिश्र की ४४ पृष्ठ की वृहत समालोचना है जिसमें "आर्यावर्त" की राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुस्लिम-सद्भाव, ध्वनि-व्यंजना, प्रकृति-पर्यवेक्षण, रस-चमत्कार, अलंकार, भाव-साम्य, एवं 'आर्यावर्त' के भावपूर्ण स्थलों पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है।

इस समालोचना के अधिकांश से पाठक सहमत होंगे। अवश्य, कहीं कहीं प्रतीत यह होता है कि भाषा-सौष्ठव एवं भाषा-प्रवाह ने विद्वद्वर मिश्र जी को इतना आनन्द-विभोर कर दिया है कि प्रत्यक्ष काव्य दोषों को भी गुणों में परिवर्तित करने का वे प्रयत्न करते चले गये हैं।

एक दो उदाहरण देने अनुचित न होंगे। बन्दी महाराज पृथ्वीराज को शब्द भेदी वाण का कौशल दिखलाने के लिये गजनी के महल में लाया जाता है। हाथी पर वैठे महाराज जब रास्ते से आते हैं तो जनता के उस समय के हृदय के भाव कवि ने बड़ी खूबी के साथ दिखलाए हैं। कवि कहते हैं:—

सोचा जनता ने
आह, गौरव है कितना
होना प्रजा ऐसे
देव तुल्य नरनाह की
सोचा सैनिकों ने
धन्य भाग्य उस सेना का
होगी जो अधीन
ऐसे सिंह सेनानी के
सोचा वृद्धों ने—
'बड़े पुण्य से ही अन्त में
प्राप्त होता है जल
ऐसे पुत्र रत्न का'
सोचा युवकों ने—
'यदि नेता मिले ऐसा तो
ठोकरों से धूल में
मिलादें ब्रह्माण्ड को।'

इन पंक्तियों को उद्धृत करते हुए विद्वद्वर्य मिश्र जी लिखते हैं :—

'जनता सैनिक, वृद्ध और युवकों ने जो-जो सोचा है वह इन सबों के लिये यथा-योग्य ही है। इसी से तो कहा गया है कि, 'चकास्ति योग्ये नहि योग्य संगमः! 'योग्य से योग्य का संगम ही शोभाशाली होता है, कौन नहीं ऐसे नर-रत्न को पाकर अपनी मनमानी सोच सकता है। यह उद्धरण उल्लेख अलंकार के कैसे सुन्दर उदाहरण है !!'

'आर्यावर्त' के कवि एवं आलोचक दोनों भूल गये कि, वास्तव में, गजनी की मुसलमान जनता के हृदय के भावों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है और यह वर्णन उस समय का है जब इस्लाम में नया जोश छाया हुआ था। इस्लाम मजहब को आये हुए इस

संसार में मुश्किल से चार सौ-पाँच सौ वर्ष हुए थे। उस समय वहाँ अवश्य ही हिन्दुओं की तरह मृत बाप को बेटा पानी देता होगा! और अंत में यह पानी मिलना वहाँ अवश्य ही 'पुण्य माना जाता होगा!! तभी बुड्ढे-बुड्ढे मौलानाओं ने सोचा होगा कि पृथ्वीराज सरीखे पुत्र-रत्न का दिया हुआ पानी बड़े पुण्य से मिलता है' तभी 'हिन्दू राष्ट्र सेवा संघ' की तरह नवयुवक मुसलमानों ने सोचा होगा कि, पृथ्वीराज के नेतृत्व में 'ब्रह्माण्ड' को भी ठोकरों से मिटा देंगे!! और मूर्तिपूजक ही की तरह एक देवमूर्ति 'तोड़क' गजनी की मुसलमान जनता ने 'देवतुल्य नरनाह' की कल्पना अवश्य की होगी!! अवश्य ही उल्लेख अलंकार का यह उत्कृष्ट उदाहरण है!!

महाकवि चन्द को मुसलमान फकीर बनाकर दिखाया गया है। परंतु उनके परिवर्तित भेष के अनुसार उनकी भाषा में परिवर्तन नहीं किया। पृथ्वीराज जब शब्द भेदी बाण का कौशल दिखाने वाले हैं उस समय 'शाह' नामधारी चंद कवि और सुलतान गोरी का वार्तालाप देखिये। कवि कहते हैं।

'आये तब शाहजी प्रशान्त धीर गति से
कम्बल लपेटे हुए प्रभुनाम जपते।
आसन से उतर स्वयं सुलतान ने
सादर झुकाया शीश, टेक कर घुटने।'
और कहा 'गुरुदेव, हम कृतकृत्य हैं
पदरज पाके आप मंच पर बैठिये'
बोले शाह 'यों तो नहीं जाता
किसी घर में किन्तु मैं बँधा हूँ
सुल्तान के स्नेह से।
रमता फकीर हूँ,
न मान अपमान की चिन्ता
मुझे—मेरी सभी लालसायें तृप्त हैं।

आसन ग्रहण करें आप, जरा घूम
के देखूँगा—थकूँगा तो कहीं भी
बैठ जाऊँगा !'
'आज्ञा शिरोधार्य है'
कहा यों सुलतान ने, शाह
लगे रँगशाला घूम कर देखने।

'गुरुदेव', 'कृतकृत्य', 'पदरज', 'आज्ञा शिरोधार्य' इत्यादि शब्दों से राम और वशिष्ठ-सम्वाद की भाषा प्रतीत होती है न कि एक मुसलमान बादशाह और एक मुसलमान फकीर के सम्वाद की।

एक अन्य स्थान पर शाह सुलतान से कहते हैं।

"वह विश्व व्यापी ही फलाफल का दाता है हमतो बँधे हैं पशुवत्
कर्म रज्जु में।"

शायद मुसलमान फकीर 'कर्मरज्जु' का अस्तित्व मानते होंगे। गोरी के महल के 'सिंहपौर' का भी वर्णन है, यथा।

'सिंहपौर रक्षित है संख्यातीत वीरों से'

हिन्दू शिल्पकला के अनुसार ही शायद वहाँ भी 'सिंहपौर' बनाने की प्रथा रही होगी और हिन्दू नारियों की तरह ही गजनी की बेगमें 'नूपुर' और 'किंकिणी' पहनती होंगी तभी तो कवि ने लिखा है :—

यों तो निस्तब्धता है बेगमों में,
फिर भी नूपुरों की, किंकिणी की
मीठी झंकार से खिंच जाता है ध्यान
उस ओर सबका।

आर्यावर्त की रहन-सहन, वेषभूषा, वैसी की वैसी गजनी में भी मान कर कवि ने काव्य-कला के साथ अन्याय किया है।

अनैतिहासिकता के अनन्तर यह दूसरा दोष इस प्रबंध-काव्य में अलग दिखाई दे रहा है।

(२)

'आर्यावर्त' में युद्ध-विद्या के सिद्धान्त एवं अस्त्र-शस्त्र सम्बन्धी अनभिज्ञता का भी कहीं कहीं परिचय दिया गया है। मध्यकालीन भारत में भी, पैदल, घुड़सवार, एवं हाथी-सवार होते थे। रथ कम होने लगे थे, और हाथी पर चढ़ कर ही अधिकतर राजा लोग युद्ध करते थे, पैदल सेना के आयुध-धनुष, बाण, ढाल, तलवार, फरसा थे। हाथी के सवार एवं घुड़सवार ही कवच धारण करते थे। कवच केवल युद्ध के समय ही सवार पहनते थे। कवच एवं ढाल शरीर रक्षा के लिये होते थे। विशेष कर, एक सवार का रक्षक था, दूसरा पदाति (पैदल सिपाही) का। घुड़सवार एवं हाथी-सवार बराबर ढाल लेकर नहीं लड़ सकते थे; और बाणों की बौछारों से शरीर की रक्षा आवश्यक थी इस लिये कवच पहनते थे। तलवार से लड़ने वाले पैदल सिपाही ढाल से अपनी रक्षा किया करते थे। ढाल तलवार वाले को कवच की आवश्यकता ही क्या होती थी। दूसरे, कवच या जिरहबख्तर) पहन कर पैदल चलने में अत्यंत कठिनाई भी होती थी। हाथी से हाथी, पैदल से पैदल, अश्व से अश्व लड़ने का साधारण नियम था। रथी या सवार अपने सिर पर लोहे का टोप (शिरस्त्राण), शरीर पर कवच, हाथों पर गोधांगुली त्राण और उँगलियों की रक्षा के लिये भी आवरण रखते थे। हाथी-सवार सेना के आगे रहते थे; पैदल पीछे रहते थे। इसलिए कवच, शिरस्त्राण इत्यादि का उनको पहिनने का नियम न था। जिनके पहिनने का नियम भी था वे भी केवल युद्ध के समय ही पहना करते थे।

कवच मे अतिशय प्रेम

'आर्यावर्त' के कवि ने इन नियमों की ओर किंचित् भी ध्यान नहीं

दिया इसीलिये प्रहरी तक को कवच पहना दिया है। राजा जयचन्द की सभा का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं:—

घूमते हैं प्रहरी कृतान्त
से भयावने
उन्नत शरीर पर
कवच कसे हुए
एक-एक पग धरते हैं
मत्त नाग सा
जैसे घूमते हैं
सिंह निर्जन कछार में।

यही नहीं, कवि ने रानी संयोगिता के महल के अन्दर मंत्रणा-भवन में रानी के साथ जाती हुई चेरियों तक को कवच पहना कर ढाल तलवार देकर कमाल किया है। यह मंत्रणा-भवन कहीं किसी जंगल में नहीं है, राज-प्रासाद के अंदर है और इस राज-प्रासाद के द्वार भी बन्द हैं। कवि के अनुसार,

द्वार सब रुद्ध हैं
सतर्क शस्त्रधारी हैं
घूम रहे चारों ओर
निर्जन कछार में
जैसे घूमते हों व्याघ्र
टोह में शिकार की।

फिर भी स्त्रियों को कवच पहना कर उत्प्रेक्षा अलंकार दिखाना ही अभीष्ट था!! कवि लिखते हैं :—

साथ में थीं चेरियाँ,
कृपाण लिए कर में
जिन हाथों में मेंहदी
की भरी लाली थी

उन्नत उरोज पर
कवच कसे हुए,
बन्दिनी है मानो
सुकुमारता हृदय की
क्रूर कर्त्तव्य रूपी
वज्र के कपाट में
पीठ पर डोलती थी
वेणी साथ ढाल के
कच्छप की पीठ पर
लोटती थी सर्पिणी
क्षीण कटि में था
कटिबन्ध और उसमें
झूलता था म्यान
रत्न जटित सुहावना।

आलोचना में इन पंक्तियों पर मिश्र जी लिखते हैं,

'समयानुसार कविकी उत्प्रेक्षा प्रशंसनीय ही नहीं पुरस्करणीय भी है'

वृहन्नला बने अर्जुन को यह अफसोस था कि जिस स्थान पर वह कवच पहिनते थे उसी अंग पर उन बेचारों को कन्चुकी पहिननी पड़ती थी। धनुष की प्रत्यन्चा के घात से बचाने के लिए हस्त बन्धन, तलत्राण के स्थान पर चूड़ियाँ; शिरस्त्राण की जगह पर शीशफूल पहनने पड़ रहे थे।

'पांडव यशेन्दु चन्द्रिका' में स्वरूपदास जी स्वामी का निम्न लिखित कवित्त इस संबंध में ध्यान देने योग्य है। वह लिखते हैं:—

कवच की ठाहर पै
कन्चुकी कसी है देखु,

तलत्रान ठाहर पै
चूरिन को वृन्द है
कृपा कोप पुंज के
निवास दोऊ नैन में
कजरा भरानो ऐसो
महा मोक फन्द है
सिरत्रान तहाँ सीसफूल
दोनों हाथन ते,
गांडीव की घोषणा
मृदंगन को छंद है
कौन देस कौन काल,
कौन दुख, कापे कहूँ
कैसे निद्रा लगे
मोहि कौन सो अनन्द है !!

निःसंदेह बेचारे अर्जुन को खेद हुआ होगा; परन्तु 'आर्यावर्त' की चेरियों को नए रूप में अवश्य आनन्द आया होगा! उनको चूणियों के ऊपर 'तलत्राण' एवं शीशफूल के ऊपर 'शिरस्त्राण' और पहिना दिया जाता तो महारानी संयोगिता का मंत्रणा-भवन इन महारथियों के लिए युद्ध-स्थल अवश्य प्रतीत होता! और उत्प्रेक्षा अलंकार और अधिक पुरस्करणीय हो जाता!

कविवर 'कंचुकी के ऊपर कवच कसे हुए' लिख सकते थे परन्तु 'उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए' उचित समझा गया, शायद हृदय की सुकुमारता का वास्तविक स्थान उन्नत उरोज ही रहे हों!

एक दूसरे स्थान पर स्त्रियों की भीड़ पृथ्वीराज को देखने जाती है तब भी कवि ने यही लिखना उचित समझाः—

एक दूसरी को थी
दबोच कर झाँकती

उन्नत उरोज जब
　　　　अब दब जाते थे
गूँजती थी प्यारी
　　　　ध्वनि मीठी सीत्कार की

कवि की दृष्टि में इसमें रस-चमत्कार अवश्य आ गया होगा! मनोविश्लेषणवादी एडलर, फ्रायड, जुन्ग के अनुगामी अवश्य इस उद्धरण से कुछ और तात्पर्य लेंगे परन्तु यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि दोनों स्थलों पर यह वर्णन बिलकुल असंगत है।

युद्ध काल के अनन्तर गोरी की सभा के सभासदों को भी कवि ने ढाल तलवार दी है। लिखते हैं:—

फारस का मृदुल
　　　　गलीचा है बिछा हुआ
यूथपति, दलपति,
　　　　सेनापति बैठे हैं,
पंक्ति-बद्ध, मोड़े घुटनों
　　　　को वीर भाव से
रख कर सामने कृपाण
　　　　ढाल गैंडे की
मानो सभा साजत
　　　　हुई हो दशग्रीव की
मेघनाद, कुंभकर्ण
　　　　आदि वीर बैठे हों

यहाँ तो प्रारंभ में तो केवल कवच नहीं पहनाया गया, परन्तु जब गोरी का भाषण समाप्त होता है तो कवि लिखते हैं:—

मौन हुआ गोरी देख
चारों ओर गर्व से

सुन कर मत्त हुए
जो जो वहाँ बैठे थे
फूल उठी छाती
कड़ी तड़की कवच की

प्रश्न होता है कवच आ कहाँ से गया ? 'आर्यावर्त' के कवि का अधिकाधिक उचित-अनुचित प्रेम कवच से प्रतीत होता है।

हास्यास्पद

अब 'बेड़ी पड़ी हुई', 'मुश्कें बंधी हुई' बन्दी पृथ्वीराज को आँखें फोड़ने के लिये बुलाया जाता है। उस समय पृथ्वीराज का दूसरे सैनिकों से युद्ध दिखाया गया है जो युद्ध-विद्या के सिद्धान्तों के प्रतिकूल तो है ही असंगत एवं असंभव ही नहीं, हास्यास्पद भी होगया है। जब पृथ्वीराज सभा में आते हैं तब कविवर लिखते हैं:—

मूंछें थी चढ़ी हुई,
कठोर मुखमुद्रा थी
मानो लोहनिर्मित
प्रचण्ड भुजदण्ड थे।
सांड जैसे कंधे,
था शिला सा वक्ष, क्षीण कटि
जैसे मृगराज की हो—
उन्नत शरीर था।

यहाँ तुलसीदासजी के—

वृषभ कंध, केहरि ठवनि,
बलनिधि बाहु विशाल

की सहसा याद आ जाती है। आगे लिखते हैं—

भृकुटि कुटिल,
नेत्र श्येन से सतेज थे

गति गंभीर थी
परन्तु पदपद से
होता था ध्वनित
विकराल क्रोध मन का।
भारत का पुंजीभूत
गौरव सा केसरी
दीख पड़ता था खड़ा
मूर्तिमान काल ज्यों !
मुश्कें कसी थीं
बेड़ियाँ पड़ीं पैरों में
सिर पर नंगी
तलवार की चमक थी।

पृथ्वीराज के शरीर का वर्णन यहाँ उनके प्रबल पराक्रम के अनुरूप ही है। सुलतान गोरी की व्यंगोक्ति सुनकर महाराज पृथ्वीराज तिलमिला उठते हैं और फिर:—

एक बार पीस कर
दाँत महा योद्धा ने
मारा झटका तो
छिन्न-भिन्न हो के शृंखला
छिटक गई ज्यों
मानो ओले पड़े नभ से
गरजा सरोष—
महाबाहु बल-विक्रमी
तोड़ डाला बेड़ियों को
खींच क्षण भर में
कौंध गयी बिजली
सभा में, भयत्रस्त हो

योद्धा जितने थे
अस्त्र शस्त्र निज फेंक के
भागे हलके हो,
एक दूसरे को रौंदते ।

मुश्कें कसीं, बेड़ियाँ पड़ी हुईं, महाराज पृथ्वीराज ऐसा क्या झटका मार सकते थे, जो शृंखला इस प्रकार आनन-फानन में टूट गई ? कुछ जादू का सा खेल प्रतीत होता है !! आगे लिखते हैं:—

गोरी का निर्देश हुआ
"जीता ही पकड़ लो"
किन्तु कौन जाता मरने को
वहाँ स्वेच्छा से
था जहाँ कृतान्त सा
कराल वीर केसरी
बन्धन विमुक्त हो
कृपाण लिए कर में ।

प्रश्न होता है 'यहाँ कैदी के पास' 'कृपाण' कहाँ से आगई ? क्या किसी सैनिक से छीन ली थी ? प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिलता। समझ लीजिये जादू से तलवार आगई !!

अब तलवार तो है परन्तु ढाल नहीं है। बिना ढाल के, भूमि पर खड़ा योद्धा, अपनी रक्षा कर ही कैसे सकता है ? अगर धनुष बाण हों तो बाणों से दूसरे के फेंके आयुध काट तो सकता है; परन्तु तलवार से तो आयुध नहीं काटे जा सकते। तलवार वाले के हाथों को कोई भी बाणों से जख्मी कर सकता है। तलवार लेकर कोई योद्धा एक सेना का मुकाबला कर ही कैसे सकता है ? परन्तु एक नये प्रकार का युद्ध-वर्णन करने में कवि ने फिर कमाल दिखलाया है। कवि लिखते हैं:—

चित्रवत् सेना घेर
चारों ओर थी खड़ी
घूमता था दिल्ली-पति
बीच में मृगेन्द्र सा
जिस ओर आगे
बढ़ता था रौद्र तेज से
विद्युत कौंध जाती,
भगदड़ मच जाती थी।
लाए गए फन्दे,
कुछ साहसी सुभट मिल
फाँसने का यत्न लगे
करने नरेन्द्र को।
घेर कर शिक्षित
गयंदों से, परन्तु गज
खाके बार बार
गज बाँक के प्रहारों भी
पीछे हटते थे
चिग्घाड़ कर भय से।
सुंड कटे कितने
गजों के और कितनों के
मस्तक विदीर्ण हुए
प्रबल प्रहारों से
कितने गयन्द भागे
रौंदते सिपाहियों को
हाहाकार छा गया
विकल गोरी हो उठा
एक बार हल्ला बोल
फिर अरि टूट पड़े

घेरा किया छोटा
फिर फन्दे लगे फेंकने
देखते ही देखते
विवश वीर हो गया
मानो आंजनेय बँधे
घोर ब्रह्मफाँस में
अंग-प्रत्यंग कसा
वीर आर्य पुत्र का
छा गई हुलस की
लहर अरि दल में !

मस्त हाथी के छूट जाने या घोड़े के भाग जाने पर जैसे रस्सी के फंदे बनाकर उनको पकड़ा जाता है वैसे ही पृथ्वीराज भी कवि-कृपा से ऐसे फन्दे में फँस से गये !! जो तलवार हाथियों के सुन्ड काट सकी और मस्तिष्क विदीर्ण कर सकी वही तलवार रस्सियों को काटने में असमर्थ रह गई !! कवि कल्पना की उड़ान तो अवश्य ही प्रशंसनीय है। यह समझ में नहीं आता कि यह वीर योद्धा के युद्ध का वर्णन है या किसी उद्धत जानवर को फन्दे में फाँस कर चिड़िया घर में बन्द करने का वर्णन है ?

ध्वजा के बिना विजय कैसी !

जितना हास्यास्पद पृथ्वीराज का रस्सों में बाँधा जाना है उतना ही हास्यास्पद महाकवि चन्द का 'आर्य झन्डा' के कपड़े को अपने सिर में लपेट कर चल देना है। कविवर ने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया कि सेना के लिये उसके ध्वज (झन्डा) का मूल्य अत्यन्त महत्व का होता है। महाभारत में इसीलिये सेना को 'ध्वजिनी' भी कहा गया है, (उद्योग १५५:२५)। शत्रु लोग पहले 'ध्वजदण्ड' पर बाण मारा करते थे। सेना सदा ध्वजदण्ड की रक्षा करती थी और ध्वजदण्ड के गिरते ही उस सेना में भगदड़ मच

जाया करती थी। ध्वजदन्ड के गिरते ही शत्रु उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे और शत्रु से छीने ध्वजदन्ड, ध्वजा तथा छत्र विजय के गौरव मय प्रतीक स्वरूप अच्छे स्थान पर सुरक्षित किये जाते थे। जिस यवन सेना ने पृथ्वीराज को कैद कर लिया हो, अवश्य ही उसने पराजित सेना के ध्वजदन्ड एवं ध्वजा तथा छत्रों को ले लिया होगा। यह विचार कि युद्ध-स्थल में यह ध्वजा धूल धूसरित पड़ी हुई थी, युद्धनीति से अनभिज्ञता का परिचय देना। बिना ध्वजा लिये पूर्ण विजय कैसे मानी जा सकती थी ? कवि ने इन बातों पर ध्यान न देकर लिखा है:—

एक ओर आर्यों
का ध्वज था पड़ा हुआ
ध्वजधर छाती से
लगा के ध्वजदण्ड को
काल दण्ड खाकर
पड़ा था हत-प्राण हो
एक दिन यह केतु
विजय प्रतीक था
आज यह चिन्ह बना
घोर पराजय का !!
जानता था विश्व कोटि—
कोटि खड्ग इसकी
रक्षा करते हैं, किन्तु
आज विधि-गति से
एक चीथड़ा है,
एक तुच्छ वस्त्र-खंड है
धूलि में पड़ा है,
जिसे रौंदा अरिदल ने

झुक के उठा लिया
पताका को कवीन्द्र ने।
आँखों से लगाया और
बाँध लिया सिर में।

× × ×

लौटा कवि चन्द
चुपचाप सर्वहारा-सा
सिर से लपेटे सना
रक्त और धूल में
आर्य ध्वज गौरव प्रतीक
आर्य जाति का

यही नहीं, कविवर ने यही झण्डा राणा समरसी का 'कफ़न' भी बना डाला है। महाकवि चन्द लौट कर मंदिर में आते हैं तो राणा समरसी मृत पाए जाते हैं। चन्द को चिता तैयार करनी पड़ती है। कवि लिखते हैं:—

एक बार चन्द ने
कराह आह भर के
और की प्रस्तुत
विशाल चिता बाणों की,
टूटे स्यन्दनों का
और भग्न धनु खन्डों की
शव को लपेटा,
आर्य ध्वज खोल सिर से !!

आर्य सेना की ध्वजा से कवि ने कितने महत्व के काम लिए। महाकवि चन्द का साफा बनाया और राणा समरसी का कफ़न !! आर्य ध्वज का भाग्य तो देखिये ! कवि के हाथों से कैसी मिट्टी खराब हुई है !!

(३)

'आर्यावर्त्त' में प्रकृति के सांगोपांग सुन्दर एवं सुकुमार वर्णनों की भरमार है। यह प्रबन्ध काव्य संध्या के मनोहर वर्णन से ही प्रारम्भ होकर प्रियप्रवास के प्रथम छन्द की याद दिलाता है। 'प्रियप्रवास' भी 'संध्या' के निम्नलिखित वर्णन से प्रारम्भ हुआ है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा

'आर्यावर्त्त' का प्रथम सर्ग भी निम्नलिखित 'संध्या वर्णन' से प्रारम्भ किया गया है—

दिन मणि डूब गया
तम के समुद्र में
आई चुपचाप संध्या
शोकातरा विह्वला।
गूँज उठा झिल्ली रव
नूपुर निनाद सा
भीरु अन्धकार सा लगा
झांकने निकुन्जों से।
रात ने न देखा कभी
रवि को, न रवि ने
रात को निहारा
भूल के भी आँख भर के
किन्तु निशा रोती है
अधीरा बनी रात को
रवि के वियोग में,
इधर रवि दिन में

हाय तपते हैं निशा
रानी के विरह में
कैसी यह प्रीति है !
वियोग यह कैसा है !!

आलोचक महोदय पं० रामदहिनजी मिश्र के शब्दों में—

"इसमें न तो वाच्यार्थ का चमत्कार है और न लक्षणा का। अलंकार का भी आभास नहीं मिलता तथापि यह जो कुछ है अपूर्व है ! कला और कल्पना का सुन्दर दिग्दर्शन है और भी बहुत कुछ है जिससे कविता असाधारण और अनुपम हो गई है और यहाँ तो और कुछ न रहने पर भी यह वर्णन सीधे हृदय पर चोट करता है। कहिए तो भला बिन देखे की प्रीति कैसी ? भले ही आधुनिक कवि भावी पत्नी का प्रेम पँवारा गावें क्योंकि एक न एक दिन उनका संयोग संभव है किन्तु यहाँ तो एक दूसरे ने कभी निहारा भी नहीं; फिर भी परस्पर अपार प्रेम। प्रेम ही नहीं, रोना धोना, तड़पना और तपना भी यहाँ रात में रजनी के रोने का वर्णन समुचित है, क्योंकि उसका वैसा ही वातावरण हो जाता है और दिन में रात्रि वियोग से रवि का तपना तो सभी के लिए सहज गम्य है। रोना और तपना प्रीति और वियोग के कैसे सुन्दर प्रतीक हैं। इस उद्धरण का भाव तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के भाव से भी बढ़ जाता है।"

सौन्दर्य का आभास

इतनी व्याख्या के बाद भी हमको इस प्रीति एवं वियोग के वर्णन से सौन्दर्य का आभास नहीं दिखाई देता।

कृष्णपक्ष के अंधकार में या बरसात की अँधेरी रात में रजनी के रोने का वर्णन समुचित हो सकता है। ग्रीष्म के दिनों में सूर्य का तपना भी सहज गम्य है। परन्तु शुक्ल पक्ष की चाँदनी में तो

रात्रि के रोने का वातावरण नहीं हुआ करता। रात्रि देवी वहाँ तो 'शुक्लाभिसारिका' नायिका बनी मुस्कराती प्रतीत होती है। फिर उन चाँदनी रातों और शिशिर ऋतु के दिनों में तो वियोग में हँसी एवं प्रसन्नता का क्या अर्थ लिया जाना चाहिए !!

यदि दिन और रात का प्रेम दिखाना ही अभीष्ट था तो 'प्रिय-प्रवास' की तरह भगवान भास्कर की लाल-लाल प्रभा उच्च शिखाओं पर विराजती तो बता देते।

खैर, एक चन्द्रमुखी नायिका, गले में मोतियों की माला पहिने, मस्तक पर नग लगाए, प्रात:काल ही स्नान करके घूंघट से मुँह ढक कर चली जा रही है, जिसको देखकर 'मुबारक' कवि की कल्पना तो ज़रा देखिए ! वह लिखते हैं:—

चूनरी विचित्र श्याम
भांजके मुबारकजू
ढांकि नखसिख ते
निपट सकुचाति है
चन्द को लपेटि के
समेटि के नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए
राति चली जाति है !

यहाँ 'दिन' और 'रात' का प्रेम तो नहीं वर्णन किया गया परन्तु 'दिन' के प्रति 'रात्रि' की श्रद्धा तो बताई है। जहाँ एक के अन्त से दूसरे का उदय होता हो वहाँ प्रेम तो असंभव ही है; श्रद्धा भी रहे तो भी गनीमत ही समझिये इसीलिए आगे चलकर 'आर्यावर्त्त' के कवि भी भूल गए कि प्रारम्भ में रात्रि और दिवस का प्रेम दिखाया है तो फिर दोनों की शत्रुता तो न दिखानी चाहिए।

आगे चलते ही, कविवर ने 'रात्रि' आगमन पर 'दिन' की चिता जला दी है यथा—

पच्छिम क्षितिज पर दिन
की चिता जली
अन्धकार छा गया
चितानल के धूम से

और आगे जाकर फिर यही भाव दुहराया है। लिखते हैं—

शीतल बयार आ रही
थी इठलाती सी
रजनी भरी थी वन
जूही की महक से
झिल्ली रव गूँजता था
नूपुर निनाद सा
मानों नाचती हो निशा
होके मतवाली सी
दिन की जला के चिता
शून्य मरघट में।

दिन की चिता जलाई गई रात्रि आगमन पर, इसी प्रकार दिनपति के आगमन पर रजनी को भागते दिखाया है लिखते हैं—

अन्धकार-गज भागा
गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष
मृगराज सा
केसर सी किरणें विकीर्ण
हुई नभ में

भाग के मृगांक छिपा
अस्ताचल ओट में
भय था कि मृगचिन्ह
देख कहीं केसरी
टूटे मत,—भाग गई
रजनी किराती सी
आंचल में भर के नखत—
—गुंजा भय से।

यहाँ 'टूटे मत' में भाषा दोष है और अन्तिम पंक्ति में 'मुबारक' कवि के भाव से कुछ-कुछ भाव मिल रहा है।

कहाँ प्रारम्भ में ही दिन और रात के अपार प्रेम का वर्णन किया गया और कहाँ फिर इतनी घोर शत्रुता वर्णन करनी पड़ी! कहाँ तो प्रारम्भ में यह लिखना पड़ा कि एक दूसरे ने भूल करके भी आँख भर के नहीं निहारा और फिर बाद में एक ने दूसरे की चिता भी जला दी !!

जहाँ बाद में किये गये वर्णन स्वाभाविक है प्रारम्भिक छन्द बिलकुल अस्वाभाविक है। इस बात का अवश्य खेद होता है कि ऐसे सुन्दर प्रबन्ध काव्य का इतने नीरस एवं अस्वाभाविक वर्णन से श्रीगणेश किया है। यह भी देखकर खेद होता है कि कविवर आगे चलते-चलते यह भूल जाते हैं कि वह पीछे क्या बात लिख चुके हैं। एक अन्य उदाहरण पर्याप्त होगा।

प्रथम सर्ग में देवी मंदिर में महाकवि चन्द और राणा समरसी को मिलते दिखाया है। उस समय चाँदनी रात बताई है। कवि ने लिखा है:—

आई विधुवदनी विभावरी गगन में
फूल उठे कुमुद सरोवरों में सुख से

थोड़ी देर बाद ही लिखते हैं—

पीपल की ठूँठ पर बैठे पंख फड़का
बोल उठा उल्लू घोर निर्जनता छा गई।
आ गई समय शशि
संभवा विभा वहाँ
अंधकार पीछे हटा
मानो शैवाल हो
जटिल सरोवर का
और जिसे कर से
कोई हटाता स्नान
करने के लिए!

जहाँ पहले ही ज्योत्स्ना दिखा चुके थे तो फिर वहीं 'शशि संभवा विभा' बतलाना उचित कैसे हो सकता है, अंधकार क्या बीच में आ कूदा था?

अब यहीं पर चन्द कवि से यह कहलवाया जाता है कि युद्ध स्थल में सेनापति कन्ह और महाराज पृथ्वीराज को वह खोजने को जाना चाहते हैं तो राणा समरसी के मुख से उत्तर दिया जाता है—

जाओ कवि और खोजो
उज्ज्वल भविष्य को
इस सूची-भेद घनघोर
अंधकार में

पराजितावस्था को अंधकार बताना अवश्य ठीक होता परन्तु "सूचीभेद्य" "घनघोर अंधकार" से युद्ध स्थल में घनघोर अंधकार के प्रसार का भी आभास होता है जो पूर्व कथित चाँदनी से प्रत्यक्ष विरोध का सूचक है।

'आर्यावर्त्त' में कहीं-कहीं अलंकार-योजना बड़ी अच्छी हो गई है। कहीं-कहीं इन अलंकारों के कारण ही काव्य में कृत्रिमता की झलक दिखाई पड़ती है। एक स्थान पर लिखा है—

भर गयी अमल
धवल चारु चंद्रिका
मानो भरा दुग्धफेन
भूतल से नभ लों
रात बनी मूर्त्ति-मती
"शुक्लाऽभि–सारिका"
आ रही है निज को
छिपाए सित वस्त्र में
अलंकार 'मीलिता'
सदेह देखा कवि ने
किन्तु नीलिमा थी
निशानाथ के कलंक की,
यह "उन्मीलिता"
का सहज स्वरूप था

आलोचक महोदय पं० रामदहिनजी मिश्र लिखते हैं:—

"चाँदनी रात है। दुग्ध फेन की सी अमल धवल चारु चन्द्रिका चारों ओर फैली हुई है। प्रिय संकेत-स्थल को जाने वाली प्रमदा को अभिसारिका की आख्या दी गई है। यदि वह श्वेत चाँदनी में श्वेत सुमनों से लदी फबी श्वेताम्बर होकर अभिसार करती है तो शुक्लाभिसारिका कहलाती है नहीं तो कृष्णाभिसारिका। यहाँ रजनी रानी स्वयं शुक्लाभिसारिका बन गई हैं। मीलित अलंकार संदेह देख पड़ता है क्योंकि चाँदनी में रात का तिरोधान वर्णित है। परन्तु उसके एकान्त मीलित हो जाने में कुछ कोर कसर रह गई है। चाँद का कलंक तो नीला का नीला रह ही गया। इससे रात

का यह रूप 'उन्मीलिता' अलंकार का हो जाता है। क्योंकि उन्मीलता अलंकार वहीं होता है जहाँ कारण विशेष से भेद का कुछ कथन किया जाय। कवि ने रात्रि-वर्णन के प्रसंग में 'शुक्लाभिसारिका' नायिका तथा 'मीलित' और 'उन्मीलित' अलंकारों की ऐसी अवतारणा की है कि उसकी प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता! चमत्कार तो ऐसा है कि रीतिकाल के कवि भी मात हैं! ऐसी अनोखी सूझ बूझ के लिए सभी सहृदय कवि के आभारी हैं।"

समझने में भूल

हमारी राय में कवि एवं आलोचक दोनों को 'मीलित' अलंकार के समझने में ही भूल हुई है। 'मीलित' अलंकार वहीं माना जाता है जहाँ एक बलवान वस्तु उसी गुण वाली दूसरी निर्बल वस्तु को मिलाकर छिपा लेती है। अधरों की स्वाभाविक लाली से खाये हुए पान की लाली छिप जाए या काली कजरारी आँखों से लगा हुआ काजल छिप जाय तो वहाँ 'मीलित' बताया जाएगा।

चाँदनी एवं रात्रि तो दोनों समान ही रहेंगी। चाँदनी कभी दिन में तो होती नहीं रात्रि में ही होती है। 'चाँदनी रात' कहो या 'ज्योत्स्ना' कहो, बात एक ही है, 'कृष्ण पक्ष की रात्रि' एवं 'अंधेरी' में क्या भेद रहेगा? गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीक होगी। 'चाँदनी' कहते ही 'रात्रि' का भाव सम्मुख आ जाता है। निशानाथ के कलंक से भी 'चाँदनी' और 'रात्रि' में भेद कैसे प्रतीत हो जायगा? चन्द्रमा के कलंक रहते हुए भी 'चाँदनी' एवं 'रात्रि' एक ही बनी रहेगी। अलग अलग नहीं दिखाई पड़ेगी; न अलग अलग मानी ही जायगी। इसलिए न तो यहाँ 'मीलित' अलंकार ही है और न 'उन्मीलित' अलंकार। शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात को मूर्तिमती बनाने में पाश्चात्य 'मानवीकरण' अलंकार अवश्य है।

जब एक वस्तु दूसरी के साथ मिली रहे किन्तु मिलकर भी किसी कारणवश पृथक् प्रतीत हो तो वहाँ 'उन्मीलित' अलंकार बताया जाता है।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने 'काव्य कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३५२ पर 'उन्मीलित' अलंकार के उदाहरण में 'रघुनाथ' कवि का निम्न-लिखित कवित्त उद्धृत किया है:—

देखिवे को दुति पूनो के चन्द की
हे "रघुनाथ" श्री राधिका रानी
आइ बिलौर के चौंतरे ऊपर
ठाढ़ी भई सुख सौरभ सानी
ऐसी गई मिलि जोन्ह की जोति सों
रूप की रासि न जात बखानी
बारन तैं, कछु भौंहनि ते, कछु
नैनन की छवि तैं पहिचानी

यहाँ पहिले तो श्री राधिका जी चाँदनी में घुल मिल जाती हैं। परन्तु बाद में चाँदनी से राधिका जी का भेद उनके श्यामवर्ण के केशों आदि द्वारा ज्ञात होना कहा गया है। यहाँ अवश्य ही उन्मीलित अलंकार है।

ध्यान देने योग्य यह बात है कि 'चांदनी' में शुक्ल रंग या 'श्वेतता' बहुत ही होती है और श्वेत वस्त्र पहिने हुये किसी नायिका में उससे कम होगी। जहाँ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु से कम गुण वाली वस्तु छिप जावे वहीं मीलित अलंकार माना जाता है। जहाँ दोनों वस्तु तुल्य गुण में घुल मिल जावें वहाँ 'मीलित' अलंकार न होकर 'सामान्य' अलंकार ही माना जाता है।

साहित्य दर्पण में लिखा है—

"मीलिते उत्कृष्ट गुणेन निकृष्ट गुणस्य तिरोधानम्।
इह सामान्ये तु उभयो स्तुल्य गुण तया भेदाग्रहः ॥"

कुवलयानन्द ने भी इसी बात का समर्थन किया है। 'अलंकार सर्वस्व' एवं 'रसगंगाधर' में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

यद्यपि हमारी राय में तो 'आर्यावर्त्त' के उपरोक्त छन्द में 'मानवीकरण' के अतिरिक्त कोई भी दूसरा अलंकार नहीं है तो भी कल्पना को अधिक खींचकर चाँदनी एवं रात्रि को पृथक् मान-कर मिला देना भी स्वीकृत किया जाय तो 'तुल्य गुण' के कारण अधिक से अधिक यहाँ 'सामान्य' अलंकार माना जा सकेगा।

कम से कम यह बात निश्चित है कि 'मीलित' या 'उन्मीलित' अलंकारों का न तो यहाँ अस्तित्व ही था और न कविवर का दोनों अलंकारों को स्त्री रूप में ('मीलिता' या 'उन्मीलिता') कर देना समुचित कहा जा सकता है। काव्य में जो कृत्रिमता आगई है वह एकमात्र अलंकारों के हाथ धोकर पीछे पड़ने का ही परि-णाम है।

उत्प्रेक्षा से प्रेम

'आर्यावर्त्त' में उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकार दोनों अच्छे पाये जाते हैं। मिश्रजी ने लिखा है कि "कवि उत्प्रेक्षाओं का इतना रत्ना-कर है कि लिखते लिखते तड़ से एक उत्प्रेक्षा-रत्न को ऐसी बारीकी और कारीगरी से जड़ देता है कि पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकते।"

इस राय से सभी सहमत होंगे। कहीं-कहीं अवश्य उत्प्रेक्षा या उपमा अनुचित प्रतीत होती है।

एक स्थान पर 'चारण' के शरीर का वर्णन करके कवि लिखते हैं:—

हाथ में थी यष्टि और
कटि में थी झूलती
लम्बी तलवार
झुकी पीठ पर ढाल थी
मानो लदा पीठ पर
यौवन का भार हो

पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो सुन्दर यौवन की वसन्त-स्मृति की उपमा काली बोझिल ढपील ढाल से दी जा रही है और जर्जर वृद्धावस्था शायद 'यष्टि' या झूलती तलवार सरीखी बताई जा रही है। कहाँ मधुर यौवन की बीती मधुर याद और कहाँ गेंडे की खाल की भारी ढाल !!

एक दूसरे स्थान पर, गजनी के झण्डे का वर्णन करते हुए लिखा गया है:—

उच्च स्वर्ण दंड में
पताका गजनी की यों
हाय, लहराती मानो
छाती पर देश की
साँप लोटता हो
लाल किरणें दिनेश की
मूर्छित पड़ी हों
उस केतु पर शोक से।
सिंचा किया सिक्त
उसे भारत के भानु ने
अपने हृदय के घोर
ज्वालामय रक्त से।

सूर्य अपनी गर्मी से उष्णता तो प्रदान करता है और सिक्त (गीली चीज) को सुखाता भी है। परन्तु यह नहीं सुना होगा कि किसी सूखी हुई वस्तु को अपना रक्त देकर सिक्त करने का भी सामर्थ्य उसमें है। और 'ज्वालामय रक्त' कैसा ? क्या इस 'ज्वाला' में जलाकर भस्म करने की शक्ति नहीं थी ? फिर क्या गजनी का झन्डा नीला हो गया था जिसके लिए 'उत्प्रेक्षा' की आवश्यकता हुई ? जितना अनावश्यक एवं अस्वाभाविक 'भारत सूर्य का अपने अपने रक्त से झन्डा' सिक्त करने का वर्णन है उतना ही अनावश्यक एवं अस्वाभाविक सूर्य की लाल किरणों का शोक से पताका के ऊपर मूर्छित होने का वर्णन किया गया है। शायद उस समय सूर्य की सारी लाल किरणें, सब स्थानों से हटकर, झन्डे पर ही केन्द्रीभूत हो गई थीं। ध्यान देने योग्य यह बात भी है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय 'आर्यावर्त्त' के सूर्य, महाराज पृथ्वीराज, जीवित थे !!

दुनाली बन्दूक से प्रेम

प्रतीत यह भी होता है कि कवि को 'दुनाली' बन्दूक से भी प्रेम रहा है। महाराज पृथ्वीराज के नयन तेज के लिए एक स्थान पर तो कवि ने लिखा है:—

जिस ओर ज्वालामयी
दृष्टि पड़ जाती थी
कूद कर पीछे
अस्त्रधारी हट जाते थे
कौन ऐसा वीर है
खड़ा जो रहे सामने
छाती तान काल मूर्ति
भीषण दुनाली के !!

दूसरे स्थान पर लिखा गया है कि—

धधक रहा है रुद्र
तेज यों नयन से
जैसे हो निकलती
दुनाली से तड़पती
ज्वाला, वायुमंडल को
फाड़ती दहाड़ती

कामदेव को जलाते समय जो तेज भगवान रुद्रदेव ने नेत्र से निकाला था वह दोनों साधारण नेत्रों से न निकालकर तृतीय नेत्र से ही निकला था। यहाँ कवि ने साधारण नयनों से ही रुद्र तेज निकाल दिया है। कितना ही रुद्र तेज नयनों से निकलता हो उसमें तड़पती या वायुमंडल को फाड़ती दहाड़ती गोली चलने की आवाज तो नहीं हुआ करती। परन्तु यहाँ पर नयन तेज की समता दुनाली बन्दूक की चलती गोली की आवाज से ही की गई है !!

अब स्वयं महाराज पृथ्वीराज की उपमा, पूर्व छन्द में, 'कालमूर्ति भीषण दुनाली' से दी गई है। क्या यह उचित है ? क्या मनुष्य शरीर दुनाली बन्दूक की तरह ही है ?

'दुनाली बन्दूक' को जमीन में यदि खड़ा किया जावे तो दोनों नली ऊपर आसमान की ओर रहेंगी। परन्तु मनुष्य की आँखें तो आसमान की तरफ नहीं रहतीं ! छाती पर रखकर यदि दुनाली चलाई जाय तो वह लम्बी क्षितिज पंक्ति की तरह रहेगी परन्तु मनुष्य, सिवाय पेट के बल लेटने पर क्षितिज पंक्ति की तरह दुनाली बन्दूक नहीं बन सकता। क्रोध आने पर आँखों की लाली भी दुनाली में तो दिखाई नहीं पड़ती !!

प्रश्न यह है कि फिर यह दुनाली बन्दूक से उपमा कैसे दी गई। जहाँ तक हमारा विचार है काव्य लिखते समय कवि के

मस्तिष्क में 'नैषध चरित' का यह श्लोक कुछ अशुद्ध रूप में, अवश्य रहा होगा:—

घनुर्षीरति पंच वाणयो रुदिते
विश्व जयाय तद्भ्रु वौ
नलिके तदुच्च नासिके
त्वयि नालीक विमुक्ति कामयो।

(सर्ग २ श्लोक २८)

(क्या दमयन्ती की भृकुटियाँ विश्व पर जय प्राप्त करने के लिए कामदेव और रति के दो धनुष नहीं हैं ? क्या उसकी उच्च नासिका पुट पर दो नली नहीं है जहाँ काम के बाण रखे रहते हैं और जहाँ से लेकर इच्छानुसार काम बाण छोड़ते हैं।)

नाक के ऊपर बीचोबीच वाली पतली हड्डी के दोनों ओर दो नथुने, बहुत ही छोटे रूप में, और, वह मुख्यकर कविवर श्री हर्ष के वर्णित प्रयोजन के ही लिए, दुनाली बन्दूक बताए जा सकते हैं। किन्तु कल्पना का कितना भी अधिक सहारा लेकर आँखों की उपमा दुनाली से नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार खड़े हुए मनुष्य के तने हुए शरीर की उपमा 'तनी हुई भीषण दुनाली' से देना सही नहीं हो सकता।

(४)

चरित्र-चित्रण और भाषा-दोष

अधिकतर पात्रों का चरित्र-चित्रण भी 'आर्यावर्त्त' में सफल हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य में शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी जैसे पात्र को भी निर्मल और उज्ज्वल दिखाया गया है। सिवाय आँख निकलवाने के, अंधे पृथ्वीराज का भी सुलतान ने सदा ही समादर किया है और उनकी पराजय को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। एक स्थान पर सुलतान, पृथ्वीराज से कहता है:—

पूजक हूँ वीर का मैं
आप महावीर हैं।
धन्य है स्वदेश-भक्ति
आपके हृदय में॥

अपनी सभा में सभासदों एवं सेनापति की उपस्थिति में राजा जयचंद से सुलतान कहता है:—

आज एक मेरा
महावैरी शेष होगया
शैल सा छिपा करता
था मन प्राण में
छिन्न भिन्न सेना हुई
आज इस देश की
जैसे उड़ जाती घटा
आँधी के थपेड़ों से
फिर भी सराहता हूँ
वीरता मैं वैरी की
हारा, किन्तु जीत से
भी गौरवपूर्ण हार में

इन अवतरणों से ही पता चलता है कि सुलतान गोरी को वीर पूजक, दूरंदेश एवं विशाल हृदय वाला दिखलाना कवि को अभीष्ट था। अवश्य! अन्त में सुलतान ने वजीर से जो कुछ कहा है वह असंगत और बेतुका सा मालूम होता है। शब्द-भेदी बाण द्वारा पृथ्वीराज का कौशल दिखलाने की आज्ञा देते हुए गोरी अपने वजीर से कहता है:—

देश है हमारा
वीर पूजक हृदय से

संभव है देखकर
दुर्गति नरेश की
निन्दा करे जनता
हमारी क्रूर नीति की
संघ - बद्ध दुष्टता का
नाम कूट-नीति है;
चलता नहीं है
राज काज बिना इसके।
चाहे जो अनर्थ करे
आँखें बचा जग की
गोटें सभी आपकी हैं
लाल, निःशंक हो
लूटिए प्रजा को
खून चूसिए अभागों का
विष खिला दीजिए
छिपा के नवनीति में
धन्यवाद देगा जो
चखेगा, उपकृत हो
आपकी सराहना
करेगा मुक्तकंठ से

यह पता नहीं कि विष खाकर भी कोई कब तक सराहना करेगा कभी न कभी तो भेद खुल ही जाता है!

उक्त छन्द को पढ़कर हमें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अगर यही वाक्य 'फकीर' या 'शाह' के मुँह से कहलवाए जाते तो अच्छा रहता। परन्तु स्वयं सुलतान के मुँह से ये बातें कहलवाना अनुचित है। क्या सुलतान कविवर की तरह साम्यवादी विचारों के हो सकते थे?

जो व्यक्ति गजनी में स्वयं अपने सिंहासन को सुरक्षित कराने की चिंता में हो, जो सुलतान भारतवर्ष में अपना राज्य-विस्तार करने में लगा हो, क्या वह ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का हो सकता है जो अपने ही वजीर से यह कहने का साहस कर सके कि "आपकी सभी गोटी लाल है" दुनिया की आँख बचाकर अन्याय करते रहिए, प्रजा को लूटते रहिए और अभागों का खून चूसते रहिए; बिना इसके राज काज नहीं चलता; यही कूटनीति है।

अगर वजीर ही सुलतान से ये बातें कहता तो भी गनीमत थी। परन्तु सुलतान का उलटे वजीर से ये वाक्य कहना अनर्गल ही नहीं राजनीति के साधारण सिद्धान्तों से सुलतान गोरी की अनभिज्ञता का भी परिचायक है। ऐसे अनावश्यक छन्दों से काव्य में नीरसता बढ़ने लगती है। चरित्र चित्रण में जो दोष आ जाता है, वह अलग।

हास्यास्पद चित्रण

विद्वद्वर मिश्रजी ने एक स्थान पर लिखा है, "कवि ने सभी पात्रों को ऐसे साँचे में ढाल रखा है कि उनके सामने आते ही हमारे हृदय सहज सहानुभूति से भर जाते हैं।"

यह ठीक ही है। अगर कहीं कुछ अन्याय प्रतीत होता है तो कवि चन्द के पुत्र जल्ह के सम्बन्ध में ही। जहाँ महाकवि चन्द और उनकी पत्नी कविरानी क्रमशः 'विराट पुरुष' और 'परा प्रकृति' की मूर्ति बनाकर सम्मुख खड़े कर दिए गए हैं : वहाँ जल्ह का जो कुछ चरित्र-चित्रण है वह हास्यास्पद है।

हतचेत एवं निराश चन्द कवि, पराजय का सम्वाद लेकर, घर आकर कविरानी के पास आकर कहते हैं:—

आज फटती है, देवि !
छाती ! चित्त व्यग्र है

ओर छोर सूझता नहीं
है, अब क्या करूँ ?

तब कविरानी कहती है:—

× × "आर्य, इतनी
हताशा आज
शोभा नही देती आप
जैसे धीर वीर को
भाग्य क्या है
निर्बलों का तुनुक सहारा है,
वीर निर्माता हैं
स्वयं निज भाग्य के।

+ × ×

आप निज भाग्य के
स्वयम् निर्माता हैं
कायरों का भाग्य लिखा
जाता है विधाता से !
नाथ इतिहास कहता
है, भगवान भी
देते सदा साथ हैं
सबल का त्रिकाल में
रीझते हैं देव नहीं
व्रत उपवास से,
रीझते हैं देव नहीं
ध्यान से, समाधि से,
आर्य, इस दासी को
कहा था कभी आपने
रीझते हैं देव,

कर्मवीर की दहाड़ से !
देव इस दासी की
मुखरता क्षमा करें !
साहस है जीवन,
हत आशा ही मृत्यु है ।"

ये विचार बड़े अच्छे हैं । अवश्य ही कर्मवीर के कर्मों से ही देव रीझते होंगे । कोरी दहाड़ से तो क्या रीझ सकेंगे ? फिर भी, कवि-रानी के भाषण की भाषा सशक्त, सजीव एवं अत्यन्त ओजस्वी है, इसको सुनकर महाकवि चन्द में आशा का संचार हो जाता है। आगे लिखते हैं:—

'सुन कर बातें कविरानी
की, कवीन्द्र की
फड़की भुजाएँ, खून
दौड़ा रग रग में
रक्त बहा सूखे
हुए क्षत से प्रहारों के ।
जैसे सुन डमरू-
निनाद फणि मत्त हो
फूत्कार कर के
उठाता फण रोष में ।
आँखें हुईं लाल, बोला
कवि चन्द रोष में
"आर्य ! मैं हताश
नहीं हूँगा और अन्त तक
जूझूँगा; करूँगा प्रति-
पाल आर्यधर्म का ।"

किन्तु एक बात है—
कवीन्द्र बोला रुक के—
"चिन्ता यही होती है
कि मेरे महाकाव्य का
शेष सर्ग शेष है
लिखेगा कौन उसको ?"

पढ़कर प्रतीत होता है महाकवि चन्द को भारत की स्वतन्त्रता की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने महाकाव्य के शेष सर्ग समाप्त करने की चिन्ता थी। कहाँ तो राष्ट्र के पुनुरुद्धार का प्रश्न और कहाँ एक काव्य के सर्ग लिखने की चिन्ता ? महाकवि को यह कैसे पता चल गया था कि यही अन्तिम सर्ग होगा ? अगर राष्ट्रीय सेना जीत जाती तो न जाने कितने और सर्ग लिखे जाते !

खैर, अन्तिम सर्ग लिखने की चिन्ता चन्द कवि के पुत्र जल्ह मिटा देते हैं:—

बोला तब युवक
प्रणाम कर धीरे से
"देव, मैं लिखूँगा
हो निदेश इस दास को
पूर्ण करूँगा इस
पूज्य महाकाव्य को
बोला कवि चन्द
स्नेह गद् गद् कंठ से
"पुत्र जल्ह, चिंता मिटी,
भार मुक्त होगया
लेखनी सँभालो तुम
लूँगा तलवार मैं,

भारती से आज
मेरी अन्तिम विदाई है'

यहाँ जल्ह बेचारा यह तो कह ही नहीं पाया कि हे वयोवृद्ध पिता जी ! मेरे रहते आप इतनी वृद्धावस्था में क्यों तलवार लेते हो? यह तो अब मेरा धर्म है। मुझे सेना में जाने दो और आप स्वयं अपना सर्ग फुरसत में बैठकर लिखो; मुझे भी तो आर्य धर्म का प्रतिपालन करने दो।"

कवि का आर्य धर्म

अगर 'आर्यावर्त्त' में एक बार भी जल्ह से ऐसा कहलवा दिया जाता तो जल्ह का चरित्र-चित्रण बहुत कुछ सुधर जाता। परन्तु 'आर्यावर्त्त' के उपरोक्त छन्द से तो ऐसा ज्ञात होता है कि आलस्य ग्रस्त, पेटार्थी 'जल्ह' युद्ध से डरा हुआ युद्ध से बचने का बहाना ढूँढ़ने को उतावला बैठा हुआ था। जिस क्षण महाकवि चन्द के मुख से, अंतिम सर्ग पूरे करने की बात निकली बस तुरन्त ही बड़बड़ा उठे 'जाइये पिता जी फौरन युद्ध को चले जाइये, देर न करिये। एक क्या, दो चार सर्ग तो मैं ही लिख डालूँगा'।

आर्यावर्त्त के कवि का अवश्य आशय ऐसा नहीं है परन्तु छन्द पढ़ने पर पाठकों के हृदय पर यही प्रभाव पड़ता है। कविवर के उपरोक्त छन्दों को थोड़ा सा परिवर्त्तित करके निम्नलिखित तो पढ़ने का कष्ट कीजिये

बोला नव युवक
प्रणाम कर जल्दी से
देव, मैं लिखूँगा,
हो निदेश इस दास को,
महीनों से ऐसी प्रतीक्षा में
मैं बैठा हूँ!

पूर्ण कर सकूँगा ऐसे
सहस महाकाव्य को !
लेकर कृपाण आप
शीघ्र चले जाइए !
जर्जर अवस्था ऐसी
फिर नहीं आने की !
वयोवृद्ध - वीर भाँति
हाथ दिखलाइयेगा !
भूल कर भी न लौट
आइए समर से !!
आर्य - रक्त मेरी
नस नस में प्रवाहित है
इसीलिए यौवन में,
जाने से हिचकता !!
बोला कवि चन्द स्नेह—
गद्गद् कण्ठ से
"पुत्र जल्ह चिन्ता मिटी
भार—मुक्त हो गया
धन्य तू है; धन्य
कविरानी की कोख है,
जिससे जन्म लिया,
तूने आर्य देश में।
आर्य धर्म कहता है,
युवकों से, घर बैठो,
भूल कर भी सोचो मत,
भारत - स्वतंत्रता,
स्वर्ण - मल्लिका के मधु
अधरों का चिन्तन कर,

कवि - रम्य - मानस
विहारिणी का वरलो !
वृद्ध हो जाने पर,
सीखना धनुष बाण
लेकर कृपाण फिर
बनना वीर मातृभक्त,
'कवि और काव्य से
विदाई तब लेकर के'
रणचंडी के साथ
जूझना समर में !!
ऐसा है आर्य धर्म !
ऐसा ही धर्म - मर्म
समझा 'आर्यावर्त्त' के
प्रसिद्ध कविवर ने !

हमें आशा है कि दूसरे संस्करण के पूर्व जल्ह का चरित्र-अवश्य ही सुधार दिया जायगा क्योंकि 'आर्यावर्त्त' की महत्ता के गुणगान का सौभाग्य जिस कवि का बताया गया है उस युवक जल्ह का चित्र इस प्रबन्ध काव्य में बुरी तरह खटकता है।

भाषा-दोष

'आर्यावर्त्त' में कहीं-कहीं भाषा-दोष भी आ गये हैं जैसे:—

(१) अर्धमृत अश्वों का रँभाना।

(२) शृंगालों का कूकना।

किन्तु सजीव भाषा के सुन्दर भाषा प्रवाह में ये प्रयोग विशेष रूप से खटकते नहीं हैं।

कैदी पृथ्वीराज जिस कमरे में बन्द थे, उसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है:—

द्वार था दृढ़ सींखचों का
बन्द तालों से,
सींखचे गहन थे—
किसी की भाँति उँगली
फाँक में घुसेड़ देना
घोर दुस्तर था
भय था कि सींखचों को
राजा कहीं रोष में
तोड़ मत डाले
वज्रमुष्ठियों से खींच के,

इसमें 'गहन सींखचे' 'उंगली' फांक में घुसेड़ देना' 'घोर दुस्तर था, भय था कि तोड़ मत डाले "और वज्रमुष्ठियों से खींच के सभी प्रयोग चिन्त्य हैं। बाल की खाल निकालने वालों को तो और भी बहुत से प्रयोग मिल जावेंगे, किन्तु हमने ऊपर उन्हीं बड़े दोषों पर ध्यान दिलाना उचित समझा है जो ऐसे सुन्दर काव्य में अधिक खटक रहे हैं। पढ़ते समय तो:—

इस चरण में 'फणा' शब्द ही खटकता है, संस्कृत में तो 'फणा' शब्द शुद्ध है और मराठी में 'फणा' ही बोला और लिखा जाता है। अवश्य, हिन्दी में तो केवल 'फन' 'फण' लिखा जाता है परन्तु यह कहना कठिन है कि जो शब्द संस्कृत में शुद्ध है वह हिन्दी में अशुद्ध भी हो सकता है या नहीं!

जैसे 'फण' से 'फणा' लिखा गया वैसे ही 'कण' से 'कणा' बना लिया गया। 'कणा' अवश्य संस्कृत हिन्दी दोनों में अशुद्ध है।

चिन्ताग्रस्त राजा जयचन्द का चित्र-वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है:—

आंखों में पड़ के कणा भी
एक बालू की

व्यग्र कर डालती है
मन को शरीर को
किन्तु यदि ज्वाल मय
वाण बिधे उर में
उस मर्मान्तक व्यथा
का चित्र हायरे !
कौन आंक सकता है
भुक्त-भोगी छोड़ के !!

आलोचक महोदय विद्वद्वर मिश्र जी ने 'नैषध चरित" के एक श्लोक के भाव से मिलता जुलता यह भाव बतलाया है। नैषध के उस श्लोक का अर्थ यह है कि जब एक धान का ठूंठ पैर में चुभ जाता है तब न जाने कितना दर्द होता है परन्तु जब एक सुकुमारी के सुकुमार हृदय में सशरीर राजा ही बैठ गया हो तब उसकी व्यथा का क्या कोई अनुमान भी कर सकता है ?

हमारी राय में ब्रजभाषा में 'सागर' कवि के सवैये का भाव नैषध के भाव से भी बहुत ऊपर पहुँच गया है। 'सागर' ने लिखा है—

नेकसी कांकरी जाके परे,
सु तो पीर के कारन धीर धरे ना,
एरी भटू, कल कैसे परे,
जब आँखि में आँखि परे निकरे ना।

जरा सी कांकरी के (कण) आँख में पड़ते ही पीड़ा के कारण धैर्य नहीं रखा जा सकता। फिर आँख में आँख ही पड़ चुकी हो और निकलती भी न हो तो फिर कैसे चैन मिल सकता है।

आँख में कंकड़ पड़ने की पीड़ा बयान करके उससे भी बड़ी चीज आँख में पड़ी बतलाकर लगातार पीड़ा के कारण चैन न

मिल सकने का अनुभव 'सागर' कवि बड़ी सुगमता से पाठकों को करा देते हैं। श्री हर्ष वही अनुभव पैर में ठूँठ चुभा कर एवं हृदय में राजा की मूर्ति बैठाकर नहीं करा सके।

कहाँ तो आँख में ही एक बार कंकड़ एवं दूसरी बार आँख का पड़ जाना और कहाँ पैर में ठूँठ का चुभना और पैर से बहुत दूर हृदय में मूर्ति का बैठाना।

कहाँ सागर का अनमोल सवैया और कहाँ नैषध का साधारण श्लोक!

'आर्यावर्त्त' के कविवर ने 'आँख में कंकड़ पड़ने' का भाव तो 'सागर' से अपनाया और 'उर' में मर्मान्तक बाण के बिंध जाने का भाव तो 'सागर' से आभास लेकर अपना अलग छन्द बना लिया। न 'सागर' का मजा आया और न नैषध का ही आनन्द!! 'कण' को 'कणा' लिखकर और अनावश्यक 'हाय रे' कविता में जोड़कर छन्द नीरस भी कर दिया गया है। बालू का कण आँख में पड़ जाने से इतना कष्ट मन को या शरीर को तो नहीं हो पाता जितना एक 'कांकरी' या किरकिरी के पड़ जाने से होने लगता है।

यदि किसी के प्रेम का ही यहाँ वर्णन होता (जैसा सागर या श्रीहर्ष ने किया है) तो आर्यावर्त्त का यह छन्द कुछ सुन्दर भी माना जाता परन्तु चिन्ता-ग्रस्त राजा जयचन्द के चित्र को प्रस्तुत करते समय यह छन्द असंगत-सा प्रतीत होता है।

'आँख की किरकिरी', 'हृदय के घाव', 'जिगर के दाग', 'दिल के सदमे' प्रेम के संसार से ही सम्बन्धित हैं। तभी अमीर मीनाई ने लिखा है :—

हर जगह जोशे मुहब्बत का
नया आलम हुआ
आंख में आँसू, जिगर में दाग
दिल में गम हुआ

इसी सम्बन्ध में ठाकुर गोपालशरणजी की भी उक्ति तो देखिये, कहते हैं :—

"आँख में यह किरकिरी
तो थी पड़ी !
वेदना फिर क्यों,
हृदय में है बड़ी
क्या निगोड़ी किरकिरी
यह दुखमयी
आँख से जाकर,
कलेजे में गड़ी
× + ×
अब जरा मुझ से
सुनो इसकी कथा
क्यों विकल है
आँख रहती सर्वथा
है किसी की मूर्ति
उसमें बस रही
बस इसी से, हो
रही उसकी व्यथा"

श्री हर्ष ने तो एक बड़ी मूर्ति हृदय में बैठाने का वर्णन किया है परन्तु यहाँ ठाकुर साहब ने एक बड़ी मूर्ति 'आँख' में ही बसा दी है।

वास्तव में आँख तो देखने की अपराधिनी है। हृदय प्रेम करने का अपराधी है।

प्रणय और पश्चाताप की पीड़ा में भेद

प्रेम संसार के प्रेमतत्व के वर्णन में इसीलिए आँख और हृदय का एक अटूट संबंध माना गया है। प्रेमी के हृदय की मर्मान्तक व्यथा-

वर्णन करते हुए चितवन की मादकता, आँखों की मस्ती, आँख की किरकिरी इत्यादि का वर्णन करना स्वाभाविक ही है।

किन्तु प्रेम-संसार में जो बात स्वाभाविक हो वह सभी स्थान में स्वाभाविक ही रहेगी, ऐसा मानकर चलना ठीक नहीं। प्रेम-संसार से बहुत दूर, साधारण जगत की पृष्ठ-भूमि पर, किसी मानमर्दित व्यक्ति के उस हृदय से और आँखों से तो सरोकार ही क्या हो सकता है? जिस हृदय में घोर पश्चाताप की अग्नि रह-रह कर धधक रही है, जहाँ एक व्यक्ति अपने किए पापों पर रह रह कर पछता रहा हो उसकी मर्मान्तक व्यथा के वर्णन करते समय आँख की किरकिरी या आँख की पीड़ा का उल्लेख करना हास्यास्पद नहीं तो क्या है।

प्रेमी के हृदय की मर्मान्तक पीड़ा एक प्रकार की होती है और अपमानित व्यक्ति के हृदय में, घोर पश्चाताप के समय जो अनुभूति एवं रह-रह कर पीड़ा होती है वह बिल्कुल दूसरे ही प्रकार की होती है। दोनों में किंचिन्मात्र भी समता नहीं है। जहाँ एक के संबंध में आँख में कंकड़ पड़ जाने की पीड़ा का वर्णन करना स्वाभाविक होते हुए, सौन्दर्य प्रदान करेगा वहाँ दूसरे के संबंध में यही उल्लेख अनावश्यक होने के कारण नीरसता की वृद्धि भी कर सकेगा।

इसीलिए 'आर्यवर्त्त' में चिन्ताग्रस्त शोकाकुल एवं घोर पश्चाताप की अग्नि से झुलसे हुए राजा जयचन्द की मर्मान्तक व्यथा के वर्णन करते समय 'बालू के कण द्वारा आँख में पीड़ा पहुचाने' का विषय असंगत एवं अनर्गल ही है।

मौलिक कल्पना

'आर्यावर्त्त' के जो कुछ दोष हमने ऊपर दिखाने का प्रयत्न किया है उनके कारण उसका साहित्यिक मूल्य अवश्य कम हो गया है। परन्तु इन थोड़े-से दोषों को अलग हटाकर, जो बहुत-सा भाग

रह जाता है वह इतना रमणीय है कि उसको पढ़ते-पढ़ते हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से विभोर हो जाता है। अमित्राक्षर छन्द में इतना सुन्दर भाषा-प्रवाह हिन्दी के किसी दूसरे काव्य में तो मिलेगा नहीं।

समालोच्य ग्रन्थ में राष्ट्रीय युद्ध जिस भाव को लेकर कथित हुआ है वह भी कवि की मौलिक कल्पना का परिचायक है। वास्तव में महाराज पृथ्वीराज और गौरी का अन्तिम युद्ध वर्तमान भारत के इतिहास का प्रथम पृष्ठ है। दिल्ली की वैदेशिक सत्ता की परम्परा का परिचालन इसी युद्ध से प्रारम्भ हुआ था और यही युद्ध युगानुयुग की भारतीय स्वतन्त्रता, संस्कृति, वैभव एवं उत्कण्ठा का अन्तिम सर्ग था। 'आर्यावर्त्त' के कवि ने इसी अंतिम सर्ग को एक नूतन रूप में सजा कर बड़ा उपकार किया है। स्वदेशाभिमान के रँग में डूबी हुई इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति सजीवता का परिचय दे रही है। भाषा के नवयुग काव्य के सुन्दर कण्ठहार में 'आर्यावर्त्त' निःसन्देह ही एक मनोहर रत्न बन कर अपनी आभा से हिन्दी-साहित्य को और भी अधिक गौरवान्वित करेगा, ऐसी हमारी आशा है।

अंचल के 'करील' और 'लाल चूनर'

(१)

'मधूलिका', 'अपराजिता' और 'किरणवेला' के अनन्तर 'अंचल' के दो काव्य-संग्रह और निकले हैं—'करील' और 'लाल-चूनर'। 'अंचल' की कविता में स्वाभाविकता खूब है। शृङ्गार में डूबी हुई, रस में सराबोर कविता बड़ी सुगमता से पाठक के हृदय में घर कर लेती है। 'अंचल' वास्तव में शृङ्गारी कवि हैं। उनका प्रेम वासनामय—कहीं-कहीं विकराल वासनामय—है ! उनकी 'तृष्णा', 'लालसा' और 'प्यास' अत्यन्त भौतिक तथा मांस-लुब्ध बताई गई हैं। हमारी राय में यह अनुचित नहीं है। किन्तु उनकी भाषा में कोमलता और माधुर्य का इतना सुन्दर सम्मिलन है कि हर जगह मस्ती और मादकता की छाप से कविता में एक नवीन सौन्दर्य दिखाई देता है। कृत्रिमता जितनी कम अंचल में है उतनी कम शायद ही दूसरे हिन्दी-कवि में मिले। अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि 'कीट्स' ने एक स्थान पर लिखा है—"जिस प्रकार वृक्ष में पत्तियाँ अपने-आप आती रहती हैं उसी स्वाभाविक गति से कविता भी स्वतः ही आनी चाहिए।" अंचल की 'आत्म-प्रलय' कविता की भाषा पर थोड़ा ध्यान देने से ही उनकी स्वाभाविकता का पता चल सकता है—

> प्यार किया कब मैंने किसको, स्वयं नहीं यह जाना
> जलता रहा अनल-सा, अपने में न उसे पहचाना
> कौन सलोनी परी मुझे कर देती है पागल-सा
> कौन अनंगवती रग-रग में भरती प्रबल पिपासा
> प्रेम ? एक अभिशाप—एक चीत्कार-भरा सपना है
> मौन-मौन इस पूत चिता में, तिल-तिलकर तपना है ! (मधूलिका)

'अंचल' का यह प्रेम भौतिक है, स्थूल है, वासनामय है। वह 'इश्क हकीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) के झगड़े से कोसों दूर हैं और शायद हमेशा ही रहें। किन्तु जो भाव दिल में जैसे उठे, वैसे के वैसे ही कविता में भी आ गये हैं। यही उनकी सचाई है—ईमानदारी है—तारीफ है। हृदय की अनुभूति की गहराई, भाषा में सदा ही प्रभाव उत्पन्न किया करती है। शायद इसीलिए उनकी भाषा प्रभावोत्पादक हो गई है। 'प्रेयसी की वेणी' देख कर वह भाव-विभोर हो जाते हैं—

> आज सजा गूँथी है तुमने क्या यह अपनी वेणी,
> कैसी मादकता उमड़ी है वेणी में मृगनैनी !
> ताल दे रही सृष्टि तुम्हारी इस वेणी की गति पर,
> न्यौछावर हो लुटा जगत् इस वेणी-बन्धन-कृति पर !
> तारक-जटित शरद-रजनी में शान्त, सुघर सुखदेनी,
> मेघ-किशोरी-सी अलबेली खिली तुम्हारी वेणी ! (मधूलिका)

'अपराजिता' के अच्छे-अच्छे गीत छायावादी आकाश की ओर चल दिये हैं। 'किरणवेला' में प्रगतिवाद आरम्भ हो गया है। 'करील' और 'लाल चूनर' में फिर वासनामय प्रेम और शृंगार का आकर्षक स्वरूप प्रकट हुआ है। सुबह का भूला शाम होते-होते घर वापस आ गया है ! —

> मेरा वश चलता, मैं बन जाता कौमार्य तुम्हारा ! —
> होटों में निर्माल्य अछूता बनकर मैं छा जाता ;
> अंगों के चम्पई रेशमी परदों में सो जाता !
> आँखों की सुर्मई गुलाबी चितवन में खो जाता ;
> जब तुम सिहर लजातीं, बनता मैं गालों की लाली
> शरद-समीरण में बनता मैं पुलकों की घन-जाली।
> मैं न छलकने देता मुस्कानों की गोरी प्याली।
> मेरा वश चलता—

कितनी सीधी-सादी भाव-मयी भाषा है। वाणी तो माधुर्य से ओतप्रोत है ही, स्वर-लहरी भी रोचक है। 'अंचल' प्रायः 'इन्द्रिय-भोग-जन्य स्थूल आनन्द के कवि' और 'विद्रोही' भी कहे गये हैं। हमारी समझ में दोनों मत ठीक ही हैं। प्रगतिवादी कविताओं को छोड़ कर, जो कविताएँ उन्होंने लिखी हैं—जो भाषा-भाव की दृष्टि से अत्यन्त सरस हैं—अधिकतर कामवासना से ही सम्बद्ध हैं। अधिकतर उनमें रूप-यौवन की मादक गंध ही पाई जाती है। पर, यदि केवल इन्हीं कविताओं पर दृष्टि डालें, तो भी वह विद्रोही ही ठहरते हैं। अवश्य ही इस विद्रोह का स्वरूप कुछ अजीब-सा है। जिस शृंगार को देश नहीं चाहता, जो देश की वर्त्तमान अवस्था में हितकर नहीं कहा जा सकता, उसी शृंगार की कविता लिखना और फिर सीनाजोरी करना, 'विद्रोह' नहीं तो क्या है? और वह शृंगार भी कैसा! बिल्कुल नग्न शृंगार! —जिसे पढ़ने और सुनने में भी इस युग में झिझक मालूम होती है!! 'किरणवेला' का एक उदाहरण पर्याप्त है—

तुम्हें न जाने दूँगी अब तो मेरे सरस बटोही!
देखूँ कैसे भाग सकोगे हे मेरे निर्मोही!
नाच रहीं सागर की लहरें उष्ण रक्त में मेरे;
डोल रही उर में अरण्य की व्याकुलता अति घेरे।
यह लावण्य-पुञ्ज क्षण-भर का कौन यहाँ सुख पाता?
प्रियतम का संयोग न होता, यौवन बीता जाता!
खोल दिया अवगुंठन मेरा जब तब लाज कहाँ की,
दरस-परस के बाद अभी तो सारा सुख है बाकी!
भ्रमित मृगी-सी भटक रही मैं तृषा-दग्ध चाहों में,
अब तो कसलो धृष्ट! मुझे अपनी गोरी बाहों में!

यहाँ तक भी गनीमत है। 'लाल-चूनर' में तो प्रेम किसी से है; ब्याह किसी और से ही हो गया है। 'अन्तिम भेंट' की बानगी देखिये—

अबतक प्रिय ! मैं रही तुम्हारी, अब हो गई पराई ! —
मेरे आँचल में तेरी साँसों का स्वर भर आता ;
सोच रही मैं जली, आज से था हूँ गई बुझाई !
शेष हो गया प्राणों का सुख-स्रोत – हृदय की बातें ;
मधुर जागरण—मादक निद्रा की वे क्वाँरी रातें
आज शिथिल बाहों के बंधन, चुम्बन-मन्त्र न गाते ;
लगता यों प्राणेश ! मुझे, मैं उमड़ी, बरस न पाई !

शिष्ट सम्प्रदाय में, जहाँ लोकाचार की प्रतिष्ठा बाकी है, 'क्वाँरी रातों की प्रेम परिरंभण-कथा न जाने कितनी घृणा से सुनी जायगी ; किन्तु भाषा में जो स्वाभाविकता और मादकता है उसे हृदयङ्गम करते ही हम 'अंचल' की तारीफ करने को तैयार हो जाते हैं और उस तन्मयता में यह भी भूल जाते हैं कि अन्तिम पंक्तियाँ यद्यपि श्रीमती महादेवी वर्मा की—"मैं नीर-भरी दुख की बदली, उमड़ी कल थी, मिट आज चली"—इन पंक्तियों का रूपान्तर मात्र हैं तथापि उन पर 'अंचल' ने अपनी छाप लगादी है। थोड़े-से रूपान्तर में, शब्दों के फेरफार में, भाषा सौष्ठव बढ़ ही गया है—घटा नहीं। व्यंजना की जो शक्ति 'बरस न पाई' में आ गई है वह 'मिट चली' में नहीं आ सकी। 'बरस न सकने' की गहरी निराशा आगे और भी स्पष्ट है—

लगता तुम असीम हो—सीमित मेरी विह्वल बाहें ;
आ न सकूँगी तुम तक—मेरी रुद्ध हो गई राहें।
अब तुम पिक की स्वर-लहरी में सुनना मेरी चाहें ;
लुटी कपोती के क्रन्दन में लग्न-भ्रष्ट तरुणाई।
ओ जीवन के साथी ! मैं क्या देख रही थी सपना ;
हँसती निर्दय नियति रोकती—'कह न किसी को अपना' !
समझा रहा दुःख—'जीवन में एक मंत्र ही जपना'—
'रहे भूमि के ऊपर मेरे दीपक की अरुणाई' !

कविता हृदय के अन्तरतम कोने में तुरन्त ही पहुँच कर हमें गहरी निराशा में डाल देती है। और, यह निराशा कवि के प्रति नहीं है, बल्कि उस हृदयहीन समाज के प्रति है जिसने नाना प्रकार के बन्धन बनाकर लोकाचार की वेदी पर शुद्ध स्वाभाविक प्रेम का बलिदान कर दिया है। ये पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते हमें उन कोमल कुसुम-कलिकाओं की याद आने लगती है जिनके यौवन का लावण्यपुंज प्रति वर्ष सामाजिक अत्याचार की ज्वाला में जल कर क्षार होता रहता है। अन्त में हम समझ पाते हैं कि कवि ने मर्यादा का अतिक्रमण करके अनुचित प्रेम का वर्णन नहीं किया; किन्तु उस सामाजिक अत्याचार की याद दिलाई है जिसको रोकना हमारा कर्त्तव्य है—साहस बाँधकर जो समाज के विरुद्ध खड़ा हो वह 'विद्रोही' नहीं तो क्या है?

अवश्य ही 'अंचल' के प्रत्येक प्रेम-गीत में सामाजिक अत्याचार से उत्पन्न निराशा नहीं मिलेगी। किन्तु अधिकतर गीतों में अनुभूति की गहराई मिलती है। जिसको कवि ने स्वयं अनुभव किया है उस व्यथा को, उस वेदना को, उस कसक को, उस टीस को कवि क्यों न व्यक्त करेगा? कवि उसे रोकना चाहता है, मगर वह रोके रुकती जो नहीं। वह विवश लिख उठता है—

किसी के रूप की आसक्ति जीवन से नहीं जाती,
नहीं जाती किसी की याद प्राणों से नहीं जाती।
कभी जुड़ जाय शायद स्वप्न टूटा जो लड़कपन में,
कभी छा जाय शायद फिर वही उल्लास तन-मन में,
कभी बिछुड़ा हुआ साथी कहीं मिल जाय जीवन में;
निराशा से भरे दिल से, यही आशा नहीं जाती।
मुझे चारों तरफ घेरे विवशता की कठिन कारा,
जलन इतनी—न होती लाल क्यों यह अश्रु-जलधारा,
छिपाने को छिपा लेता विकल चीत्कार मैं सारा;
मगर अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा नहीं जाती।

'लाल चूनर' की कई रचनाएँ इसी 'अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा' के परिणाम हैं। वे उचित जँचें या अनुचित, हैं भावुकता से ओत-प्रोत—और हैं हृदय के मनोवेगों के यथातथ्य चित्रण। संगीत का जादू तो उनमें आकर्षक है ही।

हाँ, कहीं-कहीं यदि कोई दोष दिखाई भी पड़ता है, तो वह 'अंचल' का उतावलापन है। यदि वह थोड़ा सब्र रखते तो शायद और भी सुन्दर कविता लिखी गई होती; परन्तु उनको धैर्य कहाँ? वह तो उस बालक की तरह है जिसको सीटी मिलने की देर है। बस, मिलते ही वह बजाना शुरू कर देता है और सीटी बजाने में ही तल्लीन हो जाता है। उसे यह देखने की फुर्सत कहाँ कि सीटी से आवाज ठीक भी आ रही है या नहीं! 'लाल चूनर' का एक गीत कुछ-कुछ ऐसा ही है—

संचित करो, लुटा दो चाहे, मैं भण्डार तुम्हारा
अर्पित है किशोर गायक का तन-मन-चिन्तन सारा
गूँथो मुझको या बिखेर दो, मैं हूँ हार तुम्हारा

अपनी प्रेयसी से यह कहना तो स्वाभाविक ही है कि 'तुम मेरी सब कुछ हो'; किन्तु यहाँ 'अंचल' जी उससे कहते चले जा रहे हैं कि 'तू तो कुछ भी नहीं है, मैं ही तेरे हृदय का हार हूँ, मान न मान, मैं ही तेरा भंडार हूँ।' प्रेयसी पूछ सकती है, 'क्यों'?

अंचलजी का उत्तर है—"केवल इसीलिए कि मैं सुन्दर गायक हूँ, मेरी किशोर अवस्था है और 'धन' छोड़कर सारा 'तन-मन-चिन्तन' तुझे अर्पित करता हूँ। 'धन' लेकर तू करेगी क्या? इसीलिए 'तन-मन-चिन्तन' देने को तैयार हूँ। अतः समझ लो कि मैं तेरा भंडार हूँ, तेरा हार हूँ।" प्रेयसी कह सकती है—"जी हाँ, मजनूं मियाँ! बड़े खूबसूरत हो न? हृदय का हार बनने आ गये! महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ भी देखी हैं कि नहीं?—'वह हार बनेगा क्या? जिसने सीखा न हृदय को बिंधवाना'!"

निरुत्तर होकर कवि को चुप हो जाना पड़ता है। कवि सोचता है—'जल्दी हो गई। गलती हो गई। मुझे हार नहीं बनना चाहिए था, कहना यही चाहिए था कि तू ही मेरे हृदय का हार है।" किन्तु आलोचक कहता है—यही गलती नहीं हुई, यहाँ भाषा-दोष भी है। "गूँथो मुझको या बिखरे दो, मैं हूँ हार तुम्हारा"—इसमें सोचने की बात है, जब बना-बनाया एक हार मौजूद ही है तो फिर हार के गूँथने का तात्पर्य ही क्या हो सकता है ? क्या 'नूह नारवी' का यह शेर नहीं पढ़ा ?

गूँथे भी गये, जकड़े भी गये, सीना भी छिदा, गुलशन भी छुटा ;
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक, यह ख़ुश-इक़बाली फूलों की !!

वास्तव में यहाँ उतावलेपन ने गीत बिगाड़ दिया है। उतावलेपन के अतिरिक्त दूसरा दोष 'अंचल' में प्रगतिवादी बनने की सनक है। 'करील' की एक कविता हृदय में बरबस समवेदना का ऐसा स्रोत पैदा कर देती है जो कविता पढ़ लेने के बहुत देर बाद भी चलता रहता है—सारा वातावरण ही करुण-रस से ओत-प्रोत हो जाता है—

भूल जाती गंध अपना कुंज, जाती दूर जब उड़
भूल जाते प्राण काया छोड़ते ही शून्य में मुड़
हो न मेरी याद में विह्वल कभी भर अश्रु लाना।
भूल जाता फूल डाली को क्षणों में ही बिछुड़कर
याद मेघों को न करती दामिनी भी आ धरा पर
बुझ गया जो दीप उसमें अब न तुम बाती सजाना।
वेदना इससे बड़ी होगी मुझे क्या और सुन कर
तुम विकल हो याद करती हो मुझे चीत्कार-कातर
क्यों उठे मेरा वही फिर दर्द छाती का पुराना।
तुम सुखी हो, है न जीवन में मुझे इससे बड़ा सुख

हो कहीं भी तुम, रहे प्रमुदित तुम्हारा चाँद-सा मुख
विश्व में बाकी न रहता फिर मुझे कुछ और पाना !!
भूलने में सुख मिले तो भूल जाना ।

यदि गीत यहीं समाप्त कर दिया जाता तो न जाने इसमें कितना सौन्दर्य बना रहता। परन्तु उतावलेपन के अतिरिक्त प्रगतिवादी बनने की सनक में वह आगे बढ़के ही चले जाते हैं !—

आज मेरा क्या ; खड़ा मैं युद्धरत उनके शिविर में
नाश पूँजीवाद का जो कर रहे संसार भर में
लक्ष्य, नवयुग के उजाले में नई दुनिया बसाना।
भूलने में सुख मिले तो भूल जाना !

एक सुन्दर गीत को अन्त में किस तरह बिगाड़ दिया है! पूँजीवाद के नाश से भला वियोगाग्नि का क्या सम्बन्ध ? यदि बे-सिर-पैर का यह बेसुरा अन्तिम छन्द न लिखा जाता तो गीत का सौन्दर्य विकृत न होता ! वास्तव में, प्रेम-वर्णन के, और प्रगतिवाद के, अलग-अलग क्षेत्र हैं—उनकी मर्यादाएँ अलग-अलग हैं। 'नारी' के कितने ही सुन्दर चित्रों को 'अंचल' ने बड़ी भावभंगी से सँजोया है; किन्तु अन्त में नवयुग की सनक में वे फीके पड़ गये हैं। गुलाब के फूलों के नीचे धुआँ दिया जाय तो उनका लावण्य धूमिल ही हो जायगा। हवा में उड़ती हुई हल्की रंग-बिरंगी तितली पर यदि छाप लगाने की कोशिश की जाय, तो या तो उसका सौन्दर्य नष्ट हो जायगा या उसके प्राण ही निकल जायँगे! आश्चर्य नहीं कि 'अंचल' के कई सुन्दर गीत प्रगतिवाद की छाप के कारण विकृत एवं प्राणहीन बन गये हैं! फिर भी इन आलोच्य पुस्तकों में कवि की शृङ्गारिकता सचमुच हृदयग्राहिणी है। हाँ, शृङ्गार से यदि दूर रहा जाय तो ठीक ही है; किन्तु शृङ्गार का यदि वर्णन करना ही है तो मानवीय स्वभाव एवं मनोभाव का यथार्थ चित्रण ही मर्मस्पर्शी हो सकता है। वास्तव में, मन में आह्लाद उत्पन्न करने की शक्ति

तो वही रखता है। डॉक्टर जॉन्सन ने एक जगह लिखा है कि अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक समय तक आनन्द प्रदान कर सकने की शक्ति, मानव-स्वभाव के वास्तविक चित्रण से बढ़कर, दूसरी किसी चीज में नहीं है❀। हमारी राय में साहित्य की स्थायी निधि वही है जहाँ मनोवेगों का स्पष्ट चित्रण है। 'अंचल' ने भी यही तथ्य स्वीकृत किया है। उन्होंने कभी अँग्रेजी-कवियों के दामन पकड़ने की कोशिश नहीं की है। उनकी कविता का वातावरण ठेठ देशी है—अवश्य वह केवल वासनामय प्रेम से परिव्याप्त है। और, केवल इसी दृष्टि से हम उन्हें 'विद्रोही' कहते हैं। हम शृङ्गार को भला कहें या बुरा; सच तो यह है कि यौवन के कुसुमित सौन्दर्योद्यान में कवि-प्रतिभा-जन्य काव्य-वैचित्र्य का रमणीय उदाहरण 'अंचल' के काव्य जैसा आधुनिक कविता में तो नहीं है! उनकी कविता में मधुरावृत्ति के साथ सरल और रसीली भाषा की अनूठी मिठास है। उन्होंने नारी में सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा है। उसे देखते-देखते भी वह थकते नहीं हैं। शायद वह जन्म-जन्मान्तर देखते ही रहना चाहते हैं! उनके लिए नारी तो 'जीवन-वसन्त की पिक-सारिका' और 'पृथ्वी की रङ्गस्थली' तथा 'छवि के सपनों की रम्य शयन-शिला' से भी बढ़कर है। वह तो नारी को सौन्दर्य की खान ही समझते हैं—

तुम दिया की जोत-सी, तुम तो झमकते झूमरों-सी;
अप्सरा के रूप-सी, तुम तो किरण के नूपुरों-सी।
रूप की तुम एक मोहक खान!
देख तुमको प्राण खुलते, फूटते मृदु गान!
तुम प्रकृति के नग्न चिर-सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब;
सृष्टि-सुषमा की पिकी की एक निरुपम तान।

❀ Nothing can please many and please long, but just representations of human nature.

तुम लदी कौमार्य-कलियों से लता सुकुमार,
मुग्ध यौवन और शैशव की नई पहिचान।
तुम समीरण की सखी, शशि की सलोनी देह,
रूप की तुम एक मोहक खान!

'अंचल' के ऐसे गीत आधुनिक शृङ्गार रसात्मक काव्य-ग्रन्थों में रत्न-तुल्य हैं। किन्तु वह यदि 'प्रगतिवादी कृत्रिम काठ की टाँग' न लगाये होते तो उनकी गति न जाने कितनी सुन्दर और सुस्थिर होती! अस्वाभाविक एवं असंगत प्रगतिवादी कृत्रिमता ने काव्य का सौन्दर्य कई स्थानों में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। एकाएक बिना सोचे-समझे वह कहने लगते हैं—

तुम वही हो गा जगाती जो हृदय की कोंपलों को
जानता हूँ मैं तुम्हारे इन नशीले चोचलों को
इन कुलेलों में न कोई रह गया मुझको प्रलोभन
एक-से निष्प्राण हैं सारे तुम्हारे ये प्रसाधन
चाहता मैं आज जलती आग, केवल आग तुमसे
चाहता मैं अब न प्यालों में सुरा-सा झाग तुमसे
आ रहा मानव-प्रगति का रक्त-रंजित वह सवेरा
फिर न जिसके बाद होगी रात, जड़ता का अँधेरा
और कर्कश रव शृगालों का मरण में लीन होगा
जब न यह शोषण चलेगा, जब न कोई दीन होगा
रागिनी-सी कामिनी तुम क्रान्ति के नव स्वर निकालो
छोड़कर जादूगरी संघर्ष के ये दिन सँभालो
देखकर तुमको बिछौने की गुलाबी सुधि न आये
युद्ध में बढ़ते चलें छाती फुला, मस्तक उठाये

यह तो मानों रेशम में टाट का बखिया है! कहाँ 'रूप की खान नारी' और कहाँ उसी के 'सारे प्रसाधन निष्प्राण' कहाँ! 'समीरण

की सखी' और कहाँ 'नशीले चोचलेबाज़ो' ! कहाँ 'कौमार्य-कलियों से लदी सुकुमार लता' एवं 'चन्द्रमा-सी सलोनी देह' और कहाँ सहसा युद्ध में आने की ललकार ! कोमल हिरन की पीठ पर घास का गट्ठर ! और, यह युद्ध कैसा ? एकदम काल्पनिक ! जिसका वर्णन केवल प्रगतिवादी बनने के लिए वह करते चले जा रहे हैं !

(२)

आधुनिक युग में शृंगारी कवि 'अञ्चल'

'चन्द्रालोक' में शब्द-दोषों के उदाहरण पढ़ते-पढ़ते सहसा हमारी दृष्टि, एक दिन इस वाक्य पर गई कि 'वनिता मम चेतसि' (स्त्री मेरे हृदय में है) । चन्द्रालोक के इस वाक्य में 'वनिता' शब्द में शब्द-दोष बताया गया है । लिखा यह गया है कि 'वनिता' शब्द से सारे नारी-समाज का बोध होता है । सारी स्त्रियाँ किसी को भी प्रिय नहीं हो सकती इसीलिए स्त्री-विशेष अपनी प्रियतमा का नाम लेकर यह कहना चाहिये कि वही मेरे हृदय में है ।

कवि 'अंचल' के 'करील' और 'लाल चूनर' इस शब्द-दोष के अपवाद प्रतीत होते हैं । दोनों रचनाओं में कवि सारे नारी-समाज का ही प्रेमी प्रतीत होता है । कवि की वैयक्तिक अनुभूति कुछ भी रही हो, कविताओं में 'अंचल' ने नारी मात्र को ही 'रंगीली तितलियाँ' 'जग तरंगिनी' 'पुलक पंखिनी' ''गर्वोन्नत यौवन किरीटिनी' 'विश्व के प्रथम प्रातः को हिम-कणिका' 'रति की स्थिर, दीर्घ एकान्त छाया 'शान्त मधुवन की निःशेष सित कामना; 'आग और सोने के पहाड़ों के बीच बहती पार्वत्य सरिता की रक्तधारा सी बेगुनाह' 'शारदीय ऊषा सी निष्कलंक', 'निश्चल सागर की आत्मा सी शान्त', 'उड़ती बालू-सी मृगतृष्णा में एक 'ओसिस सी' और 'रूप-सिन्धु की निवासिनी चिर उर्वशी' बताया है । तात्पर्य यह है कि जितने सुन्दर विशेषण कवि-कल्पना में आ सकते थे नारी-मात्र के लिये वे प्रयुक्त किये गये हैं । उनकी सम्मति में—

जीवन वसन्त के विभव की पिक-सारिका,
प्रेमियों को सिद्धि और ऋद्धि की सकल कला,
तुम प्रति निशि में बनती हो नव वधू,
नित नित नूतन हो ।
प्रतिदिन सार्थक है होती सीमन्त की सिन्दूर रेख ;
धरा और प्रकृति, मनोज की दो सहचरी, तीसरी तुम
लक्ष्य वेध करती हो जब मन हर के,
सद्य उगलते नवल चन्दन की बाड़ी-सी ।

'नारी मात्र से मिलन' की आकांक्षा न जाने कवि को कितना उत्कंठित कर देती है। वह आपे से बाहर होकर चिल्ला उठता है—

"किन्नरियों का रूप, लिये मदिरा की बूँदें लाल
टूट रहे कितने मेरे चुम्बन के तारे बाल !
उष्ण-रक्त में थिरक रही तुम ज्वाला गिरि-सी लीन
लोलुप अंगों में लय होकर आज बनो मनमीन
फिर देखो तो कितना सुख है, मधु का वैभव कान्त
लुट जाता विवेक-चिन्तन, रग रग बनता विभ्रान्त
सुरा सुराही ! तुम में शतशे ! कितना रास-विलास
देखो तो इस वंचित मद्यप में है कितनी प्यास !

कवि की इस 'प्यास'—'विकराल वासना मयी पिपासा'—की कतिपय आलोचकों ने अत्यन्त निन्दा की है। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि चेतन-जगत् में स्त्री-सौन्दर्य चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति-केन्द्र माना गया है। हमारे शास्त्रों में भी शृंगार रस का रंग श्याम माना गया है। आकाश की भांति वह अनन्त है।

अग्निपुराण में एक ही रस—शृंगार रस—को प्रधानता दी गई है; और इसी रस से अन्य रसों की उत्पत्ति बताई गई है। श्री भोज-राज ने अग्निपुराण के अनुसार 'शृंगार प्रकाश' में तो यहाँ तक

लिख दिया है कि शृंगार ही एकमात्र रस है; 'वीर' 'अद्भुत' आदि में तो 'रस' शब्द का प्रयोग केवल गतानुगतिकता—अन्ध परम्परा—से किया जाता है।

हमारे प्राचीन कवियों ने भी इसी शृङ्गार रस से ओत-प्रोत अत्यन्त सरस रचनाओं से संस्कृत भाषा के काव्य-भण्डार को सजाया है। फिर यदि 'अंचल' ने शृङ्गार रस की सुन्दर रचनाओं से हिन्दी साहित्य भण्डार को सजाने का प्रयत्न किया है तो उसे निन्दनीय कैसे कहा जा सकता है? यदि अनन्तता का वैभव 'अंचल' ने 'नारी' में देखा हो तो इसमें अस्वाभाविक कौन-सी बात है?

अवश्य हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग एक शुष्क एवं नीरस युग रहा है जिसके कारण सर्वथा ऐतिहासिक थे। इस शुष्क युग में 'अंचल' सरीखा, शृंगार-रस का कवि और प्रेमी कवि, अभी तक दूसरा नहीं हुआ। इसीलिए हमारे आधुनिक काव्य क्षेत्र में 'अंचल' एक अजीब-सा, सबसे अलग सा, दिखाई पड़ता है। फिर भी 'अंचल' ने अत्यन्त सरस एवं मनमोहक रचनाओं से काव्य-क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है और उसकी उपेक्षा करना असम्भव प्रतीत होता है।

आधुनिक काव्यक्षेत्र में 'अंचल' का स्थान, उसका महत्व एवं उसकी दुर्बलता समझने के लिये आधुनिक साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी आवश्यक है।

द्विवेदी युग के पूर्व अधिकतर शृंगारी कविताएँ ही प्रकाश में आ पाई थीं। नायिका-भेद, नखशिख के विषय लेकर समस्या-पूर्ति का प्रचार हो रहा था। हम यह तो मानने को तैयार नहीं हैं कि जिस काल को आजकल 'रीतिकाल' कहा जाता है उसमें शृङ्गार का ही आधिपत्य था और अन्य विषयों पर कविताएँ होती ही नहीं थीं। स्थान-स्थान पर हमने उस काल के ऐसे हस्त-लिखित ग्रंथ देखे हैं जिनमें वीररस, भक्तिरस एवं अन्य विषयों

पर स्वतन्त्र रीति से बड़ी सुन्दर कविताएँ हैं। बीस-पचीस वर्ष बाद जब ये ग्रंथ प्रकाश पा सकेंगे तब हमें इस काल के नामकरण में शायद परिवर्तन करना पड़े। फिर भी, इस तथ्य को सही मानने में आपत्ति नहीं कि द्विवेदी-युग के पूर्व जो काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे उनमें अधिकतर कवित्त, सवैयों में नख-शिख अलंकार अथवा नायिका-भेद का ही बोलबाला था।

द्विवेदी युग राष्ट्रीय युग है, हमारी सम्मति में यह युग अभी भी समाप्त नहीं हो पाया। यह युग अभी तक चल रहा है। छायावाद और प्रगतिवाद इसी युग की शाखाएँ हैं। उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्रीय युग में सदा ही, प्रत्येक देश में कोरे शृंगार को हतोत्साह करके ऐसे साहित्य का निर्माण हुआ करता है जो राष्ट्र में जागरण कर सके। उसमें कोरे शृंगारी कवियों को स्थान ही कहाँ? जागरण काल में प्रत्येक देश में यही हुआ है। भारत की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में भी यही हुआ है। अकेली 'हिन्दी' की तो बात ही क्या है? सन् १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-युग के अनन्तर प्रथम सन् १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन के साथ-साथ सामूहिक रूप से देश में जागृति प्रारम्भ हुई। सन् १९०५ से सन् १९४७ तक ४२ वर्ष का समय ऐसा समय है जो भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इन्हीं ४२ वर्षों को हम 'द्विवेदी' युग अथवा 'राष्ट्रीय' युग कहते हैं। खड़ी बोली का आधुनिक रूप इन्हीं ४२ वर्षों में बन पाया है। जागरण काल हमेशा इतिवृत्तात्मक साहित्य से प्रारम्भ हुआ करता है। राष्ट्र निर्माण में इतिवृत्तात्मक साहित्य की आवश्यकता भी रहती है। फिर हमारे यहाँ तो एकदम अशिक्षा फैल रही थी। स्त्री शिक्षा का तो नाम भी नहीं रहा था एक बड़े अँग्रेज ग्रन्थकार का कथन है कि ब्रिटिश राज-सत्ता के पूर्व मध्य भारत में, छोटे से छोटे गाँव में भी कम से कम एक संस्कृत पाठशाला और एक फारसी का मकतब मौजूद था। गांव-गांव में शिक्षा का अच्छा प्रचार था; परन्तु ब्रिटिश शासन के

४० वर्ष के भीतर ही सैकड़ों गाँवों से ये पाठशाला और मकतब न जाने कहाँ गायब होगए !!

राष्ट्रीय युग में साक्षरता एवं शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न करना पड़ता है। स्त्री-शिक्षा के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता पड़ती है जो बिना संकोच के माता और बहिनें, बहू और बेटियाँ पढ़ सकें। यदि उस समय के प्रकाशित 'कविता-कलाप' में सरस शृङ्गार नहीं मिल पाया, कल्पना की आकाशगामिनी गति नहीं दिखाई पड़ी या भावना की गहन तन्मयता दृष्टिगोचर नहीं हुई तो यह दोष 'द्विवेदीजी के स्वभाव की शुष्कता' पर तो नहीं मढ़ा जा सकता। उस समय 'उर्दू' में भी आशिक-माशूक की चोचले-बाजी को नफरत की निगाह से देखना शुरू हो गया था। मौलाना हाली के 'मुसद्दस' का असर हिन्दी कवियों पर भी पड़ रहा था। खानबहादुर 'अकबर' माशूक की कमर को 'खुर्दबीन' से देखकर 'शायरी का मजा किरकिरा' होना बता रहे थे।

जिस शृङ्गार को भरत मुनि ने 'रसाधिराज' बताया था उस शृङ्गार के प्रति घृणा तो कैसे हो सकती थी; किन्तु निर्माण-काल में उस ओर देखने का अवकाश किसको था ? लेखकों और कवियों का ध्यान देश एवं राष्ट्र के प्रति होना स्वाभाविक था। नई भाषा, नई कविता, नये-नये छन्द, नये-नये विषय, हिन्दी में क्रान्ति करने लगे थे। भूगोल, इतिहास, नाटक, उपन्यास, चित्रकला शिल्पकला एवं साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति के हेतु पुस्तकें लिखी जा रही थीं। जिनको जिधर अच्छा दिखाई पड़ा, उसने उधर से ही विषय उठा लिये। राजभाषा अँग्रेजी का प्रभाव कैसे न पड़ता ? शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद तैयार हुआ। 'ग्रे' की 'एलेजी' का अनुवाद हुआ। श्रीधर पाठक जी ने 'ऊजड़ग्राम' अनूदित किया। लाला सीतारामजी ने तो न जाने कितने ग्रन्थों का अनुवाद किया। अनुवादों के सहारे-सहारे अँग्रेजी कवियों की जीवनी हिन्दी में लिखी जाने लगीं। हिन्दी लेखों में अंग्रेजी कवियों

की रचना से उदाहरण प्रचुर मात्रा में दिये जाने लगे। इस प्रकार हिन्दी में अँग्रेजी की छाया और कलुषित छाया का सूत्रपात हुआ था। पहले शेक्सपियर, मिल्टन, ग्रे, लौंगफेलो और गोल्डस्मिथ को आदर्श माना गया। कालान्तर में वर्डसवर्थ, कीट्स, शैली के 'रोमान्स' की छाया का सूत्रपात हुआ। अँग्रेजी की इस कलुषित छाया ने आजकल हमारे साहित्य को बुरी तरह ढक लिया है। इसका प्रभाव पं० श्रीधर पाठक और लाला सीतारामजी के शुभ उद्देश्य से प्रारम्भ हुआ था। किन्तु बाद में हम निरुद्देश्य नकल करते चले गये।

स्कूल में पढ़ी हुई अँग्रेजी काव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ अभी तक हमारे हृदय-पटल पर प्रभाव जमाये हुए हैं—

'Tell me not in mournful numbers
Life is but an empty dream'

श्री महादेवी वर्मा ने बड़ी सुन्दरता से यही भाव निम्नलिखित पंक्तियों में सजाकर रख दिया है।

अब न कह जग रिक्त है यह
पंक ही से सिक्त है यह
देख तो रज में अचंचल
स्वर्ग का युवराज,
तेरे अश्रु से अभिसिक्त है यह

और पं० सुमित्रानन्दन पंत की तो बात ही निराली है। उनमें स्थान-स्थान पर अँग्रेजी कवियों का भावापहरण या भाव-साम्य दिखाई पड़ता है। 'ग्राम्या' में फूलों के नाम तक 'अँग्रेजी' के लिखे गये हैं। 'युगान्त' में संध्या का चित्र कितना पूर्ण बना दिया है! लिखते हैं:—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट टुट

इन पंक्तियों की प्रशंसा करते हुए प्रो० नगेन्द्र ने लिखा है 'संध्या की समस्त दिगन्तव्यापिनी शोभा का चित्रण न करके कवि ने केवल दो बातें ही दिखलाई हैं—'सन्ध्या का झुटपुट' और बांसों का झुरमुट' जिसमें चिड़ियाँ 'टी वी टी टुट टुट कर रही हैं। इन्हीं दो तत्वों ने समस्त वातावरण उपस्थित कर दिया है !!'

यह 'अंग्रेजी' वातावरण है या भारतीय ? 'चीं चीं चीं' करके चहकने वाली भारतीय चिड़ियाँ अब शायद अँग्रेजी बोलना ही पसन्द करने लगी हैं। जौन क्लेयर (John clare) की दो पंक्तियाँ तो देखिये—

Of everything that stirs she dreameth wrong
And pipes her 'tweet-tut' fears the whole day long.

विदेशी साहित्य को विधिवत् अध्ययन करके उसकी अमूल्य निधियों से अपने साहित्य को सजाने में हम कोई दोष नहीं समझते। किन्तु रूसी, जर्मन, फ्रेंच सरीखे सुन्दर साहित्य का कुछ न लेकर केवल अपने 'शासक' के साहित्य की नकल करना न तो अपने साहित्य के लिये ही श्रेयस्कर हुआ और न द्विवेदी युग के महारथियों की ऐसी इच्छा ही थी ! अपनी देशी परम्परा छोड़ कर विदेशी सत्ता के साहित्य के पीछे पड़ जाने की भावना से साहित्य का अत्यन्त अहित हुआ करता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने एक बार कहा था कि 'अपनी प्यारी पितृभूमि की प्रिय परम्परा को कभी मत छोड़ना तुम्हारी शक्ति की मजबूत जड़ें तो यही हैं'। आधुनिक डेनमार्क के प्रसिद्ध कवि जेनसन

(Johannes V. Jenson) ने विश्व के श्रेष्ठ कवियों की नकल करने में अपने कई वर्ष नष्ट किये। अन्त में वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे कि अपने देश की परम्परा पर दृढ़ रहते हुए ही विश्व-साहित्य का सृजन किया जा सकता है। प्रसन्नता यह है कि शब्दों के वाग्जाल और अस्वाभाविक कपोल कल्पना को छोड कर हमारे छायावादी कवि भी वापिस लौट रहे हैं।

यह सब लिखने का हमारा तात्पर्य केवल यह दिखलाने का है कि छायावादी युग कोई स्वतन्त्र युग नहीं था। अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर कई कवि और लेखक, अँग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद गद्य और पद्य में करने लगे थे। जो कवि कुछ काल के अनन्तर 'रोमान्टिक युग' के कवियों की नकल हिन्दी में करने लगे, उन्हें हम 'छायावादी कहने लगे। तेज धारा में उठते बुदबुदों की यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सकती है तो 'छायावादी युग' की भी स्वतन्त्र सत्ता मानने में आपत्ति नहीं है। किन्तु यह कहना नितान्त निराधार है कि 'छायावाद' द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया था। राष्ट्र-निर्माण-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया कैसी ?

खड़ीबोली में मार्दव लाने का श्रेय छायावादी कवियों को दिया जाता है। कुछ अंश में यह ठीक भी है। किन्तु इससे अधिक श्रेय श्री हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' और ठाकुर गुरुभक्तसिंहजी की 'नूरजहाँ' को मिलना चाहिए। अवश्य छायावादी कविता में कुछ शृङ्गार का यह वर्णन अधिकतर कल्पना और भावुकता के व्यायाम के लिए हुआ है। सुख-संभोग की प्रवृत्ति पुरुष में न दिखाकर प्रकृति के ही विभिन्न अङ्गों में दिखाकर आत्म-संतोष करने की एक परिपाटी चल पड़ी। स्त्री-पुरुष के आलिंगन न दिखाकर शेफाली कुंज के नीचे चाँदनी और अंधकार का आलिंगन दिखाना रुचिकर प्रतीत हुआ। नायक और नायिका के प्रेम-परिणय के स्थान में 'जुही की कली' और पवन' की केलि दिखाना अभीष्ट समझा गया।

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुख हँसी—खिली,
खेल रंग, प्यारे संग।

'निरालाजी' की उपरोक्त पंक्तियाँ सुन्दर होते हुए भी हृदय-स्पर्शी नहीं हैं। इलाचन्द्रजी जोशी की 'विजनवती' का शृङ्गार भी ऐसा ही है।

कोई उसको जंघा में बैठाकर
घन कुंचित केशों को देती सुलझा
इस मिस से मुख-स्पर्शन का सुख पाकर
अपना मन किंचित लेती थी बहला
सरस लास से कोई मृदु मुसकाकर
भृकुटि धनुष-पर लोचन-बाण चढ़ाती
अपने ही हिय की तृष्णा उकसा कर
अपना ही मदनानल हाय बढ़ाती !!

यह सब कल्पना का व्यायाम, दिमागी कसरत ही तो है। छायावादी अतीन्द्रिय शृङ्गार कितना ही सुन्दर हो, हृदय के कोने-कोने में नहीं पहुँच सकता। पंतजी का एक गीत 'भावी पत्नी के प्रति' बड़ा सुन्दर है। परन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते, धुँधले, कुहराच्छन्न रहस्यमय लोक में उसका सौन्दर्य ही विलीन होगया

है ! न जाने कितने सुन्दर गीतों का यही अन्त श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की 'हिम किरीटनी' में भी पाया जाता है !!

नारी के प्रति स्वाभाविक आसक्ति होते हुए भी "द्विवेदी-युग-कालीन-शृङ्गार की उपेक्षा" का ही यह प्रभाव अभी तक चला आ रहा था !! नारी के शारीरिक सौन्दर्य एवं इन्द्रिय-जन्य शृङ्गार और वासना प्रेम-का वर्णन करने का साहस कवियों में नहीं रहा था। अतीन्द्रिय शृङ्गार की झाँकी दिखाकर आत्म-सन्तोष की परिपाटी चल पड़ी थी।

वास्तव में हृदय के भावों को व्यक्त करने में साहस, सचाई और ईमानदारी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। जहाँ इन गुणों का अभाव होता है वहीं कविता कृत्रिम, भीरु, भारी भरकम एवं अस्वाभाविक हो जाती है। हृदय दबाकर लिखने वालों की कविता में न तो तन्मयता आ सकती है और न शक्ति ही। छायावादी कविता अधिकतर इसी प्रकार की है जिसको पढ़कर एवं सुनकर पाठक एवं श्रोता दोनों ही थक जाते हैं।

'अंचल' और 'बच्चन' दोनों इन्हीं कवियों की छाया में बढ़े हैं जिन्हें हम आज छायावादी कहते हैं किन्तु दोनों ने कालान्तर में इस परिपाटी को तोड़कर अपने-अपने स्वतंत्र मार्ग निश्चित कर लिये।

'मधुबाला' 'मधुशाला' के अनन्तर 'निशा निमंत्रण' 'आकुल अन्तर' एवं 'सतरंगिणी' में बच्चन ने तो फिर कुछ-कुछ छायावाद की शरण ले ली है।

'अंचल की 'अपराजिता' के कई गीत धूमिल, अस्पष्ट, एवं रहस्य-लोक में विचरने वाले हैं किन्तु जैसे-जैसे समझ आती गई कवि इस तथ्य को स्वीकार करता गया कि यदि शृङ्गार का वर्णन ही करना है तो न तो राधाकृष्ण के प्रेम का शृङ्गार हृदयग्राही हो सकता है और न प्रकृति के प्रतीकों के पारस्परिक प्रेम का !! यही तथ्य स्वीकार करके 'अंचल' ने इन्द्रियजन्य शृङ्गार की रचना प्रारम्भ

की थी और वह कविता यौवनोन्माद में हृदय खोल कर लिखी गई है। इसीलिए उनकी कविता में स्वाभाविकता बढ़ती चली गई है और सौन्दर्य-वासना से ओत प्रोत कविता अत्यन्त मोहक एवं मधुर होती चली जा रही है।

साहित्य में, चंचल, वृद्ध एवं गंभीर युवक दोनों ही हास्यास्पद माने जाते हैं। 'अंचल' शृङ्गारी रचना छोड़कर यदि रहस्यवाद, छायावाद एवं वेदान्त पर रचना करते तो वह कविता इतनी स्वाभाविक एवं मनमोहक न होकर हास्यास्पद एवं नीरस ही होती। जो भाव हृदय में उत्पन्न न होकर केवल मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं उन भावों को भाषा में व्यक्त करने से स्वाभाविकता आ ही कैसे सकती है?

अंग्रेजी कवि कीट्स ने एक स्थान पर लिखा था कि "मस्तिष्क का धर्मशास्त्र हृदय ही है" (Heart is the mind's Bible) इस वाक्य में कविता की शक्ति का रहस्य बड़ी सुगमता से समझाया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान में 'मस्तिष्क' चेतनावस्था है; 'हृदय' अचेतनावस्था माना गया है। कीट्स का तात्पर्य यह है कि चेतन ज्ञान का रुख, अचेतनावस्था के भावों के प्रति, घृणा का न होकर सम्मान का होना चाहिए; समालोचनात्मक निर्णय का न होकर आदर एवं श्रद्धा का होना चाहिए। तात्कालिक एवं अबौद्धिक अनुभव, आसक्ति, अनुराग, आवेग, एवं सहज ज्ञान के प्रति मस्तिष्क की पूर्णभक्ति दिखानी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, यह कहना अनुचित न होगा कि सचाई और ईमानदारी के साथ हृदय के भावों को भाषा में व्यक्त कर लेना ही मस्तिष्क का एकमात्र कर्त्तव्य है।

'अंचल' ने इस तथ्य को भली भाँति समझा है और इसीलिये शृङ्गारी कविता में उसे आशातीत सफलता मिली है। वास्तव में, आधुनिक युग में, 'अंचल' अपने प्रकार का एकमात्र कवि है। अवश्य, उसकी शृङ्गारी कविताएँ हिन्दी काव्य में स्थायी निधि

रहेंगी। रीतिकालीन शृङ्गार से 'अंचल' का शृङ्गार सर्वथा भिन्न है। 'अंचल' का शृङ्गार अत्यन्त स्वाभाविक, हृदय से निकला हुआ एवं हृदयग्राही है। कारण यह है कि अंचल स्वभाव से ही प्रेमी कवि है। नारी की 'शरबती चितवन' दिखाई पड़ते ही कवि का सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य पुलकित हो उठता है और वह गुनगुनाने लगता है:—

उतर आई हृदय पर क्यों
तुम्हारी शर्बती चितवन ?
पकड़ पतवार मन की चल
पड़ा माँझी लहर खाता;
पड़ी डूबी अतल में नाव
कब को भग्न अज्ञाता।
मुझे अब ज्ञात, केवल गा रहा
प्रति रोम पुलकाकुल
उठे हैं बोल तरु की एक
डाली पर सहस्र बुलबुल !!

वह नारी सौन्दर्य को वर्षों देखते-देखते भी नहीं थकता। कहने लगता है:—

ठहर जाओ घड़ी भर, और
तुमको देख लें आँखें!
तुम्हारे रूप का सित आवरण
कितना मुझे शीतल
तुम्हारी कंठ की मधुबंसरी
जलधार सी चंचल ;
तुम्हारे चितवनों की छाँह
मेरी आतमा उज्ज्वल ;

उलझती फड़फड़ाती प्राण-पंछी की तड़पा पांखें।
ठहर जाओ घड़ी भर और, तुमको देखलें आँखें॥

'करील' में तो अंचल की कई विरह-कविताएँ अत्यन्त मार्मिक हो गई हैं। वैयक्तिक अनुभूति की छाप अत्यन्त गहरी और हृदय-द्रावक बन गई है। रह-रह कर वह चिल्ला उठता है कि फिर वही पुरानी बात मेरे हृदय को मथे डाल रही है, मुझे बार-बार बीछी की तरह डंक मारती चली जाती है:—

आज ओरे कवि! धधकती है वही आह्वान-वाणी।
शून्य हियतल में कहाँ से जग उठी गाथा पुरानी॥
फिर विकल सपने उड़ाती सी सजन की याद आई।
फिर पिपासाकुल दृगों ने उल्लसित तृष्णा लुटाई॥
दूर की संगिनि! अचंचल मूक करदो यह समर्पण।
ओ विहंगिनि! शून्यता में अब न हो अनुभूति दंशन॥

छन्द पढ़ने पर पाठक के हृदय में प्रत्यक्ष अनुभूति-'दंशन' होने लगता है। फिर 'दूर की संगिनि' का तो न जाने क्या हाल होता होगा!! उससे तो कवि यही निवेदन करता है कि 'यदि वह भूल सके तो बड़ा अच्छा होगा, वियोग के दुख को समय ही भुला देता है। बिछुड़ने के बाद सभी वियोगवह्नि को भूल जाते हैं। प्रकृति का यही नियम है। तुम्हें भी इसमें सुख मिले तो अवश्य भूल जाना'। 'अंचल' की यह कविता पाठक के हृदय में बरबस सम-वेदना का ऐसा स्रोत पैदा कर देती है जो कविता पढ़ लेने के बहुत देर बाद भी चलता रहता है। सारा वातावरण ही करुण रस से ओत-प्रोत हो जाता है।

× × × ×

यदि 'अंचल' अपनी मर्यादा समझ कर अनुभव-जन्य विरह, सौंदर्योपासना एवं वासना प्रेम की कविताओं तक ही सीमित

रहते तो उनकी कविताएँ वर्त्तमान युग में अद्वितीय मानी जातीं। किन्तु इस युवक कवि का युग-धर्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था! वही पुराने प्रेम की बातें इस आर्थिक वैषम्य एवं शोषण के अत्याचारी युग में—कहाँ तक तृप्ति दे सकती थीं? पीड़ित मानव समाज के प्रति सहानुभूति दिखाना इस युवक कवि को इसीलिये आवश्यक हो गया। 'अंचल' ने लिखा:—

आज किस अन्तर्मुखी गतिहीनता में बद्ध कविगण?
क्या कुरेदा ही करेंगे खोखले अपने सड़े व्रण?
मूक तृण-तृण से द्रवित संवेदना की टास पाते
किन्तु छिछली ठठरियों की ओर उनके दृग न जाते
चाहता मैं त्रस्त के विश्वास की नींवें हिलाकर
खोलना उनकी अगति-मूलक कला की पोल जर्जर

किसी की पोल खोलने में, बिना व्यंग के, हृदय पर कोई चोट नहीं पड़ती। बिना चोट के, ऐसी रचनाएँ हृदयग्राही नहीं हो सकती! किन्तु 'अंचल' की प्रगतिवादी कविताएँ सिद्धान्त-विवेचन से अधिक दूर नहीं जा सकीं:—

गूँज रहे मेरे कानों में
जन-जागृति के अभिनव-स्वर
दौड़ गई मेरे प्राणों पर
श्रम-सत्ता की नई लहर
मैं कहता हूँ—वर्ग-चेतना
युग की प्रबल चुनौती है
युग युग के विकास की
विश्वासों की रुकी मनौती है।

इस पद में नये युग की वस्तुस्थिति के साधारण वर्णन के अतिरिक्त और कोई तथ्य ऐसा नहीं है जिससे हृदय पर कोई भी प्रभाव उत्पन्न हो सके!

नया संसार बनता है
नये आधार जिसके सब ;
खड़ा ललकारता ईमान
मेरा, क्यों रुकूंगा तब ?
नये युग की सजी वेदी,
चढ़ा दूँ आज अपना सब;
मिलादूँ तार मन का, क्रांति
के जलते स्वरों से अब।
पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो !!

उपरोक्त पद्य में कवि की कोरी आकांक्षा का ही आभास मिल पाता है ! बात यह है कि जब तक कवि ने आर्थिक शोषण का अथवा आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न अत्याचार का स्वयं अनुभव नहीं किया हो तब तक कोरे सिद्धान्त का विवेचन अथवा कोरी वस्तु-स्थिति का वर्णन रोचक नहीं हो सकता। ऐसी कविता वही हृदय-ग्राही हो सकती है जिसमें कहीं भी "आर्थिक वैषम्य" का नाम न आते हुए भी कुछ वास्तविक दृश्य ऐसे बतलाये गये हों जिनको पढ़ लेने पर पाठक के हृदय पर स्वतः यह प्रभाव उत्पन्न होता हो कि संसार में शोषण और अत्याचार वास्तव में बहुत ही बढ़ गया है और वह आर्थिक वैषम्य का ही परिणाम है। "आर्थिक वैषम्य" एवं 'शोषण' का नाम लेकर उनकी बार-बार दुहाई दे देकर उन्हें कोसते रहना तो गद्य मात्र है कविता नहीं।

'अंचल' स्वभाव से ही नारी-प्रेमी और शुद्ध शृंगारी कवि हैं। 'शोषण' और 'शोषित' के झगड़ों से उनका हृदय बहुत दूर प्रतीत होता है। इसीलिये जहाँ शृङ्गारी कविताएँ अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं वहाँ प्रगतिवादी कविताओं में अस्वाभाविकता अलग दृष्टिगोचर होती है। मालूम यह होता है किसान और

मजदूर के सुख दुःख का तो कवि को किंचित् भी अनुभव नहीं है; किन्तु केवल युग धर्म के नाते वह उनसे कोरी समवेदना प्रकट कर रहा है। जहाँ वह स्वयं 'मजदूर' का बाना धारण करके अपने दुःख और दीन अवस्था का वर्णन करने लगता है वहाँ कविता कृत्रिमता से बुरी तरह दब गई है। जहाँ थके थकाये दीन क्षीण श्रमिक बनकर भी वह 'फेशनेबुल' आधुनिक ललनाओं की सौन्दर्योपासना के गीत गाने लगा है वहाँ कविताएँ नीरस और फीकी ही नहीं अत्यन्त हास्यास्पद भी हो गई हैं।

वास्तव में मजदूर न होते हुए भी कवि जब मजदूर बनकर अपनी दुःख गाथा सुनाने लगता है तो वह अरण्य रोदन सा ही प्रतीत होता है। जो वस्तु नहीं है उसका अस्तित्व किसी न किसी प्रकार बतलाना साहित्यिक धृष्टता नहीं तो क्या है? कृत्रिमता प्रभावोत्पादक कैसे हो सकती है? कवियों को यह बात मालूम होनी चाहिये कि 'कविता' 'वकालत' के क्षेत्र से बहुत दूर है। एक दूसरे से असम्बन्धित चीज हैं। 'करील' का एक गीत इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है लिखते हैं:—

शाम को
सिविल लाइन्स की सड़कों पर चली जा रही
आधुनिकाओं की सुरम्य टोली यह।
गाल लाल, अधर लाल, और दसों नख लाल,
मूँगे के देश की रंगीली ज्यों तितलियाँ।
एक-एक शत शत शमा का प्रकाश ले,
जाती चलीं कामदेव की ये भगिनियां।
दिन भर का थका श्रमजीवी मैं
काम पर से आ रहा
अपने स्वत्वों और जागरूक युग चैतन्य—
के प्रति सजग विकासोन्मुख मजदूर मैं।

देवी असन्तोष मेरे जीवन की प्रेरक शक्ति।
किन्तु ये नमक की पुतलियाँ,
पैदा करतीं रक्त में
कैसी रस भरी झनझनाहट एक,
कुछ कुछ बिजली के 'शाक' सी

उपरोक्त पद्य में, थके हुए श्रमिक के मानसिक क्रिया विधान पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। पाश्चात्य सभ्यता में पली हुई 'फेशनेबिल' आधुनिक ललनाएँ अँग्रेजी पढ़े हुए भावुक और सौन्दर्योपासक कवि का ध्यान भले ही आकर्षित कर सकें; किन्तु यह धारणा सही नहीं है कि उस 'फेशन' में ऐसा सार्वभौमिक एवं सर्वकालीन सौन्दर्य होगा जो थके हुए अशिक्षित भारतीय श्रमिक के रक्त में भी झनझनाहट पैदा कर सकेगा। ऋणग्रस्त, अशिक्षित एवं रूढ़ियों में पला हुआ अंधविश्वासी मजदूर इस पाश्चात्य सभ्यता के वातावरण को देखकर या तो सहसा चौंकेगा अथवा उसे घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से ही देखेगा। वास्तव में, उपरोक्त पद्य में, आधुनिक श्रमिक के मनोवेगों का किंचित् भी यथार्थ चित्रण नहीं हो पाया। इसका एक मात्र कारण यह है कि कवि ने स्वयं अपने यौवनोन्माद से प्रभावित मनोवेग को, परिश्रम से थके हुए मजदूर का ही मनोवेग मान लिया है। 'अंचल' की रचनाओं में ऐसे नीरस और शुष्क गीत भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। ऐसे पद्यों को हटा देने के बाद केवल शृङ्गार और प्रेम के गीतों में जो सरसता और स्वाभाविकता, मादकता एवं माधुर्य का सुन्दर सम्मिश्रण है वह हिन्दी साहित्य में अवश्य अद्वितीय है।

(३)

प्रगतिवाद का स्वरूप और कवि 'अंचल'

हिन्दी में प्रगतिवाद का अभी शैशव चल रहा है। उसका स्वरूप अभी तक अस्पष्ट है। प्रारम्भ में ही वह राजनीतिक वितंडावाद में

उलझ गया है। १६४२ के अनन्तर जो कांग्रेस और कम्यूनिस्टों का मतभेद हुआ, प्रगतिवाद उसका शिकार बन बैठा है। साहित्य में मार्क्सवाद और गाँधीवाद के अखाड़े अलग-अलग कायम हो रहे हैं। एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं—एक दूसरे की उपेक्षा कर रहे हैं। परन्तु दोनों 'प्रगतिवादी साहित्य' का अहित कर रहे हैं प्रगतिवाद से तात्पर्य जनवाद अथवा समाजवाद से है। 'आर्थिक वैषम्य को हटाकर, समान रूप से धन के नियमित वितरण से समाज का पुनर्निर्माण करना' समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य है। संसार में जैसा आर्थिक वैषम्य आज दिखाई दे रहा है वैसा कभी न था। आज एक के पास करोड़ों रुपया है और करोड़ों के पास एक रुपया भी नहीं; खाने को दाने भी नहीं हैं। इस समस्या के सुलझाने के दो ही मार्ग हैं। एक तो वह प्राचीन पद्धति, जो इस बात पर जोर देती है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं को कम करे; सभी मनुष्यों की उचित सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझे; जो धनी है वह धन का बहुत भाग दान-पुण्य में या धार्मिक संस्थाओं में लगावे। इस्लाम का यह आदेश कि हर एक इन्सान अपनी आमदनी का दशांश खैरात में दे, जिसको लेकर राज्य गरीब जनता का उचित प्रबन्ध करे—प्राचीन पद्धति का ही अंग है। वेदान्त का यह आदेश कि सब जीवों को अपना भाई माना जाय और प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना कर्त्तव्य—बिना फल की अभिलाषा के—पालन करे, इसी प्राचीन पद्धति का अंग है जिसकी नींव पर गाँधीवाद का प्रासाद खड़ा किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि सारा संसार यदि चरखा कातने लगे, और संसार का प्रत्येक जन अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने पड़ोसियों का दुःख बटाने लगे, तो विश्व-शान्ति बड़ी सुगमता से स्थायी हो जाय; किन्तु यह बात व्यावहारिक नहीं मालूम होती। मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी है। वह स्वेच्छाचारी भी है। अपने थोड़े-से सुख के लिए वह बहुतों का अहित किया करता

है। जब तक मनुष्य-स्वभाव नहीं बदला जाता, गाँधीवाद सारे जन-समाज में अधिक सफल नहीं हो सकता। गांधीवाद वहीं सफल हो सकता है जहाँ के समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, जहाँ परोपकार की भावना हो, जहाँ जनता के हृदय में अन्ध-विश्वास न होकर धर्म का अति उज्ज्वल रूप विद्यमान हो। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ गांधीवाद के पनपने में बहुत समय की आवश्यकता है। भारत के अशिक्षित वातावरण में भी, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी, गांधीवाद ने जो सफलता प्राप्त की है वह वास्तव में एक आश्चर्य है। किन्तु आर्थिक वैषम्य मिटाने में सफलता के अभी तक कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये—न कोई ऐसी योजना ही बताई गई है जिससे निकट भविष्य में इस वैषम्य के मिट जाने की संभावना हो सके। फिर भी यह प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुकूल है और इसीलिए इससे अधिक आशा की जाती है।

दूसरी पद्धति आधुनिक पद्धति है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा जब औद्योगिक विप्लव के बाद 'मशीन'-युग स्थापित हुआ तब यूरोप में प्रथम-प्रथम आर्थिक वैषम्य ने विकट रूप धारण किया था। एक मशीन लगाकर कारखाना खोलनेवाला लाखों रुपया साल में कमा लेता था: और उस कारखाने में काम करनेवाले लाखों मनुष्य भूखों मरते और उनके श्रम का साधारण मूल्य भी उन्हें नहीं मिलता था। 'कार्लमार्क्स' ने गंभीर चिन्तन करके आर्थिक वैषम्य मिटाने की जो पद्धति निकाली उसको समाजवाद या 'कम्यूनिज्म' नाम दिया गया। वास्तव में यह 'वैज्ञानिक' पद्धति है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गांधीवाद अवैज्ञानिक है। अवश्य इतना कहने को हम विवश हैं कि जहाँ गांधीवाद का हृदय से सम्बन्ध अधिक है वहाँ कार्लमार्क्स का अधिक सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इतिहास पढ़कर मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा कि यह सारा संसार प्रारम्भ से ही धन पर चला है; धन ही संसार के कष्टों का एक मात्र कारण है। जितनी भी लड़ाइयाँ हुईं उनकी जड़ में आर्थिक

लाभ का प्रश्न ही था; दीन-दरिद्र की कथा का न वर्णन करके इतिहास ने ऐश्वर्यशाली राजाओं की कथाएँ ही वर्णित की हैं। राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निश्चय भी समय-समय पर धन की उत्पत्ति द्वारा ही हुआ है; जनता के परस्पर झगड़े भी 'धन' के कारण ही हुए हैं; इसलिए इस 'धन' पर ही कुठाराघात किया जाय। व्यक्तिगत संपत्ति एक कलंक है जिसको समाप्त कर दिया जाय; व्यक्तिगत संपत्ति नष्ट होने पर ही शारीरिक परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जा सकेगा: शारीरिक परिश्रम का सस्ते-से-सस्ते दामों खरीदा जाना असंभव हो जायगा; सभी संपत्ति समाज की हो जायगी और धनी-गरीब का भेद-भाव मिट जायगा। मार्क्स कहता है कि संसार में प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं—एक पूँजीपति, दूसरा प्रौलीतेरियत (मजदूर) इन दोनों का संघर्ष प्रारम्भ से ही चला आ रहा है; किन्तु उन दिनों धर्म और अध्यात्मवाद की गड़बड़ में इस ओर अधिक ध्यान नहीं जाता था। भौतिकवाद के युग में यह संघर्ष प्रकाश में आ चुका है। व्यक्तिगत संपत्ति नष्ट होते ही यह संघर्ष बन्द हो जायगा। संक्षेपतः यही मार्क्सवाद है। समाज की एकता एवं समाज के भीतर समानता इसके प्रमुख सिद्धान्त हैं। रूस में मार्क्सवाद अस्सी प्रतिशत कार्य रूप में परिणत हो चुका है और अन्य देशों में भी रूस की कार्य-प्रणाली की नकल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के अनन्तर, रूस की शक्ति बढ़ जाने से, अवश्य ही संघवाद (Communism) दूसरे देशों में भी पैर जमाने में सफल होगा—ऐसी धारणा प्रमुख राजनीतिज्ञों की है। स्वार्थ को परमार्थ में परिणत करने में तथा गरीब और दरिद्रनारायण को ऊँचा उठाने के उद्देश्यों में गांधीवाद और मार्क्सवाद में कोई अन्तर नहीं है—दोनों एक ही हैं। हाँ, समाज के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में दोनों की नीति एवं प्रणाली में महान् अन्तर अवश्य है। भारतवर्ष में कौन अधिक सफल हो सकेगा? यह प्रश्न राजनीति का है, साहित्य का नहीं।

यहाँ पर प्रश्न हमारे सम्मुख केवल यह है कि प्रगतिवादी साहित्य का आधार गांधीवाद होना चाहिए या मार्क्सवाद ? उस साहित्य का निर्माण किस प्रकार होना चाहिए ? वर्त्तमान प्रगतिवादी साहित्य का रूप ठीक है या नहीं ? और अगर ठीक है तो उस साहित्य में आधुनिक कविताओं का स्थान क्या है ?

जब दोनों 'वादों' का मुख्य उद्देश्य आर्थिक वैषम्य को हटाना ही है और जब दोनों में दरिद्रनारायण की स्थिति को ऊँचा उठा कर समाज में समानता का भाव प्रतिष्ठित करना समीचीन समझा गया है, तब तो प्रगतिवादी साहित्य के आधार दोनों हो सकते हैं। 'अकबर' साहब ने लिखा है—'हकीम और वैद्य यकसाँ हैं, अगर तसखीस अच्छी हो ! हमें सेहत से है मतलब, बनफशा हो कि तुलसी हो।" जिनका दृढ़ विश्वास संगवाद में है उनको भी यह बात तो माननी पड़ेगी कि उसका रूप स्वतन्त्र देश में जैसा हुआ करता है, परतन्त्र देश में वैसा ही स्वरूप प्राप्त करने का मार्ग सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। सर्व-राष्ट्रीयता की भावना प्रजातन्त्र में ही हो सकती है। जहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं है, छापेखाने की स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ समानता या आर्थिक प्रजातंत्र के भाव प्रजा में फैलाये भी कैसे जा सकते हैं ? इसीलिए अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न' में स्तालिन ने भी स्विटजरलैंड और अमेरिका की 'डैमोक्रेसी' की प्रशंसा की है। विदेशी शासन में स्वतंत्र विचारों पर ही कुठाराघात किया जाता है, इसी लिए मार्क्सवादियों को प्रथम-प्रथम राष्ट्रीयता एवं राजनीतिक प्रजातंत्र के प्रयत्न में सहायता देना आवश्यक हो जाता है। वास्तव में, राष्ट्रीयता एवं मार्क्सवाद का मार्ग, परतंत्र देश में एक बड़ी सीमा तक, इतना मिला-जुला होता है कि दोनों को अलग-अलग करना असंभव हुआ करता है। जहाँ मार्क्सवाद यह चाहता है कि आर्थिक वैषम्य बिलकुल हटा दिया जाय; वहाँ राष्ट्रीय भावना भी इस ओर ध्यान दिलाती है कि अत्यन्त दरिद्रता सदा ही राष्ट्र

के नैतिक पतन का कारण होता है—अतएव राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को इतना साधन अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर ले—शिक्षा का भी सबको समान अधिकार मिलना चाहिए और शिक्षित मनुष्य को शारीरिक परिश्रम का मूल्य ज्ञात होना चाहिए। पर्याप्त वेतन एवं पर्याप्त शिक्षा के प्रश्न राजनीतिक समानता की ओर अग्रसर करते हैं। नागरिकता, वोट देने में समान अधिकार, राजकार्य में समान अवसर, सदा ही सामाजिक समानता की ओर ले जाते हैं। छुआछूत, जाति-पाँति, भेद भाव, कठमुल्लापन एवं कट्टरपंथ, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ और ढकोसले—राष्ट्रीयता के विकास में रोड़े होते हैं, और प्रत्येक राष्ट्रीय सरकार इनका मूलोच्छेदन करने का भरसक प्रयत्न किया करती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं समानता की भावना क्रियान्वित हो जाने पर आर्थिक समानता प्रजा के हृदय में स्वतः ही आया करती है। बड़े-बड़े उद्योगों पर राज्य अपना अधिकार करने लगता है और धीरे-धीरे आर्थिक समानता अच्छी जड़ें जमाकर समाजवाद और फिर संघवाद या मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया करती है। वास्तव में, वर्गवाद तक पहुँचने में राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्रथम सीढ़ी है। बिना राष्ट्रीय स्वतंत्रता के, न तो देश में शिक्षा-प्रचार हो सकता है, न भेद-भाव एवं अंध-विश्वास मिट सकता है। श्रमजीवियों की अवस्था सुधारने, उनके जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने और उनकी कार्य शीलता में वृद्धि करने के लिए श्रम-सम्बन्धी कानून ठीक-ठीक केवल राष्ट्रीय सरकार ही बना सकती है। उसके बाद संघवाद का प्रचार अत्यन्त सुगम हो जाता है। बिना राष्ट्रीय स्वतंत्रता के, अन्तर्राष्ट्रीय बनना—कोरा स्वप्न और कपोल-कल्पना है; उसमें कोई तथ्य नहीं है।

राष्ट्रीयता या देश-भक्ति में जो भय है उसे भी समझ लेना चाहिए। देशभक्ति की प्रबल लहर जब-जब आया करती है, तब-तब श्रमजीवियों को लाभ न होकर सारा लाभ पूँजीपतियों को

या उनके सहायक मध्यवर्ग को होता है। देशभक्ति का एक नशा हुआ करता है। भोली प्रजा उस नशे में भला-बुरा भूल जाती है। स्वार्थी पूँजीपति और मध्यवर्ग वाले अपने स्वार्थों को साधना भली-भाँति जानते हैं। देशभक्त के देशभक्त और लाभ का लाभ!! उधर श्रमजीवी अपनी निःस्वार्थ भक्ति में मारे जाते हैं!! इङ्गलैंड और अमेरिका के पूँजीपतियों ने दोनों महायुद्धों में जो करोड़ों रुपया छलबल से कमाया वह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु श्रमिक वर्ग को उसके अनुपात से सौवाँ क्या हजारवाँ भाग भी न मिल पाया! स्वदेशी की लहर ने भारत की कितनी मिलों के मालिकों को असंख्य द्रव्य दिलाया, किन्तु श्रमजीवी को क्या मिला? वर्त्तमान स्वदेशी सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों में पूँजीपति एवं मध्यवर्ग का बोलबाला प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। पत्रकार-क्षेत्र में भी पूँजीपतियों के एकाधिपत्य के प्रयत्न वैयक्तिक स्वतंत्रता पर ही कुठाराघात करना चाहते हैं! वास्तव में, ऐसी देशभक्ति, प्रगतिवादी साहित्य की आधारशिला नहीं बन सकती। विदेशी शासन को हटाकर अब हमारा ध्यान आर्थिक वैपम्य की ओर रहना चाहिए। प्रगतिवाद का वास्तविक लक्ष्य इस आर्थिक वैपम्य को हटाना ही है। किन्तु इस प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि हमारा देश ही हो सकता है, कोई दूसरा देश नहीं। और, हमारा देश कैसा है? जो अंध-विश्वास और रूढ़ियों का गुलाम है और जिसमें शिक्षा का प्रसार है ही नहीं। जहाँ चिट्ठी-पत्री पढ़ लेने वालों की संख्या दश प्रतिशत से अधिक नहीं है! ऐसे देश में प्रगतिवादी साहित्य की रचना सर्वसाधारण की भाषा और अत्यन्त सुगम भाषा में ही होना अनिवार्य है। सुगम भाषा के साथ-साथ भारतीय जीवन और भारतीय रंग में रँगा हुआ साहित्य ही सफल हो सकता है। जो साहित्य लाल रूस और लाल चीन की दुहाई देता है—जो साहित्य इंग्लैंड, फ्रान्स, स्पेन और जेकोस्लोवेकिया के जीवन की झाँकी दिखाकर फासिस्ट-विरोधी नारों को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है,

वह साहित्य उद्देश्यहीन एवं निष्फल ही साबित होगा। पंडित उदयशंकर भट्ट की 'रैफ्यूजी' एवं 'लुई शुई' कविताएँ ऐसी ही हैं। 'करील' और 'लाल चूनर' में 'अंचल' की अनेक कविताएँ भी इसी प्रकार की हैं जिनको पढ़ कर किसी भी भारतीय हृदय में कोई समवेदना नहीं जगती। हमें 'काडवेल, आडन, राल्फ फौक्स, एंगेल्स, फारेल, डे लीविफ और अप्टन सिनक्लेयर' के बड़े बड़े उद्धरणों की दुहाई नहीं चाहिए। इन उद्धरणों से पृष्ठ-के-पृष्ठ रँगे हुए डाक्टर रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री शिवदानसिंह चौहान एवं श्री 'अंचल' के बड़े-बड़े लेख हमारे हृदय में प्रगतिवाद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने में असमर्थ हो रहे हैं। कारण यही है कि प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन जब तक भारतीय रंग में रँगा हुआ न होगा; तब तक हमारे हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। भारतीय रंग में रँगी हुई श्री 'केदार' की एक छोटी कविता तो जरा देखिए—

वैभव की विशाल छत्रच्छाया में
स्वर्ण-सिंहासन पर
रक्खी देख मन्दिरों में पत्थर की मूर्तियाँ
लुब्ध हो गर्भवती
ईश्वर से माँगती है वरदान
केवल पाषाण हो
कोख की मेरी भी संतान !!

इस कविता के व्यंग्य को समझकर सारे हृदय में एक बार तो उथल-पुथल मच ही जाती है! भारत की वर्त्तमान खोखली धर्म-व्यवस्था एवं अर्थ-व्यवस्था पर कैसा तीव्र व्यंग्य है! वास्तव में, प्रगतिवाद को बौद्धिक दर्शन के स्थान पर जीवन-दर्शन की आवश्यकता है और उस जीवन-दर्शन का भारतीय रंग में रँगा होना अनिवार्य है। वह देशभक्ति की लहर से ओत-प्रोत हो तो

और भी अच्छा। जो साहित्य देशभक्ति से ओतप्रोत हो वह प्रगतिवादी ही माना जायगा। किन्तु यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि यदि उस देशभक्ति का प्रभाव पाठकों के हृदय पर यह होता हो कि आर्थिक वैषम्य बना ही रहना चाहिए, सामन्तशाही में ही भारत का प्राचीन गौरव सुरक्षित रहा है—अतः वह दुबारा फिर आ जाना चाहिए तो प्राचीन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का नाश न होना चाहिए तो ऐसा साहित्य कभी प्रगतिवादी श्रेणी में नहीं आ सकता। श्री मोहनलालजी महतो 'वियोगी' का काव्य-ग्रन्थ 'आर्यावर्त्त' देशभक्ति से ओतप्रोत होते हुए भी प्रगतिवादी नहीं माना जा सकता। श्री वृन्दावनलालजी वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' देशभक्ति से ओतप्रोत होते हुए भी प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता। 'रामायण' और 'महाभारत' से कथावस्तु लेकर जो वैसे काव्य एवं नाटक आजकल प्रचलित हो रहे हैं, प्रगतिवादी नहीं कहे जा सकते। उनका साहित्यिक मूल्य अवश्य है, किन्तु वे प्रगतिवादी नहीं हैं। अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने वाला साहित्य अवश्य ही प्रगतिवादी है; किन्तु ऐसे साहित्य का प्रभाव यदि एकता नष्ट करके वैषम्य उपस्थित करता हो तो वह भी प्रगतिवादी नहीं है। जो साहित्य 'अपनी रोटी अपनी बेटी' का राग अलापे, जो साहित्य ब्राह्मण-गौरव, राजपूत-गौरव की वार्त्ता चलावे, जो साहित्य हिन्दू-मजदूर-संघ या मुस्लिम-मजदूर-संघ की प्रतिष्ठा करना चाहे, जो साहित्य प्रान्तीयता की या विकेन्द्रीकरण की केवल संकीर्णता स्थापित करने का प्रयत्न करता हो, वह प्रगतिवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि वह साहित्य प्रगतिवादी नहीं है, जो राष्ट्रीय होते हुए भी, आर्थिक वैषम्य का किसी-न-किसी रूप में समर्थन करता है या जो राष्ट्र के भीतर राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सामाजिक समानता का विरोध करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि 'प्रगतिवाद' को प्रगतिशील बताकर

'गतिमान' अर्थ करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो तुलसी की 'रामायण', कबीर का 'बीजक' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' को भी प्रगतिशील साहित्य बताया जा चुका है! वेदान्तानुसार तो सभी जीवों में समानता है, तब तो वह भी प्रगतिशील साहित्य हुआ! इसीलिए 'प्रगतिशील' शब्द छोड़कर हमने 'प्रगतिवाद' शब्द ही ठीक समझा है। वास्तव में 'प्रगतिवाद' भौतिकवाद है। इसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं है और न प्राचीन इतिहास एवं पुराणों में ही इसका कहीं पता है। यह आधुनिक युग की वस्तु है। आर्थिक वैषम्य का नाश करके समाज का पुनर्निर्माण करना इसका मुख्य ध्येय है। वास्तव में, यह यथार्थवाद है, मानववाद है, जिसमें आकाश में उड़ चलने का स्थान ही नहीं है। प्रगतिवाद अपने देश की भूमि के हाड़-मांस के मनुष्यों से ही सम्बद्ध है। इसमें न तो वेदान्त की गुंजायश है और न फ्रायड की 'सेक्स-दमन' की कथा की। समाजवाद का साहित्य अधिकतर 'प्रचार'-साहित्य होगा। 'यथार्थवाद' के लिये इतिवृत्तात्मक साहित्य की आवश्यकता होती है। इसीलिए हमारी राय में प्रगतिवाद 'द्विवेदी-युग' का अन्तिम भाग है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता से समाजवाद पर, और फिर संघवाद या मार्क्सवाद पर, पहुँचा जाता है उसी प्रकार द्विवेदी-युग से हम प्रगतिवाद पर आ जाते हैं। वही धारा वही चली आ रही है। प्रगतिवाद में वह अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच रही है। साहित्य के इतिहास में दस-दस, बीस-बीस साल के 'युग' नहीं हुआ करते। एक-एक 'युग' कम से कम पचास साल का तो होना ही चाहिए। चाहे 'राष्ट्रीय' युग कहें, चाहे 'द्विवेदी'-युग—बात एक ही है। किन्तु आज तक प्रभाव इसी युग का चला आ रहा है। इसीलिए हम कहते हैं कि बहुत-से हमारे कवि एवं आलोचक न तो राष्ट्रीय युग को समझते हैं और न प्रगतिवाद को अभी तक समझ पाये हैं। 'नारी' को संबोधन करते हुए 'अंचल' की निम्नलिखित अपील इसी नासमझी का परिणाम है—

रात को बनी थीं तुम गीली और रँगीली,
किन्तु दिन में बनो अखंड युद्ध की करालिका।
दिन में पुकारकर, ललकारकर कहो—
मुक्ति चाहती हैं हम—
धन के असम औ' अनियमित वितरण से,
मानव द्वारा मानव के नारकीय शोषण से,
दुःख, गरीबी और बढ़ती बेकारी से,
और युगों से बँधे, सड़ते, घिनावने पुंस्त्वहीन प्रेम से
इन्द्रियों के विकृत, विकारमय निग्रह से
अपने अवांछनीय 'सेक्स' के दमन से।

रात के और दिन के अलग-अलग कर्त्तव्य बताकर भी न तो भाषा प्रवाहमयी बन पाई है और न रात और दिन के कर्त्तव्यों में पारस्परिक सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है। यह भाग गद्य में ही लिखा गया होता तो अच्छा रहता। आर्थिक वैषम्य हटाकर आर्थिक प्रजातंत्र स्थापित करना प्रगतिवाद का मुख्य ध्येय है; किन्तु कविता पढ़ लेने पर पता चलता है कि 'अंचल' एक 'सेक्स'-प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमें यौवनोचित आमोद प्रमोद की कोई रोक-टोक नहीं हो सकेगी। 'सेक्स'-प्रजातंत्र की स्थापना में धन का असम और अनियमित वितरण अवश्य रुकावट डालेगा, केवल इसीलिए कवि आर्थिक वैषम्य निवारण करना चाहता है! तात्पर्य यह कि 'सेक्स'-प्रजातंत्र मुख्य और आर्थिक प्रजातन्त्र गौण उद्देश्य है। वास्तव में 'अंचल' के हृदय में प्रगतिवाद के प्रति श्रद्धा है, इसलिए कि वह युग आ रहा है। किन्तु वासना के समुद्र को पार कर प्रगतिवाद के तट पर पहुँचना उनके लिए कठिन जान पड़ता है। 'तिय-छबि-छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय'—अपनी इस कमजोरी को वह समझते भी हैं। इसलिए उन्हें कहना पड़ता है—

कर लेता प्यार तुम्हें जी-भर
हो जाता मेरा दिल सुस्थिर, हो जाता मेरा दिल पत्थर
अपने पथ पर बढ़ता जाता
प्रत्येक कदम नव गति लाता
निर्माल्य न मेरी प्रतिमा का दूषित होता प्रत्येक प्रहर।
जिस जीवन-ज्वाला में जल-जल
मैं हो उठता कातर चंचल
उसकी प्रत्येक लपट लाती मुझमें दृढ़ता का स्रोत प्रखर
होता तब भी इतना त्यागी
द्रोही नवयुग का अनुरागी
पर मेरे जलते गीतों में होती ठंडक की एक लहर।

और, ये जलते गीत, वास्तव में, बुरी तरह जलते हुए दिखाई देते हैं। इनको पढ़कर प्रतीत होता है कि ये गीत केवल 'अपने-आपको बचाने के लिए व्यग्र डूबते मनुष्य के' विकृत स्वर हैं—प्रगतिवाद के सुस्थिर स्वर नहीं। तभी वह चिल्ला उठते हैं—

बोल—अरे कुछ बोल
अन्तर में हाहाकार लिये दीपक से जलनेवाले
जीवन के धूल-भरे दामन से शूल उगलनेवाले
आँखों की जलधारा का क्या मोल ! तू बोल ; कुछ तो बोल।
महासागर के अन्धड़ ज्वार अरे कुछ बोल !
मध्याह्न जेठ का तपता है ; उड़ रहे बगूले बेकरार ;
मैदानों में, रेगिस्तानों में चक्कर खाते, जी झुलसाते, लावा-सा पिघलाते।
ढल रहा दिशा के साँचे में, रौरवी नरक का यौवन औ' उन्माद
चढ़ आया सड़कों मैदानों को काला-बुखार—गर्दो-गुबार
निकल रहा चक्कर खाकर ज्यों धुआँ तोप के मुँह से।

यहाँ न तो भाषा ही ठीक है और न भाव ही स्पष्ट है। प्रगतिवाद का धुँआ कवि के मुँह से चक्कर खाता हुआ निकलता

चला आ रहा है! कवि की अधिकतर प्रगतिवादी कविता ध्वंसवाद का आधार लेकर चली है। पर प्रगतिवाद ध्वंसवाद नहीं है। यहाँ आँधी-तूफान, उल्कापात, गर्जन-तर्जन और अन्धड़-बवण्डर की न तो आवश्यकता है और न प्रगतिवादी साहित्य में इनकी गुंजायश ही है। ऐसी कविताओं से कोई भी निश्चित प्रभाव पाठक के हृदय पर नहीं होता। आँधी-तूफान से एक-दो वृक्ष टूट पड़ते हैं; थोड़ी देर तक कुहराम मच जाता है; किन्तु उसके अनन्तर सृष्टि फिर वैसी-की-वैसी चलती जाती है। प्रगतिवाद का आधार ठोस कार्य है, समाज का पुनर्निर्माण है: केवल क्षणिक कुहराम नहीं है। जहाँ कथा-साहित्य और उपन्यासों में हमें सच्चे प्रगतिवाद के दर्शन होते हैं, वहाँ काव्य में अभी तक ठीक-ठीक प्रगतिवाद कम ही दिखाई पड़ा है। अधिकतर प्रगतिवादी कविता या तो ध्वंसवाद है या केवल पद्य। जैसे प्राचीन काल में वैद्यक, ज्योतिष, वेदान्त एवं दर्शन के सिद्धान्त छन्दोबद्ध करके रख दिये जाते थे वैसे ही कार्लमार्क्स या समाजवाद के सिद्धान्त आजकल हिन्दी में, प्रगतिवाद—एक अर्थ में उनका आकांक्षावाद ही—के नाम पर पद्यबद्ध किए जा रहे हैं। इसे प्रगतिवादी पद्य ही कहना उचित होगा, कविता नहीं। श्रीपंतजी की 'युगवाणी' इस प्रकार के पद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। 'अंचल' की भी कई रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। यदि ये रचनाएँ गद्य में होतीं तो अधिक सुगमता से समझ में आ जातीं। 'अंचल' ने अपने 'समाज और साहित्य' में पाश्चात्य प्रगतिवादी साहित्य के विशद अध्ययन का परिचय दिया है। वही 'अंचल' प्रगतिवादी कविता में इस प्रकार असफल रहेंगे, यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। प्रतीत यह होता है कि अधिक अध्ययन के कारण कवि का हृदय कवि के मस्तिष्क से बिलकुल दबा हुआ है। कविता के लिए स्वतन्त्र हृदय की आवश्यकता होती है—उसके साथ-साथ अनुभूति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की भी। जो कविता हृदय से

न निकली हुई होने के कारण, या अनुभूति-जन्य न होने के कारण, या सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण-शक्ति के अभाव के कारण, पाठक या श्रोता के हृदय को द्रवित नहीं कर सकती वह पद्य है, कविता नहीं।

आज का भारतीय समाज, सामाजिक असंगतियों से भरा पड़ा है। पग-पग पर हमें वैषम्य दृष्टिगोचर हो रहा है। मिल-मालिक और मजदूर, किसान-जमींदार, प्रकाशक लेखक, महाजन और ऋणग्रस्त, पंडित और भङ्गी, रईस और खानाबदोश, उच्च-वर्ण और अछूत—न जाने कितने वैषम्य रास्ते चलते दिखाई पड़ते हैं। इनके लिए हमें पाश्चात्य देशों के प्रगतिवाद को देखने की आवश्यकता नहीं है। हमारे घर में ही हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव और जाति-पाँति की भीषण समस्या के साथ-साथ आर्थिक शोषण के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। भारत के खानाबदोश और 'जरायम-पेशा' कहलानेवाले लोग संसार में अकेले ही हैं! किस कवि की या लेखक की दृष्टि उधर गई है? अछूतोद्धार का ढोल पिटते-पिटते आज पच्चीस साल से ऊपर हो चुके हैं। किन्तु गाँव के भङ्गी की हालत वही है जो पहले थी। परिवर्तन केवल इतना ही है कि तीन भाई—सुम्मन, झम्मन और जुम्मन—में केवल जुम्मन पादरी साहब की कृपा से ईसाई बन जाता है; इंग्लैंड और अमेरिका में पढ़कर 'मिस्टर जेम्स' बनकर ऊँचे ओहदे पर पहुँच कर सर्व ऐश्वर्य भोग सकता है: बड़े-बड़े सनातनधर्मी पंडित उससे हाथ मिलाने को लालायित रहते हैं। किन्तु हिन्दूधर्म न छोड़ने के कारण सुम्मन और झुम्मन वहीं के वहीं अन्धकार में पड़े हुए हैं। उनके आगे सारे रास्ते बन्द हैं। न प्रकाश है – न आशा है! वही जूठन, वही चीथड़े, वही झाड़ू-बुहारी, गाली खाना, अलग रहना! दुनिया भर के स्तर के नीचे बरसों पड़े रहना! यदि कभी कुछ सुधार हुआ तो अछूतोद्धार के नाम पर गाँव के मन्दिर का द्वार उनके लिये अवश्य खुल जायगा। यही वरदान उनके लिए पर्याप्त होगा! तात्पर्य यह कि ध्वंसवाद और कोरे सिद्धान्तों को छोड़कर प्रगतिवादी

कविता के लिए भारतवर्ष में अनेकानेक विषय ऐसे हैं जिनके आधार पर, कविता-सुन्दरी को सजाते हुए, आर्थिक वैषम्य को हटाने एवं समाज के पुनर्निर्माण के विचारों को पाठकों के हृदय में सगमता से बैठाया जा सकता है। जो झाड़-झंखाड़ एवं कूड़ा-कचरा, कविता में, प्रगतिवाद के नाम पर, आ घुसा है वह अवश्य ही त्याज्य है।

कविता द्वारा भी सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सकता है। किन्तु उनको मार्मिक ढंग से व्यक्त करने में कुशल कलाकार का हाथ होना चाहिए। देखिए, मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि संसार में दो ही वर्ग हैं—पूंजीपति और श्रमजीवी—अपने 'जीवन के गान' में कवि 'सुमन' ने बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

मैं ध्यान धरूँ भी तो किसका ?
जो जगती के देवता बने,
जिनकी दुनिया है हरी-भरी !
अथवा जिनके जर्जर तन पर
रह गई शेष केवल ठठरी !!

जिनके पथ पर पलकों ने बिछ
सादर स्वागत्-सत्कार किया !!
अथवा, जिनको दो टूकड़े दे—
कुत्ता कहकर दुत्कार दिया !!
सम्मान करूँ भी तो किसका ?
अभिमान करूँ भी तो किसका ?

पढ़ते ही भाव हृदय में समा जाते हैं। ऐसे ही, दलितवर्ग की दशा का कुछ-कुछ आभास हमें 'अंचल' की 'करील' कविता में मिलता है। करील वनदेवी से कहता है—

> वन-वन में माँ ! फूट रहा मधुमद का नव निर्झर उन्मेष
> गूँथ रहीं सब कलियाँ अपने पवन-प्रदोलित केशर-केश
> वकुल, गुलाब, अगुरु, रसभीनी, जुही-चमेली, मृदु मन्दार
> सुरभित, मुकुलित, फलित, उच्छ्वसित प्राणों से मुखरित कान्तार
> कहाँ उधर वह दीपालोकित वल्लरियों का स्वर्ण-सदन !!
> औ' दुर्बल, जड़ता, अस्थिरता, दुखमय यह मलीन जीवन !!!
> तुम कैसे मेरी जननी जब मैं भी एक तुम्हारा बाल ?
> जब सबकी कंचन-सी काया, क्यों सूखा मेरा कंकाल ?

यहाँ दलित-वर्ग का थोड़ा-सा ही आभास मिलता है। अवश्य यह कविता साम्यवाद के विरोधियों के लिए आपत्तिजनक है। उनको यह कहने का अवसर मिलता है कि जब प्रकृति में ही वैषम्य है तो संसार में आर्थिक वैषम्य क्यों नहीं रहेगा ? इस कविता का साहित्यिक मूल्य अवश्य है ; किन्तु 'अंचल' के पक्के प्रगतिवादी होने में अवश्य यह सन्देह उत्पन्न कर देती है ! उस सन्देह का निवारण करने के लिए 'किसान' शीर्षक रचना पर्याप्त होगी। किन्तु उसमें भी कवि के अनुभव की कमी प्रतीत होती है उसके एक स्थान पर लिखा है—

> "जब लोट-लोट-सी पड़ती हैं ये गेहूँ-धानों की बालें
> है याद इन्हें आती, मानों जब खिंचती थीं तेरी खालें !!"

यहाँ 'किसान' के प्रति सहानुभूति तो अवश्य दिखाई पड़ती है; किन्तु कविता में सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अभाव भी प्रतीत होता है। इन पंक्तियों को पढ़कर यह मालूम होता है कि कविवर गेहूँ-धान की बालों के बीच में खड़े होकर किसान को उसकी खाल खिंचने के दृश्य की याद दिला रहे हैं। अब गेहूँ और धान की बालें एक साथ तो नहीं होतीं। धान आषाढ़ में बोया जाता है और कातिक-अगहन में तैयार होता है, यह खरीफ की फसल है। गेहूँ दश-

हरे के लगभग बोया जाता है और होली के करीब काटा जाता है, वह रबी की फसल है। प्रगतिवादी कवियों को किसानों की वकालत करने के पहले उनसे भली भांति परिचित तो होना चाहिए। प्रगतिवाद वास्तविकता पर आधारित है। कुछ भी कहकर आकाश में उड़ने की वहाँ गुंजायश ही कहाँ? आजकल अधिकतर प्रगतिवादी साहित्य ऐसी ही अनुभव की कमी के कारण शुष्क एवं नीरस-सा बन गया है!! कहीं-कहीं बीभत्स, कुत्सित एवं घृणित दृश्य भी जान-बूझकर लादे जाते हैं, जो न तो साहित्य की दृष्टि से समाजवाद के लिए हितकर बताये जा सकते हैं और न प्रचार की दृष्टि से। 'कराल' में एक 'चलचित्र' ऐसा ही है! एक कुली शराब पिये हुए आता है और अपनी गर्भवती स्त्री पर बलात्कार करता है। कवि लिखता है—

मैं मौन पड़ा छत के ऊपर!
फिर सुनता रहा बराबर मैकू की वाणी की रौरवता।
जीवन के गन्दे स्रोतों की दुर्गन्धि-भरी उच्छृङ्खलता।
× × × ×
इस रौंद-राँद में टूट गई बेहोशी, वह यों चिल्लाई
जैसे यन्त्रणा ग्रसित पागल कुत्ते की मौत निकट आई

ऐसे दृश्यों का वर्णन करके साम्यवाद का प्रचार किसी प्रकार भी न तो किया जा सकता है और न इस तरह नर-नारी की समानता का ढोल ही पीटा जा सकता है। शराबी तो नशे में कुछ भी कर सकता है! केवल उस दृश्य को दिखाकर नारी को 'शोषित' कैसे सिद्ध किया जा सकता है? ऐसे घृणित एवं अश्लील दृश्य दिखाने से तो प्रगतिवादी काव्य से रही-सही श्रद्धा भी चली जायगी।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' का 'प्रलय सृजन'

'हिल्लोल' के बाद प्रोफेसर शिवमंगलसिंह 'सुमन', एम० ए० की कविताओं का दूसरा संग्रह 'प्रलय सृजन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। जनवरी सन् १६४६ के 'विश्ववाणी' में श्री कमल कुलश्रेष्ठ द्वारा इस संग्रह की समीक्षा करते हुए लिखा गया है कि 'यह कविताएँ घिसे-पिटे विचारों को लेकर लिखी गई हैं, सच्ची अनुभूति की कमी है, जीवन में साधना की कमी है। रटे रटाए कम्यूनिस्ट नारों को छोड़कर यदि कवि कभी ऊपर उठ सका, तो शायद कुछ अच्छा लिख सकेगा।"

जिसने 'प्रलय सृजन' पढ़ा है समीक्षा पढ़कर उसके हृदय को ठेस पहुँचती है। और वह ठेस और भी बढ़ जाती है जब हम समीक्षा में यह पढ़ते हैं कि समीक्षक की राय में भाषा एवं भाव की दृष्टि से 'मास्को' सम्बन्धी कविता सबसे अच्छी है। कम्यूनिस्ट विचारों की कसौटी पर अवश्य 'मास्को अब भी दूर है' वाली रचना सबसे अच्छी ठहर सकती है किन्तु प्रोपेगेन्डा की दृष्टि से, एक रचना अच्छी होती हुई भी काव्य की दृष्टि से वही रचना दूषित भी हो सकती है।

"दस हफ्ते दस साल बन गए
मास्को अब भी दूर है"

यह रचना कहीं कहीं ओजस्वी होती हुई भी काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। यदि समीक्षक महोदय कोई दूसरा छन्द अपने समर्थन में उपस्थित करते तो दूसरी बात होती। परन्तु यह देखकर हमें अत्यंत आश्चर्य हुआ कि 'विश्ववाणी' में भाषा-दोष से दूषित प्रथम छंद ही उद्धृत करके 'प्रलय सृजन' की प्रशंसा की गई है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' का 'प्रलय सृजन'

शब्द साम्य का अभाव

यह लिखते हुए हमें अत्यंत संकोच होता है कि 'असमझवार सराहिबो, समझवार को मौन' कवि-हृदय में सदा ही खटका करते हैं। इसलिए एक सरसरी दृष्टि से इस छन्द को देखना ही उचित होगा। यह छन्द निम्नलिखित है—

घनन घनन घन बादल गरजे
घहर घहर घन तोपें
ज्वालामुखी सजीव टैंक बन
जब धरती पर कोपें
हिली धरा, हिल गया आस्माँ
हिला विश्व का कोना
अन्तरिक्ष से प्रतिध्वनि आई
ऐसा हुआ न होना।

छन्द का अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि बादल 'घनन घनन घन' नहीं गरजा करते। 'घनन घनन घन' तो घंटे बजा करते हैं। शायद कवि को तुलसीदासजी के 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' की याद आ गई। परन्तु नाद-शक्ति एवं शब्द-शक्ति तुलसी के छन्दों में अद्वितीय रही है। वहाँ शब्द भी दूसरे हैं। 'घनन घनन घन' नहीं है। 'घन घमंड' और 'घोरा' में बादलों के 'घहर घहर' घहराते 'रव' का अवश्य साम्य है। तोपों से भी "घहर घहर घर" की आवाज नहीं आती, 'धड़ाम' 'धड़ाम' की ही आती है।

तोपों के स्थान में यदि बादलों के लिए 'घहर' 'घहर' प्रयोग कया जाता तो अधिक उपयुक्त होता।

श्री सियारामशरणजी ने 'बापू' में एक स्थान पर लिखा है—

हो उठी पयोद घटा गहरी
एक साथ विज्जु छटा छहरी
वायु बही सरसर
काँप उठे वन्यवृक्ष थरथर
सहसा अकाल-वृष्टि घनघन घहरी

यहाँ 'घन घन घहरी' में अवश्य बादलों के गंभीर प्रतिध्वनि का आभास प्रतीत होता है। और सहसा महाकवि 'देव' की निम्नलिखित पंक्तियों की भी याद आ जाती है—

झहर झहर झीनी
बूंद है परति मानों
घहरि घहरि घटा
घेरी है गगन में

हम नहीं कह सकते कि 'मास्को अब भी दूर है' कविता में श्री 'सुमन' ने तोपों के साथ बादलों के गरजने का वर्णन क्यों उचित समझा। शायद रूस को भी भारतवर्ष समझा हो जहाँ २२ जून को बादल गरजने लगते हैं। जो कुछ भी हो, यदि बादलों की गरज बतलाना ही अभीष्ट था तो उपयुक्त शब्द-साम्य आवश्यक था जो यहाँ नहीं आ पाया।

शब्द-साम्य एवं नाद-शक्ति की कमी से, 'मास्को अब भी दूर है' का प्रथम छन्द उपहासास्पद हो गया है। वास्तव में यह छंद पढ़ते ही पाठक के हृदय से सहसा निम्नलिखित पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं—

घहर घहर घन तोपें बाजी
घनन घनन घन बादर !!
'प्रलय सृजन' में दिखलाते कवि
नाद - शक्ति को सादर !!

हिले शब्द, हिल गया अर्थ मन
प्रथम छन्द का टोना
देख देख कर कहें समीक्षक
ऐसा हुआ न होना ।।

जहाँ प्रथम छंद में ही एक बड़ा दोष हो वहाँ रचना की प्रशंसा ही कैसे की जा सकती है ? फिर भी, इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'प्रलय सृजन' में कवि की प्रतिभा अविकसित ही रही। 'प्रलय सृजन' में 'कंकड़ पत्थर' रचना नितान्त मौलिक है। भाषा प्रवाह भी अच्छा है। प्रगतिवादी रचनाओं में 'कंकड़ पत्थर' का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

मार्ग में पड़े हुए 'कंकड़ पत्थर' न जाने कितने सदा ही मिला करते हैं। न जाने कितनों के हम लोग रोज ही ठोकर लगाते होंगे। परन्तु कितनों ने सोचा होगा कि इन गरीब बेचारों के भी जीवन है ? इनके भी आत्मा है, इनके भी हृदय है जो दुःख और दर्द, आह और कराह, टीस और वेदना से भरा हुआ है। 'सुमन' द्वारा, उनकी आत्मकथा पर, बरबस पाठक का ध्यान खिंच जाता है। कहते हैं—

जाने किस शिल्पी की टांकी से
टकरा कर मैं चूर हुआ
अपने विशाल गिरि गृह कुटुम्ब से
छिन्न भिन्न हो दूर हुआ ।।
आ पहुँचा मानव बस्ती में,
चिर परिचय-हीन प्रवासी सा
पग पग पर ठोकर पर ठोकर
खाने को मैं मजबूर हुआ ।।
तुम पूछ रहे मेरा परिचय

तुम पूछ रहे मेरा निश्चय
मैं क्या जानूँ इस जगती में
अभिशाप रूप हूँ या वर हूँ ॥
मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ ॥

× × ×

आँखों के रहते भी अन्धे
आकर मुझसे टकरा जाते
गर्वित निज बल की क्षमता से
दो लातें और जमा जाते
मैं लुढ़क-पुढ़क टकटकी बाँध
परखा करता उनकी कीमत
जग को मुझ-ऐसे दीन-हीन
फूटी आँखों भी कब भाते
वे नहीं जानते मेरे भी
दिन थे, मैं था चैतन्य कभी
चेतनता के उपहास-रूप
अब भावी जड़ता का स्वर हूँ
मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ।

× × ×

मैं पद लुंठित, पद-मर्दित बन,
आया हूँ जीवन के पथ पर
परवश अपनी सीमाओं में
मैं मूक व्यथाओं का घर हूँ
मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ

× × ×

मैं कहूँ कहाँ तक सुनने को
गाथा कोई तैयार नहीं

मैं इस शोषण की जगती में
जर्जर समाज का नत शिर हूँ
मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ ॥

परन्तु वर्तमान मनुष्य समाज में, पूँजीपति साम्राज्य में, विशेष कर भारत के अभागे हिन्दू समाज में, ऐसे भी दलित मानव हैं जिनका जीवन इन टूटे-फूटे कंकड़ पत्थर से भी हेय एवं निन्दनीय हैं। उनको देखकर मार्ग में पड़े हुए कंकड़ पत्थर को थोड़ी सी तसल्ली तो हो जाती है। इसी की ओर इंगित करते हुए आगे कवि लिखते हैं—

पर मैंने कल पथ पर देखी
पद - दलित मानवों की टोली
थी जिनकी आह कराहों में
मेरी परवशता की बोली
उनकी भी हाहाकारों पर
देता था कोई ध्यान नहीं
अपने सूखे जर्जर तन में
लगते थे मेरे हमजोली
जीवन में पहले पहल मुझे
अपने पर कुछ गर्व हुआ
मैं जड़ होकर भी इन चेतन
नर - कंकालों से बढ़ कर हूँ
मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ ॥

वास्तव में, प्रगतिशील साहित्य में यह रचना और इसकी ऊँची कल्पना अद्वितीय है।

'लाल सेना' में भी कवि ने बड़ा अच्छा भाषा-प्रवाह दिखाया है। कवि ने यह सेना देखी तो कहाँ होगी, परन्तु कवि के हृदय

के उद्गार 'मार्चिंग' गीत की सुन्दर लहरी एवं पद-विन्यास के साथ बड़े सुन्दर रूप में बाहर निकल पड़े हैं। भाषा-सौष्ठव देखने योग्य है, लिखते हैं—

युगों की सभी
रूढ़ियों को कुचलती
लहर को लहर सी
लहरती मचलती
अँधेरी निशा में
मशालों सी जलती
चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना

\+ \+ \+

कुहू की निशा में
उदित पूर्णिमा सी
जिधर डग, उधर
फट गई कालिमा सी
क्षितिज पै उषा की
तरुण लालिमा सी
चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना

\+ \+ \+

चरण चिह्न में
छोड़ती युग-निशानी
नया दिन, नया वेष,
नूतन कहानी
चले झूमते ज्यों
उमड़ती जवानी

चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना,

\+ + +

लगे गूँजने
शोषितों के तराने
'चले आज हम
स्वप्न सच्चे बनाने'
रुकेगी ? रुकेगी ?
कहाँ कौन जाने
चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना ॥

"स्वर्गीय 'पढीस' जी की स्मृति में" भी कविता अच्छी है। पढ़कर कवि की सुगठित भाषा, रचना-कौशल एवं सहृदयता का अच्छा दिग्दर्शन होता है। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। कवि लिखते हैं—

तुम जन मन के कंठ भूमि सुत,
प्यासी तरल गरल के
साथ साथ जिनकी जिह्वा में
अमिय हलाहल छलके
अनजाने, अनगाए, अनहोनी
की अकथ कथा से
हिमगिरि से गल बहे, तपे तुम
दिनकर से जल जल के
मूक रुद्ध वाणी युग युग की
मुखर हो उठी तुम में
चकित देखने लगे ठगे कवि
वाणी के विभ्रम में

संध्या के भूले पथिकों की
जीवन ज्योति जगाए
तुम चुपके से धूमिल नभ के
कोने में उठ आये
चमके, पर, जग की आँखों की
चकाचौंध उल्का से
गिरे टूट तब कहीं नेत्र जग
के ऊपर उठ आए !;

यह कहना कि, 'प्रलय सृजन', केवल साधारण रचनाओं का संग्रह है, कवि के प्रति सर्वथा अन्याय है। वास्तव में,

"इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि जीवन"

आदि रचनाओं में भी मौलिकता का आभास मिलता है। यह रचना कवि के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास दिलाती है।

पुनर्वाचन

आधुनिक हिन्दी कवियों की भाषा दुर्बोध, कृत्रिम, और क्लिष्ट बन गई है। भाषा के प्रवाह का ध्यान कवियों को नहीं रहता, क्लिष्ट संस्कृत के साथ-साथ लचर, और साधारण बोल-चाल के ग्राम्य-शब्द यकायक आकर, प्रवाह को बिगाड़ देते हैं। कविजन शब्दों के स्वामी नहीं जान पड़ते। भाषा के विषय में सतर्कता, और सावधानी का अभाव, कविजनों की "अभ्यास-शून्यता" और दोहराने की कमी बतलाता है।

एक-दो उदाहरण यहाँ देना अनुचित न होगा।

"मंगल घट" में "शब्द के प्रति" एक बड़ी सुन्दर कविता है, लेकिन अन्त में आकर उसका प्रवाह एक दम रुक जाता है। श्रद्धेय गुप्तजी की वह कविता यह है:—

"सागर भरा तुम्हारे घट में
विश्रुत तुम बहु वृत्त विधान!
भरे रहें भंडार तुम्हारे।
अहो शब्द! ओ अर्थ निधान!
जननी सरस्वती के छौने!
मधुर सलोने शुचि सोत्साह;
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के
तुम्ही ज्ञान के पुतले वाह!

"शब्द" को "सरस्वती" का "छौना" और "मुग्धा-मति का खिलौना" बतलाना अजीब ही प्रयोग है। साथ-साथ ज्ञान के "पुतले वाह!" ने दर असल भाषा की गति एकाएक रोक ली है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहाव आगे न जाकर सतह के नीचे ही धसकने लगा हो।

एक दूसरा पद्य "पुष्पांजलि" पर "मंगल-घट" बड़ा अच्छा है। किन्तु अन्त में यह भी बुरी तरह बिगड़ गया है।....देखिए!

"मेरे आंगन का एक फूल!
सौभाग्य भाव से मिला हुआ
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ
संसार विटपि में खिला हुआ!!

× × ×

वह रूप कहाँ, वह रंग कहाँ?
हिलने डुलने का ढंग कहाँ?
हो गया अरे रस भंग यहाँ!
उड़ गई गंध की हाय धूल!!
मेरे आंगन का एक फूल!!

× × ×

करता समीर था सांय-सांय
भूतल लगता था भाँय-भाँय
बकता था मैं भी आंय-बांय
दिखलाई देता था न कूल
मेरे आँगन का एक फूल।"

यहाँ अन्त में सारी कविता ही "आंय-बांय" बकती मालूम होती है। भाव अच्छा था मगर आंय-बांय जो ठहरी—शब्द उल्टे चलते गये।

'हिम-किरीटिनी' का एक पद्य है:—

"ये न मग हैं, तव चरण की रेखियाँ हैं
बलि दिशा की अमर देखा देखियाँ हैं
विश्व पर, पद से लिखे कृति लेख हैं ये
धरा तीर्थों की दिशा की मेख हैं ये।"

इनमें "रेखियाँ" और "देखा-देखियाँ" ने "पागल-जवानी" का मजा ही बिगाड़ दिया है।

हिन्दी प्रवेशिका-पद्यावली मेट्रीक्युलेशन के कोर्स में पाठ्य पुस्तक है। 'निराला' जी के अच्छे-अच्छे पद्य छोड़कर, केवल एक "जलद" उसमें रक्खा गया है। लेकिन उसके दो पद्यों को, एक-दूसरे के सम्मुख रख कर पढ़िये, तो उनकी भाषा की लड़खड़ाहट का आपको स्वयं अनुभव हो जायगा। वह पद्य यह है:—

(१)

"जलद नहीं, जीवनद, जिलाया
जब कि जगजीवन्मृत को
तपन—ताप—संतप्त तृषातुर
तरुण—तमाल—तलाश्रित को

(२)

वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया।
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया।"

'जल' में 'द' जोड़कर ग्रेड बढ़ाया!! कितना सुन्दर भाव है! कहाँ ऊपर के पद्य का संस्कृत भाषा का वातावरण, और कहाँ बाद में खिचड़ी भाषा का यकायक दखल!!

यह "जलद" मेट्रीक्युलेशन की परीक्षा में आदर्श-काव्य नाते रखा गया है। विद्यार्थियों पर भाषा की नवीन शैली का कितना अच्छा प्रभाव पड़ेगा !!

श्रीयुक्त 'प्रसाद'जी ने 'अलम्बुषा', महादेवीजी ने 'स्वर्ण लूता' निराला ने 'अराल', पन्तजी ने 'मृत्सना', और गुप्तजी ने 'कार्पण्य' शब्दों के स्थान स्थान पर चिन्त्य प्रयोग किये हैं, और "एक तारा" में तो "ग्राम-प्रान्त" को ही 'ग्राम के क्षेत्र' के अर्थ में प्रयुक्त कर दिया है। क्या वर्तमान-काल में 'ग्राम' के अनन्तर 'प्रान्त' शब्द से 'क्षेत्र' का अर्थ लेना समीचीन हो सकता है ? पन्तजी ने लिखा है:—

"नीरव संध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त"

पन्तजी लिखते समय भूल गये कि, वर्तमान "ग्राम" और वर्तमान "प्रान्त" के बीच में मुहाल, तेहसील, सब-डिव्हीजन, जिले और डिव्हीजन उपस्थित हो चुके हैं। अगर सभी को डुबाना स्वीकार था तो यह लिखना बेहतर होता कि:—

"नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा सारा संयुक्त-प्रान्त।"

मेरा विचार है कि यदि हमारे कविगण, शब्दों की ओर थोड़ा भी ध्यान देते, और अपनी कविताओं को दोहराने का प्रयत्न करते तो भाषा की जो दुर्गति हो रही है, वह कुछ हद तक तो रुक ही जाती।

हमारे कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं है, जो कुछ कमी है वह अभ्यास की है। थोड़े से अभ्यास में यह कमी पूरी हो सकती है। इस अभ्यास के सम्बन्ध में 'इसलाह' और 'पुनर्वाचन' पर दो शब्द लिखना अनुपयुक्त न होगा।

इसलाह और पुनर्वाचन

उर्दू शायरी में 'इसलाह' का अब भी फायदा उठाया जाता है। एक उस्ताद के कई शागिर्द शायर होते हैं। जब-जब अपनी शायरी शागिर्द उस्ताद के सामने लाते हैं, तब-तब उस्ताद सलाह दिया करते हैं। यानी एक-एक लफ्ज पर नुक्ता-चीनी होती है। गुण-दोष विवेचन हुआ करता है। और कुछ शब्दों को बदल कर, लिखने की सलाह दी जाती है। साधारणतः देखा गया है कि इसलाह के बाद शायरी में एक नई ताजगी, एक जादू आ जाता है। दो एक मिसाल देना नामुनासिब न होगा।

आली साहब का एक शेर है:—

"हजरते ईसा अगर मिलते तो उनसे पूछते,
"दर्द कहते हैं जिसे उसकी दवा क्या चीज है।

जब उस्ताद जलील साहब के पास यह शायरी पहुँची तो दूसरी लाइन उनको ठीक न जँची। "जिसे" और "उसकी" ये दो शब्द इसमें व्यर्थ भरे थे। इसलाह के बाद शेर में एक नई जान आ गई। बदला हुआ शेर यह है—

"हजरते ईसा अगर मिलते तो उनसे पूछते,
इस जहाँ में दर्दे उल्फत की दवा क्या चीज है?"

एक दूसरा शेर है:—

"कुछ न कुछ खामी भी रह जाती है, हर इन्सान में।
बात फिर असली कहाँ से आ सके तस्वीर में।"

इसलाह के बाद इस शेर में बिलकुल नई बात आ जाती है। बदला हुआ शेर यह है:—

"इक न इक खामी का रह जाना यकीनी बात है,
शायबा तक असल का मुमकिन नहीं तस्वीर में।"

दोनों में कितना ज्यादा फर्क हो जाता है ?

मेरे विचार में यह दिखाने के लिये उक्त दो मिसालें ही काफी होंगी कि उर्दू के शायर, अपनी भाषा को अच्छा बनाने के लिये कितनी कोशिश करते हैं। यद्यपि हिन्दी में 'गुरुडम' बहुत पहिले से उठ चुका है तथापि काव्यगत-उच्छृंखलता पर 'इसलाह' की तरह कोई रोक जारी होनी चाहिये। एक तरफ तो काव्य-गत-उच्छृङ्खलता मची हुई है और दूसरी तरफ अच्छी-अच्छी प्रतिभाएँ प्रोत्साहन के अभाव में, अकाल ही में सूख जाती हैं और अविकसित ही रह जाती हैं।

स्थान-स्थान पर कुछ संस्थाएँ कायम होनी चाहिये जिनके पास रचनाएँ वाद-विवाद या नुक्ता-चीनी के लिये भेजी जा सकें। नुक्ता-चीनी के बाद कवि-गण अपनी रचना देखें और बाद में प्रकाशित करवाया करें। 'इसलाह' की प्रथा से उर्दू-शायरी बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुकी है और हिन्दी कविता के लिये कुछ-न-कुछ प्रयत्न इसी ढंग पर करना चाहिये।

कविगण यदि अपनी कविताओं का पुनर्वाचन भी अच्छी तरह कर लिया करें तो भी साहित्य उन्नत होने लगेगा।

पुनर्वाचन (Revision) का अभ्यास, संसार के बड़े-बड़े साहित्यिकों ने किया है। हम लोगों के लिये नई बात न होनी चाहिये।

अँग्रेजी साहित्य में टेनीसन कवि के बारे में कहा जाता है कि Lotus Eaters के प्रारम्भिक शब्द उन्होंने इस तरह लिखे हैं:—

" 'Courage'! he said and pointed
To wards the land,
This mountain wave will roll us
shoreward soon.

In the afternoon they came unto a land.
In which it seemed always afternoon."

जब यह कविता एक मित्र को दिखलाई गई तो उस मित्र ने टेनीसेन से कहा कि, Land और Land का तुक (Rhyme) ठीक नहीं जँचता कोई दूसरा शब्द क्यों नहीं रख देते ? टेनीसन ने जवाब दिया कि "मैंने भी इसी बात को कई बार सोचा था। जो शब्द मैंने रखने का प्रयत्न किया था वह शब्द Strand था, मगर सारे पद्य का वातावरण सुस्ती से भरा हुआ था, जो सुस्ती Strand में नहीं हो सकती थी। इसीलिए वही लफ्ज Land रख दिया क्योंकि वह अधिक सुस्त शब्द था। Strand बोलने में जीभ को जल्दी से मरोड़ कर पलटना पड़ता जिससे सुस्ती का भाव लोप हो जाता।

वास्तव में वही शब्द दुबारा रख देने से यह प्रतीत होता है कि कवि स्वयं इतना थक चुका था कि तुक के लिए दूसरा शब्द खोज ही नहीं सकता। पद्य में जो थकान भरा वातावरण शुरू में बतलाया गया है, सुस्ती से वही शब्द दुहरा देना उसी वातावरण के अनुकूल बन जाता है। इसीलिए दो बार afternoon शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

विश्व-साहित्य में, पुनर्वाचन के ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। अपनी कृति को बार-बार दोहराने से—एक-एक शब्द पर भली प्रकार विचार करने से,—उसके वे गुण दोष दृष्टि के सम्मुख आ जाते हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में छिपे रहते हैं।

आशा यह की जाती है कि हिन्दी के नवीन कवि अपनी कृतियों को बार-बार दुहरा कर भाषा को परिमार्जित करने में अधिकाधिक प्रयत्न करेंगे।

साहित्य-समीक्षा*

संस्कृत ही मूल आधार है

सबसे पहिली बात जिस पर मैं जोर देना चाहता हूँ यह है कि संस्कृत-भाषा ही हमारी मूल आधार है। कोई वृक्ष कितना ही विस्तार के साथ बढ़ता ही चला जाय, कितनी ही उसमें शाखायें, प्रति शाखायें, होती चली जायें मगर वह अपनी जड़ों को भूल नहीं सकता क्योंकि उन्हीं से उसे जीवन-रस मिला करता है। नदी भी कितनी ही बढ़ती चली जाय, अपने उद्गम-स्थान को भूल नहीं सकती। भाषा की भी यही स्थिति है।

आर्य-संस्कृति का केन्द्र आज भी संस्कृत भाषा में विद्यमान है। उसी भाषा में भारत का सर्वस्व समाया हुआ है। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि भाषाओं का उद्गम-स्थान (Source) संस्कृत-भाषा ही है।

यह दुःख की बात है कि आज हिन्दी भाषा-भाषी विद्वान् संस्कृत-भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं।

इङ्गलैण्ड में मेट्रीक्युलेशन और समान परीक्षाओं में लेटिन (Latin) और ग्रीक (Greek) अनिवार्य विषय रखे गए हैं। भारत के विश्व-विद्यालयों में पहिले क्लासिक (Classic) का अभ्यास अनिवार्य रखा गया था। परन्तु यह देखकर दुःख होता है कि आज हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अपनी हिन्दी-साहित्य की परीक्षाओं में संस्कृत का साधारण ज्ञान भी अनिवार्य रखना उचित नहीं समझा। परिणाम यह हुआ कि कई "साहित्य-रत्न",

---

* मध्य-भारतीय हि० सा० सम्मेलन, इन्दौर में साहित्य-परिषद के अध्यक्ष-पद से दिया गया लेखक का भाषण।

"विशारद"—उपाधिधारी, और एम. ए. हिन्दी में पास किए सज्जन, संस्कृत के साधारण ज्ञान से भी अनभिज्ञ हैं। संस्कृत-ज्ञान के अभाव में हिन्दी ज्ञान पूरा कैसे हो सकता है? यही कारण है कि आज नवीन शैली के नवयुवक विद्वान् भाषा की दुर्गति का एक कारण बन रहे हैं। बाबू राजेन्द्रप्रसादजी सरीखे हिन्दुस्तानी के हिमायती विद्वान् ने भी संस्कृत का अध्ययन आवश्यक माना है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को संस्कृत का साधारण ज्ञान अपनी परीक्षाओं में अनिवार्य कर देना चाहिये। क्योंकि जहाँ जड़ें मजबूत नहीं वहाँ भाषा का वृक्ष पनप ही कैसे सकता है?

काव्य-साहित्य

प्राचीनकाल में साहित्य शब्द था ही नहीं। यह शब्द तो आधुनिक-युग की उपज है। संसार की सब भाषाओं में प्रारंभिक रचनाएँ पद्य में ही मिलती हैं। 'काव्य' शब्द में ही 'साहित्य' निहित था। पंडित पी. वी. काणे महोदय ने अँग्रेजी में 'साहित्य-दर्पण' की भूमिका में बिल्हण, मुकुल, प्रतीहारेन्दुराज, मङ्खक, और राजशेखर की कृतियों से उदाहरण देकर यह अनुमान किया है कि 'साहित्य' शब्द सन् ६०० ईस्वी के पूर्व आ चुका था। भामह ने जब काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" स्थिर की तब 'सहितौ' शब्द से 'साहित्य' शब्द की उत्पत्ति हुई और साधारणतः काव्यालोचना के अर्थ में ही 'साहित्य' शब्द प्रयुक्त होता रहा। केवल विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर, 'साहित्य' शब्द को प्रमुख स्थान दिया है। विश्वनाथ के समय का निर्णय विद्वानों ने विक्रम संवत् १३५६ से १४४० के आस-पास किया है। पहिले-पहिले साहित्य शब्द एक विशेषता के साथ विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पूरे साहित्य-दर्पण में (इतने बड़े ग्रन्थ में) विश्वनाथ ने भी कहीं भी साहित्य का अर्थ नहीं बतलाया। उसका विषय काव्य-चर्चा और काव्य-मीमांसा ही है।

विश्वनाथ के पूर्व व पश्चात् के विद्वान् काव्य-मर्मज्ञ-भरत, भामह, कुन्तक, दन्डी, वामन, रुद्रट, राजशेखर, भट्टतोत, मम्मट, हेमचन्द्र आदि के नाट्य-शास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्य-मीमांसा, काव्य कौतुक, काव्य प्रकाश, काव्यानुशासन आदि ग्रन्थों में सर्वत्र-काव्य-मीमांसा, या तदन्तर्गत रसमीमांसा, अलंकार निरूपण, अथवा ध्वनि विचार की ही प्रधानता है। 'साहित्य' शब्द को, जिस आधुनिक अभिधा से हिन्दी में प्रयुक्त किया जाता है, वह शब्द शायद भारत में अँग्रेजी शासनकाल के बाद, बंगला से हमारे यहाँ आया। फारसी में इस शब्द को 'अदब', और मराठी में इसका पर्याय वाचक-शब्द 'वाङ्मय' है। पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा पारिभाषित "समस्त लिखित अक्षर ज्ञान भंडार को साहित्य कहते हैं" साहित्य का यह अर्थ विश्वनाथ के भी ध्यान में न आया होगा। बात असल में यह है कि प्राचीनकाल में सब कुछ वैद्यक, ज्योतिष, गणित से लगाकर ऊँचे से ऊँचे दर्शन आदि विषय पद्य में, अनुष्टुप. में या कारिकाओं के रूप में लिखे जाते थे। इसलिए प्राचीन काव्य मीमांसाकार 'काव्य' शब्द से ही अक्षर-बद्ध ज्ञान भंडार का अर्थ समझा करते थे। यह बात भारत अकेले में ही हो, ऐसी बात नहीं है। ऐरिस्टाटल ने भी "पोएटिक्स" (Poetics) में ही साहित्य-समालोचना के विषय में लिखा है, और होरेस (Horace) ने जिस पुस्तक में साहित्य समालोचना के सिद्धान्त समझाये हैं, उस पुस्तक का ही नाम Ars Poetica रखा था। पोप ने शैली का विवेचन 'An essay on ctiticism' में किया है और मुख्य बात यह है कि वह भी काव्य में ही है।

तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ से ही काव्य और साहित्य में कोई भेद नहीं रखा गया और काव्य की आलोचना में साहित्य की आलोचना निहित थी।

हमारे काव्य-ग्रन्थों में काव्य के दो प्रकार के प्रयोजन माने गये थे।

१. स्वान्तः सुखाय प्रयोजन।

(अर्थात् क्रीड़ा, विनोद, आनन्द, प्रीति)

२. लोक-पक्ष के प्रयोजन।

(अर्थात् यश-प्राप्ति, अर्थ-प्राप्ति, शिव की रक्षा, और कान्ता संमित उपदेश।)

आत्मलक्षी-प्रयोजनों के कारण कवि से अपेक्षा की जाती थी कि उसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति, या बहुश्रुतता और अभ्यास हो। अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति की स्पष्टता और प्रभविष्णुता पर सभी प्राचीन आचार्यों ने जोर दिया था और इसी कारण से प्रतिभा (Inspiration) एक तिहाई होने पर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास (perspiration) को दो-तिहाई महत्व दिया गया था। केवल प्रेरणा से काव्य में काम नहीं चला करता। उस प्रेरणा को व्यक्त करने के लिये जिसे क्रोचे (Benadetto Croce) ने Intuitive moment नाम दिया है। कवि के पास पर्याप्त उपयुक्त साधन होने चाहिये। उसे अपने माध्यम शब्द और स्वरों पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये। इसलिये श्री रामदास ने कवियों को "शब्द सृष्टि के ईश्वर" माना था। जितना अधिक शब्दों पर काबू होगा, जितना अधिक शब्दों के विषय में अभ्यास किया गया होगा, उतनी ही कविता में हृदय-ग्राह्यता आती चली जायगी। और उतनी ही श्रुति-मधुरता बढ़ती चली जायगी। प्रत्येक साहित्य के समालोचकों की यही राय है। माईकेंलइंजिलो नामक एक प्रसिद्ध शिल्पी ने लिखा था कि जितना संगमरमर कट-छटकर खराब ज्यादा होगा, उतनी ही मूर्ति सुन्दर और भव्य बनती जायगी। (The more the marble wasted the better the statue)

ये शब्द, साहित्य-रचना के लिये उतने ही लाभदायक सिद्ध हुये हैं जितने कि शिल्प-रचना के लिये।

काव्य समालोचना के इन मोटे सिद्धान्तों पर, हमारे यहाँ प्राचीन काल में अत्यन्त ध्यान दिया गया था। भामह ने शब्द और अर्थ के सुन्दर सम्मिश्रण को ही काव्य बतलाया था। रुद्रट, मम्मट, वक्रोक्ति जीवितकार, प्रताप-रुद्र आदि काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में शब्द को भी उतना महत्व दिया था जितना अर्थ को; और काव्यादर्श और अग्निपुराण में काव्य का सारा जादू शब्द में ही बतलाया गया है। रस गंगाधर ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि—
"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

शब्दों के चयन पर इतना जोर देने के कारण ही, प्राचीनकाल में, न केवल बड़े-बड़े राजा, कवि-सम्मान के लिये आतुर रहा करते थे, पर बहुतों ने तो अपने घरों में काव्य रस के अनुकूल भाषा बोलने की कड़ी व्यवस्था कर ली थी। कविवर राजशेखर की काव्य मीमांसा से हमें पता लगता है कि मगध के राजा शिशुनाग ने अपने अन्तःपुर में यह नियम बना लिया था कि कोई 'ट' वर्ग के चारों अक्षर, तीनों ऊष्मवर्ण और सकार का उच्चारण नहीं कर सकता था। शूरसेन के कुविन्द-राजा ने अपने अन्तःपुर में परुषाक्षरों का बोला जाना रोक दिया था और उज्जयिनी के राजा साहसांक के अन्तःपुर में केवल शुद्ध संस्कृत भाषा ही बोली जा सकती थी।

काव्य में रमणीय शब्द और "रसात्मक वाक्य" के चयन के विषय में कवियों को कितना सावधान रहना चाहिये, इसके कई दण्डक और आदेश, प्राचीन काव्य-मीमांसाकारों ने बना दिये थे। वामन ने काव्य-दोष बतलाते हुए पद, वाक्य और अर्थ के विभिन्न दोष बतलाए हैं। ध्वन्यालोककार ने रस-विकास में औचित्य का भंग न हो, इस विषय के नियम बनाये हैं और मम्मट ने रसदोषस्थलों का सविस्तार विवरण दिया है।

इन सब कारणों से ही संस्कृत भाषा में पद-लालित्य, शब्द योजना, और श्रुति-मधुरता बढ़ती चली गई।

हमारे प्राचीन हिन्दी-कवियों ने भी इन्हीं विषयों के अध्ययन पर और आचार्यों के बनाये हुए नियमों के पालन पर विशेष ध्यान दिया था और इसीलिये तुलसी और सूर, बिहारी और मतिराम, घनानंद और रसखान, मीरा और हरिश्चन्द्र के कवित्तों में और पदों में आनन्द-सागर की एक सुन्दर-तरंग मिला करती है।

दुःख का विषय है कि आधुनिक हिन्दी के अधिकांश कवियों ने, अपने प्राचीन आचार्यों के अध्ययन की तरफ साधारण ध्यान देना भी उचित नहीं समझा। अँग्रेजी साहित्य को ही वे अपना आदर्श बनाए बैठे हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का भी ध्यान अभी इस तरफ नहीं गया और इसीलिये हमारे प्राचीन आचार्यों के काव्य-समालोचना के ग्रन्थ, साधारण हिन्दी में अनुवादित नहीं हो पाए हैं। रस गंगाधर और साहित्य दर्पण के हिन्दी-अनुवाद अवश्य निकले हैं, किन्तु वे क्लिष्ट हैं। उनमें हिन्दी कवियों की कविताओं से उदाहरण देकर, सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न बिलकुल नहीं किया गया है। अपनी भाषा की रक्षा करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन ग्रन्थों का अनुवाद शीघ्र ही साधारण भाषा में आधुनिक हिन्दी-कविता के उदाहरणों के साथ प्रकाशित किया जाय।

पाश्चात्य समालोचना-ग्रन्थों के मनन करने के हम विरुद्ध नहीं हैं। एरिस्टॉटल से लेकर ऑरनाल्ड तक कला-मर्मज्ञों के कई वर्ग रहे हैं। सभी का अध्ययन करना समीचीन ही है। इधर फ्रायड, एडल और डाक्टर युंग के मनोविश्लेषण विज्ञान के आधार पर साहित्यिक समालोचना होनी शुरू हो गई है। इसकी नकल हिन्दी में भी की जानी लगी है। यह शुभ लक्षण अवश्य है। परन्तु भाषा

सम्बन्धी अपूर्णताओं को दृष्टिगत रखा जाय, यही हमारी इच्छा है। नवीन शैलियों का विकास हमारे साहित्य में हो, इससे कौन सहमत न होगा। परन्तु उन नई भूल-भुलइयों में पड़कर नई-नई "थियोरीज़" के चक्कर में, शब्दों पर काबू न करके, अपनी भाषा को क्लिष्ट बना दें, या भाषा की दुर्गति कर डालें, यह किसी भी भाषा-भक्त को सह्य नहीं हो सकता। पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्तों के मनन करने के पूर्व, अपने आचार्यों के मोटे-मोटे सिद्धान्त तो हृदयंगम हो जाने चाहिए।

हमारे यहाँ काव्य की अंतिम परिभाषा है "वाक्यं रसात्मकं-काव्यम्"। कितनी ही आधुनिक पद्य-रचना "रसात्मक वाक्यं" की परिभाषा से बाहर जा रही हैं। "रसात्मक" समझने की आवश्यकता है। 'रस' का अर्थ है 'आस्वाद्य'; जैसे भोज्य और पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है वैसे ही काव्य-रस का स्वाद लिया जाता है। रसों के आधार भाव हैं। भाव मन के विकारों को कहते हैं जो वाणी, अंग-रचना, और अनुभूति के द्वारा, काव्यार्थों की भावना कराते हैं। विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी-भावों के संयोग से जो निष्पत्ति हो, उसे रस कहा गया है। भरत के इस सूत्र की टीकायें अनेक हो चुकी हैं। इसके मूल में शरीर-शास्त्रीय और मनो-वैज्ञानिक-तत्व निहित है। मानव मन के कुछ स्थायी भाव मान लिए गए हैं जो कि उपयुक्त अभिनय द्वारा नाट्य में, और शब्दों द्वारा, काव्य में जागरित, और उद्दीपित होते रहते हैं। ये स्थायी भाव आठ हैं, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय। कोई-कोई 'शम' और बतलाकर नव स्थायी भाव बतलाते हैं। प्रत्येक स्थायी-भाव के आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव होते हैं। जो भाव लहरों की तरह उठ कर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं, वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। जो भाव, रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरते हैं वे स्थायी भाव हैं।

यह हजारों वर्ष पूर्व का विवेचन आज भी अत्यन्त आश्चर्य जनक है। आज के मनोविज्ञान के सूक्ष्मतम निष्कर्ष, अधिक से अधिक भी वहाँ तक नहीं पहुँचे। मन के अवश्चेतन (Sub-Conscious) अंश को आज अधिक महत्व दिया जा रहा है। मगर इसी अवश्चेतन अंश का ही तैंतीस व्यभिचारी-भावों में वर्णन है। बिहेवियरिज्म (Behaviourism) और अनुभाव के सिद्धान्त एक से ही हैं। विभावों की पूरी तालिका, मानवी प्रवृत्तियों (Instincts) की विवेचना से टक्कर खाती है। रति या शृङ्गार को जो रसाधिराज इतने हजार वर्ष पहिले भरत मुनि ने स्वीकार किया था, वैज्ञानिक मात्रा में, आज के मनस्तत्ववेत्ता फ्रायड, एडलर या युंग उससे अधिक कुछ नहीं कहते। वर्तमान शास्त्रियों के Stimulants, Eroticism, Neurosis, Psychic projection और Determinant Moods पूर्व आचार्यों के सूक्ष्म विवेचन के आगे कुछ भी महत्व नहीं रखते।

परन्तु कठिनाई यह है कि हमारे नवयुवक कवियों के सामने, पूर्व-आचार्यों के सरल उदाहरण सहित ग्रंथ उपस्थित नहीं। जहाँ आदर्श सम्मुख नहीं हो वहाँ स्वभावत: चित्त, अन्य साहित्य की ओर जायगा। वह अन्य साहित्य, आज हमारे देश में अँग्रेजी साहित्य ही है, परन्तु उस अँग्रेजी काव्य को समझने के लिये हमारा लालन-पालन अँग्रेजी वातावरण में होना चाहिये। जब तक कि ऐसा न हो हम अँग्रेजी काव्य, और उसकी समालोचना, तथा उसके सिद्धान्त समझ ही नहीं सकते। परिणाम यह हुआ कि हम अपने सिद्धान्तों को छोड़ बैठे, और दूसरों के सिद्धान्त हृदयंगम नहीं कर पाये। इसलिये हमारे साहित्य में एक अद्भुत दल-दल-सा दृश्य उपस्थित हो रहा है।

साहित्यिक-दासता का अन्त होना चाहिये।

हिन्दी के आधुनिक काव्य में गीति-काव्य (Lyrics) की जो

बाढ़ आ रही है उसमें गँदला-पानी बहुत चला आ रहा है। यदि वह जल स्वच्छ होता (जो कहीं-कहीं अवश्य है) तो उससे साहित्य में निर्मलता निश्चय ही रहती। इस जल में अँग्रेजी छाया अवश्य (और बहुत) दिखाई पड़ती रही है। किसी ने खूब कहा था कि हमारे नये साहित्यिक कोरे स्याही-सोखों की तरह हैं। विलायतों में ताजे से ताजे कागज जब काले किये जाते हैं तो उनकी वर्ण-मालाओं के उलटे सीधे प्रतिबिंब ये लोग अपने दिलों में उतार लेते हैं।

हमारे तरुण उदीयमान-साहित्य-सेवियों का कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वे इस साहित्यिक-दासता का अन्त करें। साहित्यिक-दासता केवल शैलियों तक ही होती तो गनीमत थी, मगर उसका उग्रतर रूप है विचारों की दासता। इस विचारों की दासता से साहित्य में दो रोग फैले हैं। पहिले तो हमारी मौलिकता का अन्त हो रहा है: दूसरे साहित्य में अराजकता या उच्छृंखलता बढ़ रही है।

अन्य साहित्य के अध्ययन करने में हम कोई दोष नहीं समझते और उनकी अच्छी बातें हमारे साहित्य में लेने में भी हमारे साहित्य की भलाई होगी ही। मगर आँख बन्द करके दूसरे साहित्य के पीछे पड़ जाना, किसी भी स्वाभिमानी को शोभा नहीं देता और मुख्य कर उस हालत में जब कि यूरोप में अँग्रेजी साहित्य फ्रेंच, जर्मन, और रूसी साहित्य के बहुत पीछे माना जाता है।

प्रगतिशील साहित्य

श्रम और श्रमार्जित-धन का सुन्दर समन्वय देशोन्नति के साथ-साथ, देश के नवयुवकों के विचारों पर एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे यथार्थ

वादिता की दृष्टि से हमारे साहित्य में भी नवीन-स्फूर्ति आ सकती है, और यह शुभ लक्षण है कि प्रगतिशील-साहित्य, अच्छी तरह बढ़ रहा है। परन्तु हमारे देश के साहित्य में इस समय जो कमी है वह यह कि अभी तक यह साहित्य ऐसा नहीं हो पाया कि जो मानव जाति की कला की उन्नति को एक पग भी आगे बढ़ा सके। प्रगतिवाद की रचनाए, इस समय अपने शैशव में हैं, इसलिये उसके सम्बन्ध में अधिक कहना उपयुक्त नहीं है।

प्रगतिवाद पर, हिन्दी में, कतिपय विद्वानों के अपवाद को छोड़कर, जो चर्चाएँ हुई हैं, वे बहुत ऊपरी सतह की चर्चाएँ हैं। मार्क्स, एन्जिल्स और लेनिन तो बहुत दूर हैं, लास्की, एन्डरसन, बर्ट्रान्ड रसल और काडविल की पुस्तकें पढ़कर, और उन्हें पचाकर, फिर साहित्य की प्रगति के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने वाले हिन्दी में हो ही कितने सकते हैं?

यह देखकर वास्तव में दुख होता है कि आज के अधिकांश प्रगतिशील लेखक, केवल "प्रेस कटिंग" के भरोसे निराशावादी, और निम्न दर्जे का पार्टी-प्रोपेगेन्डा वाला साहित्य-सृजन कर रहे हैं। क्या यह इष्ट है? क्या इससे मानवजाति के कलात्मक-विकास की दिशा में एक पैर भी आगे बढ़ाया जा सकता है?

गोर्की के सभापतित्व में, रूस में एक साहित्यिक-सभा हुई थी, जिसके मैनीफेस्टो के यह वाक्य महत्व के हैं:—

"हम समझते हैं कि वर्तमान रूसी-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से रीतिबद्ध, दुरूह, और एकरस है। हम कहानियाँ, उपन्यास और पुरानी तथा नवीन-शैली में रूढ़िग्रस्त नाटक लिखने के लिए स्वतंत्र हैं, बशर्ते कि वह सामाजिक विषय पर हो। हम केवल एक बात चाहते हैं कि कला की प्रत्येक वस्तु सर्वाङ्गीण और वास्तविक वस्तु हो, और वह जीवन विशेष से अनुप्राणित हो।"

हम अपने नवयुवक प्रगतिशील लेखकों का ध्यान, इस ओर आकर्षित करते हैं कि उनकी रचनाओं में सर्वांगीण और वास्तविक-वस्तुएँ होनी चाहिये। सदियाँ गुजर जायेंगी मगर टाल्सटाय को लोग हमेशा पढ़ते रहेंगे, इसका कारण यही है कि उनकी रचनाएँ जीवन विशेष से अनुप्राणित थीं। यही हाल हमारे प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंदजी का है।

भारतीय प्रान्तिक साहित्य में इस प्रश्न पर, साहित्यिकों में काफी विवेचना हो चुकी है। इस प्रसंग में बंगाल में बुद्धदेव वसुः; गुजरात में रामनारायण पाठक, और रमणलाल देसाई; महाराष्ट्र में खांडेकर, कांणेकर, देशपांडे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के कतिपय प्रगतिवादी लेखक, निरे ध्वंसवाद का प्रचार कर रहे हैं। मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि वे ऐसा न करें और गोर्की टाल्सटाय और भारत के प्रान्तीय साहित्यिकों के गम्भीर लेखों का मननपूर्वक अध्ययन करके ऐसे नवीन-साहित्य का सृजन करें जो आशावादी हो! इसी में देश का और नवीन साहित्य का हित है। इस दृष्टि से अभी निकले हुए कुछ कहानी के ग्रन्थ और कुछ उपन्यास अवश्य अच्छे हैं।

हिन्दी का विराट्-रूप

वर्तमान हिन्दी-भाषा वास्तव, में ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें बिना परिवर्तन किये सारे देश का काम चल सके। सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। एक संकुचित दायरे से निकाल कर, वर्तमान हिन्दी को एक विराट्-रूप देने की आवश्यकता है। उसके शब्द कोश को भी बढ़ाना है। मिलने-मिलाने की शक्ति भी बढ़ानी है। अनेकानेक साहित्यिक-अंगों की भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अनुसार पूर्ति करनी है। महाराष्ट्र-देश में हिन्दी को मराठी भाषा मराठी साहित्य, मराठी कहावतों का अधिकाधिक सहारा लेना पड़ेगा। बंगाल में बंगाली-भाषा व साहित्य का प्रभाव

स्वीकार करना पड़ेगा। वहाँ का साहित्य, वहाँ की लोकोक्तियाँ, और वहाँ के रहन-सहन का भी हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ेगा जिसके लिये हमें उद्यत रहना चाहिये। पंजाब में पंजाबी, गुजरात में गुजराती, मद्रास में तामिल तेलगू, मलायलम, और कनाड़ी-भाषा का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़े बिना कैसे रह सकता है? जिस प्रान्त अथवा जिन प्रान्तों में फ़ारसी, उर्दू, अरबी या पश्तो के शब्द ज्यादा बोले जाते हैं उन प्रान्तों में हिन्दी का वह रूप आवेगा जिसे हम आज हिन्दुस्तानी या उर्दू कहते हैं। इस दृष्टि से इस समय हिन्दी और हिन्दुस्तानी या उर्दू में भेद दिखाकर एक का समर्थन और दूसरे का विरोध करना देश के ही लिये नहीं, हिन्दी के लिये भी हानिकारक है।

सारे भारत की हिन्दी राष्ट्र-भाषा होते हुये भी प्रत्येक प्रान्त की हिन्दी अलग अपना स्वत्व रखेगी ही। बंगाल में जो हिन्दी-भाषा बोली जायगी उससे उस हिन्दी-भाषा में फर्क होगा जो पेशावर की तरफ लिखी या बोली जावेगी। इंगलिश भी एक ही भाषा है, मगर स्काटलैंड, आयरलैंड, वेल्स, आस्ट्रेलिया, और अमेरिका में जो अँग्रेजी, बोली या लिखी जाती है, उससे उस अँग्रेजी में काफी फर्क है जिसे आज हम किंग्स इंग्लिश (King's English) कहते हैं।

जब तक हम हिन्दी के भिन्न-भिन्न रूपों के लिये तैयार नहीं हो जाते तब तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न हल नहीं हो सकता। इतने बड़े महाद्वीप की व्यापक भाषा के लिये विराट्-रूप की अत्यन्त आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश की वर्तमान हिन्दी-भाषा को इसी रूप में सारे देश पर लाद देना अनुचित होगा। यह शुभ लक्षण है कि हिन्दी में आज बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, लेखक न सिर्फ बढ़ रहे हैं, वरन् वे पर्याप्त लोक-प्रियता भी प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार

हिन्दी-भाषा नव-नवीन शब्द, मुहावरे, और लोकोक्तियों से परिपुष्ट हो रही है। साथ-साथ हमारी अखिल भारतीय सांस्कृतिक अखण्डता की दृष्टि से भी परस्पर साहित्यिक आदान-प्रदान बहुत ही शुभ है। बंगला भाषा के बंगला-भाषी कई मान्य लेखक, हिन्दी साहित्य को आज सुसज्जित कर रहे हैं, यथा सर्व श्री नलिनी मोहन सान्याल, क्षितिमोहन सेन, उषादेवी मित्रा आदि। गुजराती के लेखक भी हिन्दी में अच्छे-अच्छे हैं, यथा—श्री बक्शी, मुंशी, कालेलकर, श्री इन्द्र बसावडा इत्यादि। मराठी के लेखकों में लक्ष्मणनारायणजी गर्दे, पराडकर, माचवे, आगरकर, भालेराव आदि अच्छे लेखक हैं। इन लोगों ने जो हिन्दी साहित्य की सेवा की है वह भुलाई नहीं जा सकती।

राष्ट्र भाषा के लिए शब्द-कोश बढ़ाने की, न कि घटाने की जरूरत है। उसके साथ-साथ भाषा की सम्मिश्रण-शक्ति और समयानुसार बदलते रहने की शक्ति पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। हिन्दी भाषा को सर्व-रूपेण उपयुक्त बनाना भी हमारा कर्त्तव्य है।

समय ऐसा आ चुका है कि हमें हिन्दी के रचनात्मक प्रोग्राम बनाकर उन कमियों को पूरा करने के शुभ कार्य करने का श्रीगणेश करने में जुट जाना चाहिए, जो राष्ट्र-भाषा की गद्दी पर बैठालने के लिए, हिन्दी भाषा के लिए साहाय्य प्रदान करेगा।

सम्मेलन के लिए कतिपय सुझाव

सम्मेलन के सामने हिन्दी-साहित्य-सेवियों के संगठन, परस्पर विचार विनिमय का, कार्य-क्रम तो है ही। साथ ही एक "रीडर्स डायजेस्ट" की भाँति ऐसी पत्रिका की योजना होनी चाहिये जिसमें सारे भारतवर्ष के हिन्दी

के मासिक-पत्रों, साप्ताहिक-पत्रों और दैनिक-पत्रों में निकले हुए सुन्दर साहित्यिक लेखों का संग्रह हो। यह निष्पक्ष भाव से चयन किया जाय व विद्वानों का सम्पादक-मंडल इसका सम्पादन करे। मेरे विचार में इस प्रकार की पत्रिका लोक-प्रिय हो जायगी और वह संग्रह हमारे वार्षिक-साहित्य की प्रगति का भी परिचय करावेगा।

एक दूसरा सुझाव यह भी है कि हम बहु-भाषी बने। अँग्रेजी बोलने की जैसी प्रतिद्वन्द्विता हमारे बीच में रहती है, यदि प्रान्तीय भाषाओं को जानकर, हम अखिल भारतीय-संस्कृति का अध्ययन और आकलन उदारभाव से कर सकें तो कितना अच्छा होगा। क्या यह हमारे लिए लज्जा का विषय नहीं है कि हम चौसर बर्न्स और शेक्सपियर का स्वाद बड़े प्रेम से लेते रहें और अपने ही देश के बंकिम, रवीन्द्र, नानालाल, समर्थगुरु रामदास, तुकाराम और कलापी या ग़ालिब या इकबाल को हम मूल में पढ़ने की इच्छा भी न रखें?

नागरी लिपि में, हिन्दी भाषा में, अर्थों सहित इन लोगों के ग्रन्थों का उन्हीं की भाषा में प्रचार होना आवश्यक है।

सजीव कविता

स्थूल रूप में कला अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और कलाकार की सफलता अथवा असफलता का मापदण्ड उसके भावों की अभिव्यक्ति की सफलता अथवा असफलता ही है। यदि लेखक अथवा कवि अपने भावों को ठीक-ठीक पूर्णत: व्यक्त नहीं कर सका तो हम कहेंगे कि वह अच्छा लेखक या कवि नहीं है, उसका भाषा पर अधिकार नहीं है। अच्छे साहित्यिक के लिए भाषा पर पूरा अधिकार होना अनिवार्य है। साहित्यिक रचना के लिए किसी वस्तु का कोरा वर्णन पर्याप्त नहीं समझा जाता। वह वर्णन रोचक होने के लिए हृदय-ग्राही एवं मर्मस्पर्शी भाषा में होना चाहिए। पाठक अथवा श्रोता के हृदय में उन्हीं भावनाओं और अनुभूतियों को उत्पन्न करने के लिए जिनका लेखक स्वयं अनुभव कर चुका है, उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिससे शीघ्रातिशीघ्र अभिप्रेत अर्थ का पाठक को बोध हो सके।

अतएव अच्छी भाषा के लिए जिन गुणों की आवश्यकता बताई गई है उसमें शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, यथार्थता, सामंजस्य, लयता और औचित्य के अतिरिक्त सजीवता एवं मर्मस्पर्शिता भी हैं। वास्तव में किसी कवि अथवा लेखक की शैली की मोहिनी-शक्ति को और भी मोहक बनाने के लिए इन्हीं सब गुणों की आवश्यकता हुआ करती है। लेखक के मुकाबिले में कवि को थोड़े से शब्दों द्वारा अधिक गंभीर भाव व्यक्त करना भी अनिवार्य हो जाता है और यह अवश्य कठिन कार्य है। महाकवियों की भाषा भाव का अनुगमन करती है। उनकी कविता में ऐसे शब्द होते हैं जिनके उच्चारण मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाता है। जहाँ वे कोमल भावना व्यक्त करना चाहते हैं, वहाँ उनकी भाषा में ध्वनि-लालित्य एवं श्रुति-कोमलता अपने आप आती रहती है और उग्र भावनाओं को व्यक्त करते समय

उनकी पदावली भी ओजपूर्ण हो जाती है। 'रामचरित मानस' में ऐसे असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं। जब हम पढ़ते हैं कि —

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि
कहत लखन सन राम हृदय गुनि

तो छोटे-छोटे कोमल मधुर एवं ललित शब्दों को दुहराते हुए ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वास्तव में सीताजी के कंकन, करधनी और नूपुरों की आवाज़ सुनाई दे रही है और जब वर्षा ऋतु के वर्णन में गोस्वामीजी लिखते हैं कि—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा।

तो प्रथम पंक्ति से बादलों के गरजने की आवाज़ का यकायक आभास होने लगता है। "घो ओ ओ रा आ आ" शब्द बड़ी देर तक कानों में प्रतिध्वनित होता रहता है और दूसरी पंक्ति के कोमल शब्दों से, डरे हुए मन की मूर्ति, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में, नाद-शक्ति (Sound Force) के द्वारा मानसिक चित्र उपस्थित करने में गोस्वामीजी अद्वितीय रहे हैं।

ध्वनि-योजना

ध्वनियों की योजना प्रसङ्गानुसार होनी आवश्यक है। विजय-वाहिनी सेना के वर्णन के लिए श्रुति-मधुर ध्वनि-प्रयोग अथवा कोमल-कान्त पदावली अनुपयुक्त होती है। इसीलिए आचार्य केशवदास की 'राम चन्द्रिका' में महाराज रामचन्द्रजी की सेना का निम्नलिखित वर्णन, ऊँची कल्पना होते हुए भी असंगत ही ज्ञात होता है :—

राघव की चतुरङ्ग-चमूचय को गनै केशव
राज समाजनि

सूर तुरङ्गन के उरझैं पग तुङ्ग पताकनि की
पट साजनि
टूटि परैं तिन ते मुकता धरणी उपमा बरनी
कवि राजनि
बिंदु किधौं मुख फेननि के किधौं राजसिरी स्रवै
मङ्गल लाजनि

इस छन्द में 'सूर-तुरङ्गन' शब्दों को छोड़कर कोई शब्द ऐसा नहीं है जिससे उत्साह से भरे हुए युद्धोन्मत घोड़ों की बड़ी-बड़ी टापों की आवाज़ कान में सुनाई देती हो। छन्द के सारे वातावरण से प्रतीत यह होता है कि किसी राजा-महाराजा के ब्याह के अवसर पर बरात में शोभा के लिए सजे हुए, आभूषण और बहुमूल्य झालरों से ढके हुए सुन्दर घोड़े धीरे-धीरे चले जा रहे हैं !!

इसी सेना के वर्णन में एक दूसरा 'कमल' छन्द इस प्रकार है:—

राघव की चतुरङ्ग चमू चपि
धूरि उठी जल हू थल छाई
मानो प्रताप हुतासनि धूम सों
केशवदास अकास न माई
मेटि कैं पंच प्रभूत किधौं
विधि रैनुमयी नवरीति चलाई
दुःख निवेदन को भवभार को
भूमि किधौं सुरलोक सिधाई

इस छन्द में भी सेना के योद्धाओं के उत्साह, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़ अथवा अस्त्र-शस्त्रों की गड़गड़ाहट और विजयनाद अथवा शङ्खनाद का किंचित् मात्र भी आभास प्रतीत नहीं होता। कोमल शब्दों के कारण, सेना के कारण उठी हुई 'धूरि' भी नवनीत-सी कोमल 'रेनु' बनकर देवीरूप में ब्रह्मा के सम्मुख जाती हुई प्रतीत हो रही है !! उत्प्रेक्षा एवं कल्पना सुन्दर

होते हुए भी छन्द का सारा वातावरण अन्तिम दो चरणों में आकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि आचार्य केशवदास महाकवि नहीं थे। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि प्रसंगानुसार ध्वनियों के आयोजन एवं शब्द-चयन के ऊपर ध्यान न देने के कारण उनकी कविता में उस चमत्कार की झलक नहीं मिलती जो 'रामचरित मानस' में सर्वत्र सुगमता से मिल जाती है। स्वभाव से शृंगारी एवं रसिक होने के कारण केशव की 'रामचन्द्रिका' में जहाँ नैसर्गिक शोभा अथवा शृंगार-स्थलों का वर्णन है वह अवश्य सुन्दर हो गया है। श्रीराम के रंगमहल के विषय में निम्नलिखित चतुष्पदी छन्द पर एक दृष्टि डालनी अनुचित न होगी—

आई बनि बाला गुण गण माला
बुधि-बल-रूपन बाढ़ी
शुभ जाति चित्रिणी चित्र-गेह ते
निकसिभई जनु ठाढ़ी
मानों गुणसंगनि यों प्रतिअँगनि
रूपक रूप बिराजै
बीनानि बजावैं अद्भुत गावैं
गिरा रागिनी लाजैं

कोमल एवं सुकुमार शब्दों के द्वारा नृत्य एवं संगीत का आभास अनायास ही होने लगता है। इसी प्रकार निम्नलिखित सुरेन्द्रवज्रा छन्द में अग्नि-परीक्षा के अनन्तर सीताजी की शोभा का इतना सुन्दर वर्णन अन्य किसी काव्य-ग्रन्थ में मिलना दुर्लभ है।

आसावरी माणिक-कुंभ शोभै
अशोक लग्ना बन देवता सी
पालाशमाला कुसुमालि मध्ये
बसन्त लक्ष्मी शुभ लक्षणा सी

आरक्त पत्रा शुभ चित्र-पुत्री
मनो विराजै अति चारुवेखा
सम्पूर्ण सिन्दूर प्रभास कैधौं
गणेश भालस्थल चन्द्ररेखा

'रामचन्द्रिका' में जहाँ शृंगार के, रंगमहल के, नैसर्गिक शोभा के अथवा सीताजी के सौन्दर्य के वर्णन सुन्दर हैं वहाँ सेना अथवा युद्ध के वर्णन डगमग-डगमग करते ज्ञात होते हैं। प्रतीत यह होता है कि 'केशव' का हृदय युद्ध से बहुत दूर था अथवा ओजस्वी वर्णन में उनकी लेखनी चलती ही नहीं थी। अश्वमेध यज्ञ के समय लवकुश का लक्ष्मण की सेना के साथ युद्ध का दृश्य वर्णन करते हुए निम्न-लिखित सवैये पर एक दृष्टि डालनी पर्याप्त होगी :—

अति रोष रसे कुश केशव
श्री रघुनायक सो रणरीति रचै
त्यहि बारन बार भई बहु बारन
खड्ग हनै न गनै बिरचै
तहँ कुंभ फटैं गजमोति कटैं
ते चले बहु शोणित रोचि रचै
परिपूरन पूर पनारन ते
जनु पीक कपूरन की किरचै।

यहाँ युद्ध की छाया तक का बोध नहीं हो रहा! बारबार 'बारन' 'गजमोति' 'पीक' 'कपूरन' 'किरचै' आदि शब्दों से किसी शृंगारी वर्णन का सा आभास होता है। सवैया छन्द साधारणत: युद्ध-वर्णन के लिए अनुपयुक्त माना गया है। यहाँ छन्द भाव के अनुरूप नहीं है और भाषा में ओज गुण का नामनिशान तक नहीं है। उच्चारण मात्र से तो क्या, बारबार पढ़ने पर भी अर्थ ध्वनित नहीं होता। श्रेष्ठ कवि वे ही होते हैं जो अपनी रचना में प्रसंगा-नुसार ललित कोमलकान्त पदावली भी सुना सकते हैं, ओजस्वी रचना भी सुना सकते हैं और गम्भीर जलद-नाद भी सुना सकते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री महादेवी वर्मा का "एकान्त" पर लिखा हुआ निम्नलिखित सुन्दर गीत भी मुझे सहसा याद आ जाता है—

कामना की पलकों में झूल
नवल फूलों के छूकर अंग
लिए मतवाला सौरभ साथ
लजीली लतिकाएँ भर अंक
यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त

लालसा की मदिरा में चूर
क्षणिक भंगुर यौवन पर भूल
साथ लेकर भौंरों की भीर
विलासी हे उपवन के फूल
बनाओ इसे न लीलाभूमि
तपोवन है मेरा एकान्त

निराली कल कल में अभिराम
मिलाकर मोहक मादक गान
छलकती लहरों में उद्दाम
छिपा अपना अस्फुट आह्वान
न कर हे निर्झर ! भङ्ग समाधि
साधना है मेरा एकान्त

विजय वन में बिखरा कर राग
जगा सोते प्राणों की प्यास
ढाल कर सौरभ में उन्माद
नशीली फैलाकर निश्वास
लुभाओ इसे न मुग्ध वसन्त
विरागी है मेरा एकान्त

वेदना-प्रधान कवयित्री को एकान्त बड़ा प्रिय है। वह उनकी तपोभूमि, वैराग्य का स्थान एवं साधना-स्थल है। किन्तु मत्त समीर,

विलासी भौंरे, मदोन्मत्त वसन्त और कलकल करता हुआ निर्झर उनके एकान्त में विघ्न डाल रहे हैं। अतएव वह उनसे प्रार्थना करती है कि उसके एकान्त को भंग न करें।

कल्पना की आभा एवं भावनाओं का बाहुल्य होते हुए भी हमें इस गीत में तपस्या की कठोर-भूमि एवं कठिन साधना-स्थल का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। कोमल शब्दों का जिस प्रकार प्रयोग किया गया है उनसे वह वातावरण दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-परिणय के लिए नैसर्गिक शोभा द्वारा सजा हुआ कण्व ऋषि के आश्रम का एक भाग प्रतीत होता है; जहाँ शृंगार रस के उद्दीपन विभाव के रूप में एकान्त-स्थल का वर्णन, लालसा की मदिरा, विलासी भौंरों की लीला-भूमि, मोहक-मादक गान और नशीले निश्वास, रति-प्रेम और अनुराग आदि मनोविकारों को बढ़ाने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु न तो यहाँ एकान्त की शुष्कता अथवा भीषणता का आभास होता है और न शान्त स्थल का ही वातावरण प्रतीत होता है जहाँ शान्ति से बैठ कर परमात्मा का चिन्तन किया जा सकता हो।

गोस्वामीजी ने भी 'रामचरित मानस' के उत्तर काण्ड में भगवान् शिवजी के मुख से श्री काकभुशुण्डिजी के एकान्त-स्थल का वर्णन कराया है। वह वातावरण बिल्कुल ही दूसरा है। शिवजी पार्वती से कहते हैं:—

गिरि सुमेर उत्तर दिसि दूरी
नील सैल एक सुन्दर भूरी।
तासु कनकमय सिखर सुहाए
चारि चारु मोरे मन भाए।
तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला
बट पीपर पाकरी रसाला।
सैलोपरि सर सुन्दर सोहा
मनि सोपान देखि मन मोहा।

सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन, गुंजत मंजुल भृंग॥

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई।
तासु नास कल्पान्त न होई॥
मायाकृत गुन दोष अनेका।
मोह मनोज आदि अविवेका॥
रहे व्यापि समस्त जग माँहीं।
तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा।
सो सुनु उमा सहित अनुरागा॥
पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकर तर करई॥
आँब छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥

यहाँ भगवान ही आलम्बन हैं, बहुरंग कमल, मंजुल भृंग, सुन्दर तालाब, बट, पीपर, पाकरी, और आम्र-वृक्ष हरि-विषयक रति के उद्दीपन में सहायक होते हैं। देव-विषयक रति भक्ति का पर्याय है और श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' में माधुर्य-रस (अथवा भक्ति-रस) को सबसे अधिक उज्वल-रस बतलाया है। मधुर से मधुर परमानंद देने वाला यह रस 'राम-चरित-मानस' के उत्तर-काण्ड में भरा पड़ा है। भक्ति-रस के साथ-साथ मोह, मनोज आदि अविवेकों का अभाव एवं 'निर्वेद' का अस्तित्व बता कर शान्त-रस का वातावरण भी ला दिया गया है। वास्तव में काकभुशुण्डि के एकान्त-स्थल का चित्ताकर्षक-वर्णन करके गोस्वामीजी ने पाठक का ध्यान आगे आने वाले विषय, काकभुशुण्डि की पूर्व-जन्म-कथा, ज्ञान-भक्ति-निरूपण, ज्ञान-दीपक, भक्ति और भजन की महान-महिमा की ओर बरबस आकर्षित कर लिया है।

यदि एकान्त-स्थल का ऐसा सुन्दर वर्णन न होता तो संभवतया आगे आने वाले विषयों के पढ़ने में भी चित्त न लगता।

जहाँ एकान्त-स्थल की नैसर्गिक शोभा, कुछ शब्दों द्वारा शान्त-रस में अथवा निर्वेद या वैराग्य की व्यंजना में बाधा उपस्थित करती है, वहाँ दूसरे शब्दों द्वारा अथवा कुछ शब्दों के हेर-फेर के द्वारा वही नैसर्गिक-शोभा भक्ति-भाव को पूर्ण-रूपेण सहाय्य भी प्रदान करने लगती है। गोस्वामीजी की 'हरि भक्ति' 'संयुत-विरत विवेक' थी। अतएव भक्ति के साथ-साथ शान्त-रस का उद्रेक होना कोई असम्भव बात नहीं है।

भक्त एवं धर्मात्मा होने के कारण श्री काकभुशुंडि के एकान्त-स्थल के सुन्दर एवं मनमोहक-वर्णन में सफल होना स्वाभाविक ही है, किन्तु वीर-रस अथवा युद्ध के वर्णन में भी गोस्वामीजी ने वैसी ही सफलता प्राप्त की है। कुम्भकर्ण के युद्ध-सम्बन्धी निम्नलिखित दोहे-चौपाइयों से हमारे मत का समर्थन होता है—

महानाद करि गर्जा, कोटि-कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव, सपथ करइ दससीस॥

भागे भालु बलीमुख जूथा। बृकु बिलोकि जिमि मेष बरूथा॥
चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥
यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपिकुल देस परन अब चहई॥
सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सुधारि सरासन बाना॥
खैंचि धनुष सर सत संधाने। छूटे तीर, सरीर समाने॥
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा॥
लीन्ह एक तेंहि सैल उपाटी। रघुकुल तिलक भुजा सोई काटी॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी। प्रभु सोइ भुजा काटि महि पारी॥
काटें भुजा सोह खल कैसा। पच्छहीन मंदर गिरि जैसा॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहुँ त्रैलोका॥

करि चिक्कार घोर अति, धावा बदनु पसारि ॥
गगन सिद्ध सुर त्रासति, हा हा होति पुकारि ॥

'मानस' में युद्ध के सभी वर्णन इसी प्रकार ओजपूर्ण हैं। चौपाई और दोहे अत्यन्त छोटे छन्द होते हुए भी गोस्वामीजी ने इन्हीं छोटे छन्दों द्वारा नाना प्रकार के विषयों का एवं नवों रसों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। हमने एक अन्य लेख में लिखा था कि 'साकेत' के प्रारम्भ करने के लिए यदि छोटा छन्द प्रयुक्त न किया जाता तो 'साकेत' अधिक सफल काव्य-ग्रन्थ होता। छोटा छन्द श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के अनुकूल नहीं है। उनकी शैली तो गीतिका, हरिगीतिका अथवा रोला छन्द के अनुकूल प्रतीत होती है और उनकी काव्य-प्रतिभा उन्हीं छन्दों में प्रस्फुटित हुई है। 'साकेत' के प्रथम चार सर्गों में अन्त्यानुप्रास एवं पाद-पूर्ति घड़ी की 'टिक-टिक-टिक-टिक' की भाँति शुष्क एवं नीरस आती चली जाती है, परन्तु 'मानस' की चौपाइयाँ अत्यन्त सजीव-भाषा में रची गई हैं जो समुद्र की उन लहरों की भाँति हैं जो एक ही स्थल पर देखने से नाना रूप-रंग की, कभी छोटी कभी बड़ी, कभी साधारण, कभी विकराल, प्रतीत होती हैं; और जो नाना प्रकार के घात-प्रतिघात करती रहती हैं किन्तु जिनको देखते चित्त किंचित भी नहीं थकता। सुन्दर काव्य की कसौटी यह नहीं है कि उसकी कितनी प्रतियाँ बिकीं या कितने व्यक्तियों ने उसे पढ़ा? यदि एक पाठक ने भी उस काव्य को तीस-चालीस बार पढ़ा हो और फिर भी उसका पढ़ने को चित्त चाहता हो तो हम उसे अवश्य सुन्दर-काव्य की श्रेणी में ला सकेंगे।

'रामचरित-मानस' की पद्धति पर दोहा, चौपाई में लिखे गए कई आधुनिक काव्य-ग्रन्थों में, भाषा-सौष्ठव एवं प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से राजनीति एवं देशभक्ति से ओत-प्रोत, पं० द्वारिकाप्रसादजी मिश्र का 'कृष्णायन' सर्वोपरि है।

भगवान् कृष्ण का जन्म अयोध्या में नहीं हुआ था, मथुरा (ब्रज-भूमि) में हुआ था। इसलिए ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली को छोड़ कर 'कृष्ण-चरित' का अवधी भाषा में लिखा जाना कुछ खटकता अवश्य है किन्तु कविवर का अवधी भाषा पर अच्छा अधिकार प्रतीत होता है। संस्कृत-प्रचुर तत्सम शब्दों के कारण यद्यपि 'मानस' का माधुर्य उसमें सर्वत्र नहीं मिलता, फिर भी कृष्णायन में प्रसंगानुकूल शब्द-योजना पर अधिकतर ध्यान दिया गया है।

'जय काण्ड' से, भीम-दुर्योधन गदा-युद्ध विषयक, ओजपूर्ण सुगठित भाषा के एक सुन्दर अंश को, उदाहरण के रूप में यहाँ उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते :—

उत्थित गदा गुर्वि, गिरि-सारा।
आरंभेउ समुहाय प्रहारा॥
मनहुँ द्विरद-द्वय दन्ताघाता।
चहत क्रुद्ध अन्योन्य निपाता॥
गत-प्रत्यागत, मंडल विचरण,
महा रौद्र रण लोम प्रहर्षण।
मही चरण निर्घात प्रचण्डा,
दमकत अन्तराल भुजदण्डा।
पुनि पुनि घोर गदा—संघर्षण,
भुवन-व्यापि जनु वेणु-स्फोटन।

अग्नि-कणन परिवृत सुभट, शोभित दोउ विशाल।
उड़त ज्योतिरिङ्गण मनहुँ, घेरि महा तरु शाल॥

शत शत निर्दय करत आक्रमण,
रक्त-सिक्त दोउ नख-शिख भीषण।
धावत क्षत-विक्षत अँग-अंगा,
रुधिर गन्ध जनु मत्त मतङ्गा।

शोणित-परिप्लुत गदा भँवायी,
हनति गरजि अरि छिद्रहिं पायी।
मूर्त सत्र दुर्योधन भीमा,
बल अगाध अभ्यास असीमा।
जानत गति-विधि दोउ अनन्ता,
दुराधर्ष, दुर्जेय, दुरन्ता।
प्रकटत कौशल, भुज-बल-वैभव;
सकत न करि इक-एक पराभव।
युद्धत वध-प्रण-बद्ध वृकोदर,
क्रुद्ध, रौद्र मानहुँ यम सहचर।
जानि पणीकृत रण निज प्राणा,
युद्धत कुरुपति करि छल नाना।

दोहा—बढ़ति बुझत जिमि दीप-द्युति, तिमि सतेज कुरुनाह।
लब्ध-संधि ध्वंसेउ गरजि, पाण्डु-सुवन-संनाह॥

सोरठा—कपट-कुशल समुहाय, कर-लाघव प्रकटाइ पुनि।
भीम दृगन चौंधाय, हनी घोर सहसा गदा॥

गदा-युद्ध का यह बड़ा प्रभावोत्पादक वर्णन है। जहाँ एक दूसरे को बचा कर बड़ी जल्दी से एक दूसरे पर भीम-दुर्योधन घात करते हैं, वहाँ कवि की भाषा भी चपल एवं गतिशील हो जाती है। और जब हम सोरठे के अन्त में पढ़ते हैं कि 'हनी घोर सहसा गदा' तो भाषा के एकदम मन्द पड़ जाने से गदा का आघात सहसा आँखों के सामने आ जाता है।

सुगठित भाषा फिर वैसी ही आगे भी चली चलती है, किन्तु जब हम पढ़ते हैं :—

क्रोधित भीम भैरवाकारा
कर्षेउ बाहु देह-बल सारा

तो इसमें कुछ अनौचित्य प्रतीत होता है। शब्द 'भैरवाकारा' अनुपयुक्त है। 'मानस' में जब विभीषण द्वारा कहलवाया गया कि—

नाथ ! भूधराकार सरीरा। कुम्भ करण आवत रणधीरा ॥

तो शब्द 'भूधराकार' में कुम्भकरण का यथार्थ चित्र उपस्थित करने की पूरी सामर्थ्य प्रकट होती थी जो 'परवताकार' कहने में नहीं आ सकती थी। 'भूधर' शब्द भारी-भरकम है 'परवत' कोमल है। अब 'भैरव' सृष्टि के संहार करने वाले हैं; भीमसेन यहाँ न तो सृष्टि का संहार कर रहे थे और न किसी सेना का संहार करने में लगे हुए थे। यह केवल दो व्यक्तियों का गदा-युद्ध था। केवल दो व्यक्तियों के गदा-युद्ध अथवा मल्ल-युद्ध के समय एक को 'भैरवाकार' बताना अनुचित प्रतीत होता है। फिर भैरव का आकार देकर भी कोई कार्य भैरव के अनुरूप नहीं कराया गया। भीमसेन ने सिर्फ यही तो किया कि सारी देह का बल अपनी बाहों में खींच लिया !! केवल देह का बल बाहों में खींचने के लिए, किसी को भैरव का रूप बता देना और भी अनुचित है। भैरव के संकेत मात्र पर सृष्टि का संहार हो सकता है। बाहुओं में बल खींचने की आवश्यकता ही क्या है ?

शब्द-चयन

काव्य में प्रसंगानुकूल ध्वनियों के आयोजन के अतिरिक्त शब्द-चयन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। एक भी शब्द अशुद्ध अथवा अनुचित प्रयुक्त होने के कारण अर्थ का अनर्थ हो सकता है और रस में भी व्याघात पहुँच सकता है। इसीलिए रचना में कवि को सावधानी रखनी चाहिए। सावधानी से सामान्य शब्द से सरसता बढ़ सकती है और असावधानी से विरसता आ सकती है। 'बिहारी' के—'बड़री अँखियन को निरखि आँखिनि को सुख होत' दोहे में 'बड़री' शब्द से सरसता अधिक बढ़ गई है। 'रसखान' का एक सवैया है :—

उनहीं के सनेह न सानी रहैं,
उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनैं न औ बैन त्यों,
सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं संग डोलनि में रसखानि,
सबै सुख-सिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिन ज्यों जल हीन ह्वै मीन सी,
आँखि मेरी अँसुवानी रहैं।

यहाँ 'अँसुवानी' (आँसुओं से डबडबाती हुई) शब्द ने सारी कविता में एक नई जान डालदी है, एक जादू-सा भर दिया है। सवैया अन्त में आकर अत्यन्त सरस हो गया है। जहाँ एक शब्द सारी कविता को अत्यन्त सरस बना सकता है, वहाँ दूसरा शब्द कविता को बिरस या अशिष्ट भी बना सकता है। 'कृष्णायन' के 'आरोहण काण्ड' में निम्नलिखित दोहा और चौपाई ध्यान देने योग्य हैं :—

लखि हरि शय्या पद धरेउ,
भीष्म चरण रज लीन्ह।
फूटी वाणी कण्ठ ते,
भक्त प्रभु-स्तुति कीन्ह ॥ ३६ ॥
सिरजत प्रथम विश्व तुम स्वामी।
तुमहि विधाता रूप नमामी ॥
पालत बहुरि तुमहि भव नाथा।
बन्दहु विष्णु-रूप नत माथा ॥
प्रकटि, पालि पुनि करत सँहारा।
बंदहुँ शम्भु स्वरूप तुम्हारा ॥'

यहाँ 'फूटी वाणी' ने शंका उत्पन्न करदी है। जहाँ निर्झर का अनायास 'फूट पड़ना' अच्छे भाव में कहा जाता है, वहाँ किसी

वस्तु का 'फूटना' या 'फूट जाना' अथवा 'फूटा हुआ' होना उस वस्तु के नष्ट हो जाने के भाव में कहा जाता है। कवि का आशय यह है कि भीष्म के कण्ठ से अनायास ही स्तुति का स्रोत बह निकला। कण्ठ से वाणी फूट निकली। किन्तु शब्द 'फूटी' से वह भाव न आ कर उल्टा अशिष्ट भाव हो गया है—कण्ठ की फूटी हुई वाणी से भक्त ने प्रभु की स्तुति की; अथवा फूटी बाल्टी के स्वर में भीष्म के कण्ठ से स्तोत्र चलता रहा !! 'फूटी हुई' और 'फूट पड़ी' में बहुत भेद है।

विधाता का 'सिरजत' विष्णु का 'पालत' कर्तव्य तो ठीक बताया है; किन्तु संहार करने का कार्य 'शंभु' का नहीं है। शिव के अनेकानेक नामों में 'शंभु' नाम अच्छे कार्य (शुभ कार्य) के करने में प्रयुक्त होता है, संहार कारक काम में नहीं। 'वन्दहुँ रुद्र-स्वरूप तुम्हारा' उचित होता। शङ्कर नाम भी संहार करने के भाव में प्रयुक्त नहीं होता। 'शंभु' का अर्थ 'आह्लादकारी' और 'शंकर' का अर्थ 'मंगलकारी' है। विनय पत्रिका के ये पद प्रसिद्ध हैं:—

(१)

को जाँचिए संभु तजि आन।
दीन-दयाल भक्त-आरत-हर, सब प्रकार समरथ भगवान।

(२)

दानी कहुँ शङ्कर सम नाहीं।
दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं।

रामचरित मानस में "को कृपालु शङ्कर सरिस" कहा गया है। जो आधुनिक कवि 'शङ्कर' और 'प्रलयङ्कर' की तुक मिला रहे हैं, उनका आधार गीता के दसवें अध्याय का श्लोक 'रुद्राणाँ शङ्करश्चास्मि' है। मगर गीता के इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि रुद्रों में शङ्कर ही सबसे अधिक संहारकारी हैं। इस वाक्य को

दूसरे वाक्यों से तुलना करनी चाहिए जैसे 'वृक्षों में अश्वत्थ मैं ही हूँ', वाणी में ओंकार, वेदों में सामवेद, आदित्यों में विष्णु, नक्षत्रों में चन्द्रमा, दैत्यों में प्रह्लाद, विद्याओं में अध्यात्म विद्या, वैदिक स्तोत्रों में बृहत्साम, शब्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में कुसुमाकर, गंधर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिलमुनि, घोड़ों में उच्चैःश्रवा, गजेन्द्रों में एरावत और यज्ञों में जपयज्ञ मैं ही हूँ।' इस प्रकार तुलना करने पर पता चलता है कि रुद्रों में अधिक संहार-कारी नहीं किन्तु सर्वश्रेष्ठ शंकर बताए गए हैं। रुद्रों की संख्या ग्यारह है। उनके नाम भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण और गरुड़पुराण में भिन्न-भिन्न मिलते हैं। वे जगत के आदिदेव महादेव की प्रकृति भेद मात्र हैं। कभी वे शान्तिमूर्तिधर सदाशिव तो कभी विश्वनाशकारी रुद्रमूर्ति धारण कर मनुष्यों के समक्ष प्रकट होते हैं। स्कन्दपुराण में स्वयं शिव ने कहा है कि "भक्तों के सर्वदा ध्यान में तुष्ट हो उन्हें पवित्र तथा निरामय करने के कारण मेरा नाम शङ्कर हुआ है।" "शं कल्याणं करोतीति शम् कृ-इतिअच्" इस व्युत्पत्ति से भी सबका जो मंगल करता है, वह ही शङ्कर है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० गङ्गानाथजी झा ने अपने 'कवि रहस्य' में 'केशव' की 'कविप्रिया' के "सिद्ध शिरोमणि संकर सृष्टि सँहारत साधु-समूहभरी है" को उद्धृत करके 'संकर' पद में "सृष्टि सँहारत" के साथ आने के कारण अनौचित्य बताया है और इसी लिए जब 'कृष्णायन' के 'जय काण्ड' में हम पढ़ते हैं :—

रौद्र त्रिपुर-वैरी जनु शङ्कर
फैंकी गिरि-गुरु गदा भयङ्कर

तो यही अनौचित्य कुछ खटकता है।

शब्दों के पर्याय

हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि यह शब्द अशुद्ध है, केवल यह कहना है कि यह प्रयोग बचाया जा सकता था। एक एक शब्द के अनेक पर्याय विद्यमान हैं। प्रसंग के अनुसार उनका उचित उपयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक शब्द की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होती है। भगवान कृष्ण के वासुदेव, नन्दलाल, व्रजराजदुलारे, माधौ, घनश्याम, गिरिधर, गोवर्धनधारी, हृषीकेश, पुरुषोत्तम केशव, गोविन्द, मधुसूदन, जनार्दन, यदुनाथ, योगेश्वर, अच्युत्, कन्सारि आदि अनेकानेक नाम हैं। 'सूर' के 'श्याम' और 'मीरा' के 'गिरिधर नागर' अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुके हैं। एक एक नाम में सहस्रों वर्षों के भाव निहित हैं; एक एक नाम का उच्चारण हृदय में भिन्न-भिन्न भावनाओं को उत्पन्न कर सकता है। सारे प्रसंगों में एक ही नाम प्रयुक्त करना ठीक नहीं। महाभारत युद्ध के प्रसंग में 'घनश्याम' या 'नन्दलाल' का नाम साधारणतः उपयुक्त नहीं होगा। 'नन्दलाल' या 'व्रजराजदुलारे' कहते ही भगवान् कृष्ण की बाल-रूप की मूर्ति आँखों के सामने आ जाती है जिसे अतुल कमनीय बनाने एव मंजुल वात्सल्य भावनाओं से स्निग्ध करने में 'अष्ट छाप' के भक्त कवियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। भक्त परमानन्ददास के निम्नलिखित दो पदों का उल्लेख हमारे आशय को और भी स्पष्ट कर सकेगा—

> भली यह खेलिबे की बानि
> मदन गोपाल लाल काहू को नाहिन राखत कानि।

अथवा

> जसोदा तेरे भाग्य की कही न जाय
> जो मूरति ब्रह्मादिक दुर्लभ सो प्रकटे हैं आय।
> सिव नारद सनकादिक महामुनि मिलिबे करत उपाय,
> वे नँदलाल धूरि धूसर वपु रहत गोद लिपटाय।

कृष्ण के बालरूप के ये वर्णन स्वाभाविक एवं अत्यन्त हृदय-ग्राही हैं। शृङ्गार के वर्णन में कविवर बिहारी ने भगवान् कृष्ण के नामों में 'बिहारीलाल' अथवा 'त्रिभंगीलाल' ही लिए हैं जो शृङ्गार के प्रसंग में उपयुक्त हैं। शब्द 'नन्दलाल', वास्तव में, बालक कृष्ण के गाय चराने, अथवा बच्चों के खिलवाड़ इत्यादि की क्रिया की स्मृति को ही हृदय में जगाता है। इसीलिए किसी क्रूर कर्म अथवा शूरता, वीरता अथवा कठोर या ऐसे कार्य के सम्बन्ध में जो बालक के लिए असम्भव हो शब्द 'नन्दलाल' का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता। 'कृष्णायन' के 'अवतरण-काण्ड' में जब गोवर्धन पर्वत उठाने का समय आया है तो, शत-शत कण्ठों से यह पुकार आई है कि:—

> मेघ सुभट विद्युत धनुष,
> बूँद बूँद सर बाण,
> अब विलंब नदलाल कस,
> निकसत ब्रज-जन प्राण !

यहाँ 'नन्दलाल' शब्द अनुपयुक्त जँचता है; क्योंकि ब्रज-जन भी यह जानते होंगे कि बालक नन्दलाल गोवर्धन धारण नहीं कर सकते. उन्हें गिरिधारी, बनना चाहिए !!

जो शब्द 'नन्दलाल', गोवर्धन उठाते समय. उचित प्रतीत नहीं होता; वही शब्द अथवा वैसे ही शब्द 'कान्ह' 'घनश्याम' ब्रजनाथ' आदि, प्रसंगानुकूल होने के कारण, महाभारत युद्ध के अवसर पर, बड़े सुन्दर ज्ञात होते हैं। 'कृष्णायन' के कवि की यह कल्पना सर्वथा मौलिक है कि युद्ध के समय, सूर्यग्रहण होने के कारण धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में सन्त, साधु, धर्मात्मा, महात्मा आदि दूर-दूर से आकर एकत्र हुए; द्वारका से यादव और ब्रज से नन्द, यशोदा, राधा, ललिता, विशाखा आदि के साथ ब्रजजन भी आए। इस कल्पना के द्वारा मिश्रजी ने असाधारण प्रतिभा दिखाकर बाल

गोपाल गोपीजन-वल्लभ कृष्ण और महाभारत के कर्मयोगी कृष्ण को एक सूत्र में पिरोकर एक स्थान पर दोनों का सम्मिलन ही नहीं दिखाया है; प्रत्युत यशोदा का मातृ-प्रेम और गोपियों के स्निग्ध प्रेम के मृदुल स्पर्श का सुखद अनुभव कराकर अपनी लेखनी की उस शक्ति का परिचय दिया है जो घोर युद्ध के विकट वर्णन के साथ-साथ वात्सल्य प्रेम की मंजुल भावनाओं का भी ऐसी सुन्दर भाषा में वर्णन कर सकती है, जिसे पढ़ कर हृदय आनन्द-सागर में डूब जाता है। गीताकाण्ड का यह अंश हमने कई बार पढ़ा है और बराबर बार-बार पढ़ने को जी चाहता है:—

दोहा——लखतहिं यशुदा-नँद-शकट, धाए पंकज नैन।
गहे पदाम्बुज "कान्ह" कहि, निकसे और न बैन॥

चौपाई— तजेउ नन्द रथ पुलकेउ गाता,
सकी विलोकि न श्यामहिं माता।
नामहिं सुनि विह्वल महतारी,
बुझी ज्योति दृग उमड़ेउ वारी।
हरि जस ललकि भुजन भरि लीन्हा,
परस पुरातन सुत निज चीन्हा।
थमि विरहज चिर उष्ण नयन-जल,
आनँद—अश्रु बहे हिम—शीतल।
सुरसरि-जल निदाघ जनु दाहा,
बहेउ हिमालय—सलिल प्रवाहा।
लहि दृग शक्ति विलोकेउ माता,
मूर्ति अङ्क निज प्राण—प्रदाता।
चिबुक हस्त विधु-वदन विलोकति,
सिक्त कपोल सलिल दृग मोचति।
फेरति मस्तक कर महतारी,
विह्वल श्रीहरि विश्व बिसारी।

दोहा— लखेउ मातु-सुत-सम्मिलन, जिन तेहि छण, तेहि ठौर,
ब्रह्मानन्द निमग्न ते, भए और के और।

लखी समीपहि श्याम सनेही,
राधा भक्ति धरे जनु देही।
आनन इन्दीवर अम्लाना,
प्रभु—पद—दत्त—दृष्टि सह प्राणा।
लखि सच्चिदानन्द निज सन्मुख,
हरि तन्मय, उत्कंठित, उन्मुख।
राधा माधव मिलन अनूपा,
हरि राधा, राधा हरि—रूपा।
बिनसेउ काया – माया – माना,
भेंटेउ मुक्त—जीव भगवाना।

दोहा—ललित स्वर ताही समय, प्रविशेउ श्रुति अभिराम
"भये भूप, अब तो तजहु, ठग-विद्या घनश्याम"।

गिरा ललित सुनि श्री हरि हेरे,
ठाढ़े गोप——गोपिजन घेरे।
पियत बदन-छवि अमिय विलोचन,
मानत निमि—निपात जनु वंचन।
भेंटत इष्ट देव तन पुलके,
अंग स्पर्श हर्ष दृग छलके।
विकसे हरिनयनहु अभिरामा,
सार्थक "पुरी काढ" प्रभुनामा।
ललितहि मिलत कहत सुखराशी,
"दिखहु न सखि! तुम मोहि ठगीसी"।
कहेउ विशाखा सुनि मुसकायी,
"ठगेउ हमहिं सो अन्य कन्हाई"।

दोहा— वह न चक्र-प्रिय, युद्ध प्रिय, नहिं वयस्क यदुनाथ,
वह वंशी-प्रिय, रास-प्रिय, बालकृष्ण, व्रजनाथ ॥

उपर्युक्त पद्य में भाषा-प्रवाह के साथ भाषा की स्वाभाविकता एवं सजीवता भी ध्यान देने योग्य है। सरल-हृदया माता यशोदा का चित्त युद्ध की चर्चा सुनकर अथवा राजवैभव देखकर घबड़ाता नहीं। प्रत्युत, अपने बिछुड़े हुए पुत्र "कान्ह" का नाम सुनकर एकाएक हृदय गद्गद् हो जाता है और सारा ध्यान 'बालकृष्ण' में केन्द्रित हो जाता है। पुरानी स्मृतियाँ जग उठती हैं। "नामहिं सुनि विह्वल महतारी" और "फेरति मस्तक कर महतारी" पढ़कर मातृ-स्नेह एवं वात्सल्य भाव का चरम विकास दृष्टि के सम्मुख आ जाता है। शब्द "महतारी" द्वारा ममता की साकार मूर्ति माता के कोमल हृदय के अन्तरतम कोने में सहसा उत्पन्न चित्रों की मनोरम झाँकियाँ दिखाई देने लगती हैं; और दोहे में यह पढ़कर कि इस 'मातृ-सुत सम्मिलन' को जिन्होंने देखा वह "ब्रह्मानन्द निमग्न" होकर "और के और" हो गए अनायास ही यह सिद्धान्त ही समझ में आ जाता है कि भक्तों की भक्ति का आधार-शिला माता यशोदा का चरम विकास पर पहुँचा हुआ यही वात्सल्य-भाव है। फिर, भक्ति का सशरीर रूप आत्म-विभोर राधा का चित्र भी दर्शनीय है। राधाकृष्ण के जिस प्रेम की अतिरंजना ने अनङ्ग-रंग-रंजित भावना द्वारा कृष्ण का रूप विकृत कर दिया था उसी प्रेमी कृष्ण के रूप को, अश्लीलता के पङ्क से उठाकर, 'कृष्णायन' के इस प्रसंग में, एक शुद्ध परिमार्जित रूप में उपस्थित किया गया है। "हरि-राधा हरि रूपा" और "बिनसेउ काया-माया माना, भेंटेउ जीव-मुक्त भगवाना" पढ़कर राधा की भक्ति व्यक्तिगत संकुचित परिधि से निकल कर शान्त-रस के अनन्त-सागर में परिणत होती दिखाई देती है। ललिता द्वारा ठग-विद्या घनश्याम" कहलाकर भगवान कृष्ण के बाल-जीवन की समस्त चेष्टाएँ और क्रियाएँ, माखन चुराकर खाना, दही लूटना, मीठी बातें बना बना कर

झूँठ बोलना आदि यकायक आँखों के सामने आ जाती हैं और विशाखा के मुख से यह वाक्य कहलाकर कि वह कृष्ण तो "वंशी-प्रिय रास-प्रिय बालकृष्ण व्रजनाथ" थे यह बात पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई है कि व्रजवीथिकाओं में रास-लीला की कथा केवल कृष्ण के बालपन की क्रीड़ा थी, उनके यौवन काल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में, अन्तिम दोहे में हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत, जयदेव, विद्यापति और सूर के चपल एवं चचल बालकृष्ण और प्रेमी कृष्ण और महाभारत और गीता के वयस्क, राजनीतिज्ञ, चक्रप्रिय, युद्धप्रिय, धर्मसंस्थापक, कर्मयोगी शान्तकृष्ण का सुन्दर समन्वय दिखाकर, काव्यमय काल्पनिक जगत का और ऐतिहासिक वर्णन का सफलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित करके भगवान् कृष्ण की रास-लीला सम्बन्धी प्रचलित गुंफित भावनाओं को स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। शताब्दियों से चली आई विचार धारा को इस प्रकार पलटने में और उससे बिलकुल विपरीत विचार-धारा के प्रचार करने में केवल कुशल कलाकार ही सफल हो सकता है और 'कृष्णायन' के यशस्वी कवि कुशल कलाकार हैं, इसमें संशय नहीं रहता।

उपयुक्त शब्द एवं प्रसंगानुकूल शब्द-स्थापन

उपर्युक्त पद्य में कृष्ण के अन्य नाम 'कान्ह' 'कन्हाई' 'पुण्डरी-कान्त,' 'घनश्याम' 'माधव' और 'व्रजनाथ' सार्थक एवं सोद्देश्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे प्रसंगानुकूल हैं। यहीं महाभारत युद्ध में अर्जुन के सारथी के रूप में 'कान्ह' और 'कन्हाई' का प्रयोग किया जाता तो अनौचित्य खटकता और इसीलिए कविवर रत्नाकरजी के 'वीराष्टक' के श्रीकृष्ण दूतत्व के निम्नलिखित कवित्त में शब्द 'कान्ह' अनुचित प्रतीत होता है:—

पाँचजन्य गूँजत सुनान सब कान लग्यो,
दस हूँ दिसानि चक्र चक्रित लखायो है।

कहै रतनाकर दिवारनि में, द्वारनि में,
काल सौ कराल कान्ह रूप दरसायौ है ।।
मंत्र षडयंत्र के स्वतंत्र ह्वै पराने दूरि,
कौरव सभा में कोऊ होंठ ना हलायो है ।
संक सौं सिमिटि चित्र अंक से भए हैं सबै,
संक अरि उर पै अतंक इमि छायो है ।।

जो शब्द 'कान्ह' 'उद्धव शतक' एवं 'शृङ्गार लहरी' में चित्ताकर्षक एवं प्यारा प्रतीत होता है, वही शब्द 'कान्ह', प्रसङ्ग के प्रतिकूल होने के कारण, कौरव सभा में वीर-रस के विषय के वर्णन में रस में व्याघात पहुँचाता है। शब्द "कान्ह" नन्द-यशोदा के बालकृष्ण अथवा गोपियों के स्नेह-पात्र, ब्रजभूमि की रासलीला के कृष्ण की याद दिलाता है। पांडवों के राजदूत बनकर कौरव सभा में संधि अथवा युद्ध की ललकार देने वाले राजनीतिज्ञ कृष्ण का उससे कोई संपर्क नहीं है। 'कान्ह' शब्द पढ़ते ही 'उद्धवशतक' की निम्नलिखित स्नेह-सिक्त मनोरम पंक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं:—

रहते अदेख नाहिं वेष वह देखत हूँ,
देखत हमारी जान मोर पंखियानितैं।
ऊधो ब्रह्म—ज्ञान को बखान करते ना नैंकु,
देख लेते कान्ह जो हमारी अंखियानि तैं ।।

गोपियों का प्रेम, वियोग, दुःख से उत्पन्न, भक्ति की एक अविरल धारा है। तभी 'उद्धवशतक' की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

थंडे लौ टिटेहरी के जै है जू विवेक बहि,
फेरि लहिबे की ताके तनक न राह है।
यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियौ,
ऊधो यह गोपिनि के प्रेम को प्रवाह है ।।

यहाँ गोपियों के अबाध गति से बहते हुए प्रेम के स्रोत की तुलना उस समुद्र से की गई है जिसको अगस्त्य मुनि ने सोख लिया था। आखिर वह सिन्धु कैसा जिसे एक मनुष्य ने सुखा दिया? यहाँ समुद्र के पूर्व (पौराणिक) इतिहास से सहायता ली गई है और सिन्धु की शक्तिहीनता दिखाई गई है। किन्तु सिन्धु के इतिहास के साथ साथ यदि अगस्त्य मुनि के जन्म के इतिहास से सहायता ली जाती तो यही शक्ति-हीनता और भी अधिक दिखाई देती। गोस्वामीजी ने ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाने दिया—यथा:—

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।
सोखेउ सुजस सकल संसारा॥

अगस्त्य मुनि का जन्म घड़ा (कुम्भ) से हुआ था और 'अगस्त्य' का पर्याय 'घटज' अथवा 'कुंभज' भी है। अगस्त्य मुनि ने अपार सिन्धु को सोख लिया, यह एक आश्चर्यमयी घटना अवश्य थी किन्तु जब हम सुनते हैं कि एक घड़े में जन्म लेने वाले ने समुद्र सोख लिया था तो यही आश्चर्य और भी सौ गुना बढ़ जाता है। गागर में पैदा होने वाले ने सागर सुखा दिया !! 'गागर में सागर' के विरोधाभास की तीव्रता अधिक बढ़ कर जो भाव कवि व्यक्त करना चाहता है तुरन्त हृदयङ्गम हो जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति पर ही ध्यान देना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत् प्रसंगानुकूल उपयुक्त पर्याय खोजने के लिए पौराणिक इतिहास जानना भी आवश्यक हो जाता है। किसी वियोग दुःख से पीड़ित नायिका के लिए चन्द्रमा की चाँदनी दुःखदायी होती है, यह एक साधारण भाव है; किन्तु इस भाव को पाठक के हृदय में पहुँचाने के लिए, चन्द्रमा के जन्म का इतिहास बताकर और भी रोचक ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिए जब 'पद्माकर' चन्द्रमा से कहते हैं कि "तुम सिन्धु के सपूत हो, सिन्धु तनया (लक्ष्मी) के बन्धु हो गिरीश के शीश पर विराजमान हो, फिर भी अपनी चाँदनी से

एक वियोगिनी के शरीर को जलाये देते हो, क्या तुम्हें लज्जा का बोध नहीं होता ?" तो कवित्त के अन्तिम चरण—

ऐरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज ह्वै कै
द्विजराज काज करत कसाई के !!

अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो जाता है और चन्द्रमा का पर्याय "द्विजराज" कवि के भाव को और भी तीव्र कर देता है।

मत्स्य पुराण के अनुसार चन्द्र के उदय होने पर समुद्र उदित अर्थात् स्फीत और चन्द्र के अस्त होने पर समुद्र क्षीण होता है। जलराशि का इस प्रकार 'समुद्रेक' होने के कारण सिन्धु का नाम 'समुद्र' पड़ा। समुद्र और चन्द्रमा का यह सम्बन्ध संसार की सारी भाषाओं में किसी न किसी रूप में वर्णित हुआ है। समुद्र-मंथन से जहाँ अमृत, लक्ष्मी, और चन्द्रमा निकले वहाँ बहुत से रत्न भी निकले थे। इसीलिए समुद्र को 'रत्नाकर' कहते हैं। चन्द्रमा को भी 'सुधाकर', 'सुधाधार', सुधांशु, 'सुधावास', 'सुधासूति' कहा जाता है। किन्तु किस समय चन्द्रमा को 'निशानाथ' कहा जायगा और किस समय 'सुधाकर' कहा जायगा यह प्रसंग के ऊपर निर्भर रहेगा। इसी प्रकार किस समय समुद्र को 'जलधि', 'उदधि' 'पायोधि', 'अम्बुधि', 'सागर' कहा जायगा; किस समय 'जलनिधि', पयोनिधि' कहा जायगा और किस समय 'रत्नाकर' कहा जायगा यह भी प्रसंग के ऊपर निर्भर होगा। खारे पानी के समुद्र को 'लवण सागर' कहना उपयुक्त होगा किन्तु 'लवण पयोनिधि' अथवा 'लवण रत्नाकर' कहने में अनौचित्य खटकेगा। इसी तरह संसार रूपी दुःख से भरे हुए सागर को 'भववारिधि' कहना तो ठीक रहेगा, मगर 'भव-रतनाकर' कोई नहीं कहेगा। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में प्रेम का स्थान बहुत ऊँचा है। काव्य में इसका अक्षय भण्डार है। प्रणय में अनेक कोमल भावनाओं का संचार होता है अतः 'प्रेम-सागर' के स्थान में 'प्रेम-पयोनिधि'

अथवा 'प्रेम-रत्नाकर' अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा। इसीलिए "प्रेम पयोनिधि में फँसि कैं हँसि कै कढ़िबो हँसी खेल नहीं है" में 'प्रेम पयोनिधि' सोद्देश्य है। 'उद्धवशतक' में:—

प्रेम-रतनाकर-गँभीर परे मीननि कौं
इहि भव-गोपद की भीति भरिबौ कहा

में 'प्रेम-रत्नाकर' उचित एवं सार्थक है। इसी प्रकार—

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम-रतनाकर हियैं यौं उमगत है।

में शब्द 'रतनाकर' और 'सुधाकर' दोनों सार्थक ही नहीं है, प्रत्युत चन्द्र के उदित होने पर समुद्र के स्फीत होने के तथ्य का आधार लेने के कारण कवित्त का लालित्य इन दोनों शब्दों के कारण अधिक बढ़ गया है। कभी-कभी एक शब्द के स्थान में दूसरा शब्द रख देने से भाषा में लालित्य अत्यधिक बढ़ जाता है—इसका एक अन्य उदाहरण वंगीय कविवर नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशिर युद्ध' नामक काव्य के हिन्दी पद्यानुवाद से देना अनुचित न होगा। नवीन बाबू की सायंकाल-वर्णन विषयक उत्कृष्ट पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शोभि छे एकटि रवि पश्चिम गगने
भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने इसका अनुवाद पहिले इस प्रकार किया—

शोभित है रवि रम्य एक पश्चिमी गगन में
झलक रहे रवि अयुत जाह्नवी के जीवन में

इसमें संशय नहीं कि यह मूल का शुद्ध और सही अनुवाद

था—किन्तु बाद में कुछ दूसरे शब्द लाकर अनुवाद इस प्रकार कर दिया:—

शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अञ्चल में
सो सौ दिनमणि-झलक रहे हैं गंगाजल में

'रवि' के स्थान में 'दिनमणि' अत्यन्त चित्ताकर्षक शब्द है। संध्याकाल का सूर्य वास्तव में 'प्रतीची के अंचल' में 'दिनमणि' सदृश ही प्रतीत होता है और गंगा के चंचल जल में उसकी छाया पड़ते ही सौ-सौ दिनमणि जल में झलकते दिखाई पड़ते हैं। शब्दों के थोड़े से हेर-फेर के कारण यहाँ पद्यानुवाद, मूल की तुलना में, कहीं अधिक ललित एवं चित्ताकर्षक हो गया है। मूल से अनुवाद, भाव में भी, कहीं ऊँचा बढ़ गया है। 'प्रियप्रवास' का प्रारंभ ही वृक्ष की चोटी पर पड़तीः संध्याकालीन सूर्य की प्रभा के वर्णन से होता है; यथा:—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा

कमल और कमलिनी दोनों सूर्य के प्रकाश में ही खिलते हैं। सूर्योदय क्रिया-शक्ति का द्योतक है और सूर्यास्त शक्ति की क्षीणता के प्रारम्भ का प्रतीक है। ढलते सूर्य की कोमल किरणों का भाव पाठक के हृदय में पहुँचाने के लिए यहाँ स्त्रीलिंग 'कमलिनी' प्रयुक्त करके सूर्य के लिए "कमलिनी-कुल-वल्लभ" लिख कर भाषा अधिक मनोरम बनादी गई है।

स्त्रीलिंग 'कमलिनी' के साथ शब्द 'वल्लभ' भी सोद्देश्य है। सूर्य भगवान् और कमलिनी के अलौकिक प्रेम-व्यापार का वर्णन संस्कृत काव्य में बहुत आया है। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के मुख से

कहलाया है कि "हे मेघ! उज्जैन से प्रातःकाल शीघ्र ही प्रस्थान करके चल देना। भगवान सूर्य का मार्ग मत रोकना नहीं तो वे तुझ पर कुपित होंगे। क्योंकि वे रात्रि अन्य स्थल में बिताकर अपनी रूठी हुई प्रिया पद्मिनी को मनाने की जल्दी में होंगे और उसे मनाते हुए, अपने किरण रूपी हाथों से उसके आँसू (ओस-कण) पोंछेंगे।" यहाँ आँसू पोंछने का व्यापार इसलिए दिखाया गया है क्योंकि अश्रु कण हटते ही पद्मिनी खिलने लगती है। प्रेमी के मनाने के अनन्तर प्रिया का मुसकराना (खिलना) स्वाभाविक है। किन्तु यह सूक्ष्म-निरीक्षण समझ न सकने के कारण आधुनिक कविता में कविगण सूर्य की किरणों द्वारा साधारण फूलों के ही अश्रु कण (ओसकण) पोंछे जाने का वर्णन करने लगे हैं जिसमें कोई चमत्कार नहीं आ पाता (पुस्तक का पृष्ठ १४ देखिए)। यदि फूलों के स्थान में 'कलियों' के आँसू पोंछे जायँ तो भी कुछ गनीमत हो। उपर्युक्त शब्दों द्वारा ही कवि पाठकों का ध्यान अपनी रचना के प्रति आकर्षित कर सकता है और सोद्देश्य एवं समीचीन शब्दों द्वारा ही कवि की अभिव्यक्ति भी अधिक प्रभावोत्पादक हो सकती है।

प्रसङ्गानुकूल शब्द-स्थापन के सम्बन्ध में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'गीतिका' के प्रथम गीत पर भी एक दृष्टि डालनी उचित होगी। इसमें देवी सरस्वती से भारतवर्ष में नवीन क्रान्ति लाने के लिए प्रार्थना की गई है—

"वर दे, वीणावादिनि वर दे
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव
भारत में भर दे!
काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव;
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे !"

यहाँ 'सरस्वती' के पर्यायवाची शब्दों में 'ब्राह्मी', 'भारती', 'गीर्', 'वाग्', 'वाणी', 'ईश्वरी', 'वाग्देवी', 'वागेश्वरी', 'गिरादेवी', 'वर्णमातृका' आदि शब्दों को छोड़ करके "वीणावादिनि" शब्द प्रयुक्त किया गया है। सरस्वती 'वीणाधारिणी' है और सङ्गीत के समय भी सरस्वती की पूजा की जाती है। नवीन लय, नवीन ताल, नवीन गीत, नवीन कण्ठ और नवीन स्वर प्रदान करने के लिए "वीणावादिनि" की प्रार्थना समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु "अन्ध-उर के बन्धन-स्तर" काटने की शक्ति वीणा बजानेवाली देवी में नहीं होगी और न कलुष-भेद-तम को हर कर, ज्योतिर्मय निर्झर बहा कर, जग को जग-मग कर देने की शक्ति 'वीणावादिनि' में हो सकती है! 'वीणावादिनि, शब्द से शुक्लवर्णा, श्रुति और शास्त्रों में श्रेष्ठा, पंडितों की जननी, शुद्धसत्त्वस्वरूपा, वागधिष्ठात्री देवी सरस्वती के समस्त गुणों का आभास नहीं मिल पाता; अतएव यदि अन्धकार को हटाकर ज्योतिर्मय निर्झर बहाने की भावना को हृदय में बिठाना अभीष्ट था तो 'वीणावादिनि' के स्थान में कुन्द के फूल, चन्द्रमा और तुषार के समान श्वेत, शुक्लांबरधारिणी, वीणापुस्तकधारिणी, "जाड्यान्धकारापहाम" बुद्धि प्रदान करने वाली, देवी 'शारदा' का नाम ही लेना उचित होता। 'शारदा' का नाम सुनते ही हृदय में दिव्य रूपा, चारुहासिनी, श्वेतसरोजवासिनी उस शक्ति का एकाएक आभास होने लगता है जो बुद्धि, विद्या और ज्ञान के द्वारा संसार के अन्धकार को हटाया करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द 'वीणावादिनि' जहाँ नवगति, नवलय, ताल छन्द-नव के लिए सार्थक एवं सोद्देश्य है वहाँ जग को जगमग करने के लिए निरर्थक प्रतीत होता है। शब्द पढ़ कर उसके अनन्तर ही

आने वाले भाव का वह सूचक नहीं है। 'वीणा' में किसी ऐसी श्वेत वस्तु का भी अभाव है जो घने अन्धकार में प्रकाश कर सकती हो।

भगवान् कृष्ण का श्याम रङ्ग होने पर भी, उनके चरणों के प्रताप से जगत का अन्धकार हटने का वैभव जब-जब सूरदास ने गाया है तब-तब उनके चरण-नख-चन्द्र की छटा की ही दुहाई दी है। यथा—

"भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग मांझि अंधेरो।"

इसी प्रकार श्रीकृष्णदास के पद का यह चरण प्रसिद्ध है—

"हृदय कृष्णदास गिरवरधरणलाल की,
चरण नख चन्द्रिका हरति तिमिरावली।"

करोड़ों चन्द्रों की शोभा से युक्त शारदा को यदि 'वीणावादिनि' में परिवर्तित कर दिया जाय तो जग को जगमग करने के लिए 'नखचन्द्र' की शोभा का वर्णन करना अनुपयुक्त न होता। क्योंकि केवल 'वीणावादिनि' शब्द से आगे आने वाले भाव अथवा भावना का उससे कोई सम्पर्क नहीं है। उस भाव का यह किंचित् मात्र भी द्योतक नहीं है। अवश्य इस गीत के प्रथम और अन्तिम भाग में एक सुन्दर सामञ्जस्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्त में गीत प्रभावशील भी हो गया है। आकाश में बहुत ऊपर उड़ते हुए स्वच्छन्द पक्षिओं के गान से ही प्रेरित होकर मानवीय संगीत का प्रादुर्भाव होना माना जाता है। और इसीलिए "नव नभ के नव विहग वृन्द" को 'नव पर' एवं 'नव-स्वर' की माँग भावना को तीव्रतर करने में सहायक होती है।

शब्द की अभिधा और व्यंजना शक्तियों में वृद्धि करके किस प्रकार कवि अपने उपस्थापित अर्थ को अधिक चमत्कार पूर्ण-एवं

अधिक रमणीय बना सकता है, इसके कुछ उदाहरण हमने ऊपर बतलाए हैं। अनेकानेक अन्य उदाहरण और भी दिए जा सकते हैं। वास्तव में, शब्दों में, असंख्य परम्परागत एवं व्यक्तिगत संसर्ग और सम्पर्कों के भण्डार निहित हैं। कवि शब्द-तूलिका द्वारा ही अपने मन के भावों को पाठक के हृदय में ठीक-ठीक अंकित किया करता है। कभी-कभी एक शब्द को पढ़ते ही नए-नए भावों की स्मृति जाग उठती है और उसको सुनने पर उसकी प्रतिध्वनि बड़ी देर तक कानों में गूँजती रहती है। वीणा के एक तार को छूने पर जैसे कभी-कभी संपूर्ण वाद्य झनझना उठता है, उसी प्रकार छन्द या रचना का एक ही शब्द सारे हृदय में स्पन्दन कर देता है। कुशल-कलाकार का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना अनिवार्य है और सजीव कविता के लिए शब्द-स्थापन एवं शब्द-चयन के सतत अभ्यास की भी आवश्यकता है। ऐसा अभ्यास होने पर कुशल कलाकार के हाथों में शब्द गिरगिट की तरह रंग भी बदला करते हैं और योग्य कवि उन्हीं शब्दों को नए-नए प्रसंगों में लाकर उनमें नवीन स्फूर्ति एवं नवीन चैतन्य प्रदान करके नए प्रकार से जीवन-संचार किया करते हैं।

छन्द का अन्तिम चरण

किसी भी रचना में प्रत्येक छन्द अथवा छन्द का प्रत्येक चरण महत्वपूर्ण है। रचना से उसके मध्य में आया हुआ कोई छन्द पृथक् प्रतीत नहीं होना चाहिये। ऐसा मालूम होना चाहिये कि छन्द का उस रचना में, उचित रूप से समावेश हुआ है। कविता को जब सहृदय पाठक पढ़ता है तो उसे आदि और अन्त पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। जो कविता आदि और अन्त में विरस है; अथवा, आदि में मध्यम, अन्त में विरस; आदि में सरस अन्त में विरस होती है उसको दुबारा पढ़ने की इच्छा नहीं होती। वह चित्ताकर्षक नहीं हो सकती। ऐसी कविता हमारे साहित्य-शास्त्र

में सर्वथा त्याज्य मानी गई है। हमारे यहाँ केवल वही रचना सुन्दर मानी गई है जो भले ही आदि में विरस हो अथवा मध्यम हो किन्तु अन्त में सरस हो। यदि आदि और अन्त दोनों में सरस हो तो कहना ही क्या है। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कविता का मूल्याङ्कन अधिकतर उसके अन्तिम भाग पर निर्भर रहता है। अवश्य, सम्पूर्ण कविता में सामंजस्य प्रतीत होना चाहिए।

जो बात सम्पूर्ण कविता के लिए आवश्यक है वही बात प्रत्येक छन्द के लिए भी आवश्यक है। जो छन्द केवल सिलसिला मिलाने के लिए. प्रबन्ध-निर्वाह के लिए, लिखे जाते हैं, उनकी बात दूसरी है। किन्तु जिन छन्दों में कवि अपने विचार व्यक्त करता है अथवा जहाँ कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है उन छन्दों में, चाहे वे तुकान्त हों अथवा अतुकान्त, अंतिम चरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सारे छन्द में भाषा-प्रवाह अबाध होना चाहिए किन्तु पूर्व चरणा की अपेक्षा अन्तिम चरण की भाषा अधिक सुगठित होनी चाहिए। कम से कम इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अन्तिम चरण की भाषा पूर्व चरणों की अपेक्षा दुर्बल तो नहीं हो गई। जहाँ प्रथम चरण में भाषा सशक्त होती है और अन्तिम चरण में निर्बल होती है वहाँ सारा छन्द पढ़कर पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ऊँचे चढ़ने का विचार करके चढ़ाई शुरू की किन्तु एक गड्ढे में सहसा आ गिरे। जहाँ अन्तिम चरण सशक्त भाषा में होता है और जहाँ प्रमुख वाक्य भी उसमें दिया जाता है वहाँ सारा छन्द पढ़ लेने के अनन्तर बड़ी देर तक छन्द का भाव हृदय सागर में लहरें लेता रहता है।

यह कहना ठीक नहीं है कि रीति काली में छन्द के अन्तिम चरण पर ध्यान देना उचित था किन्तु इस स्वच्छन्द युग में इसका महत्व जाता रहा है। इस युग में कवि का उद्देश्य कुछ बदल तो नहीं गया। इस युग में, अपनी रचना लिख कर कवि सन्दूक

या आल्मारी में तो बन्द नहीं कर देता। उसकी इच्छा यही रहती है कि उसके भाव पाठक के हृदय में भी पहुँच जायँ। अतएव कवि के संवेद्य को सफल बनाने के लिए छन्द के अन्तिम चरण का महत्व आज भी पूर्ववत् ही बना हुआ है। प्रधान वाक्य अन्त में ही देने की परिपाटी हमारे पुराने साहित्य में पाई जाती है जो उचित प्रतीत होती है। 'देव' कवि के अनेकानेक सुन्दर छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं। एक कवित्त में विरह-निवेदन में सखी मर्मस्पर्शी शब्दों में वह दशा बताती है जो अधिक रोदन से वियोगिनी की आँखों की हो गई है। प्रथम तीन चरणों में बाघंबर, गूदड़ी, गेरुआ वस्त्र, जल, धूम्र, अग्नि, स्फटिकमाला, और सेल्ही का वर्णन है किन्तु अन्तिम चरण तक यह पता नहीं चलता कि कवि आखिर कहना क्या चाहता है। अन्त में जब कवि कहता है:—

दीजिए दरस देव, कीजिए संजोगिनि ये,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं, वियोगिनि की आँखियाँ

तब पता चलता है कि वियोगिनी की आँखों को (स्वयं वियोगिनि को नहीं) योगिनी के रूप में दिखाया गया है। कवि की उत्कृष्ट कल्पना का तभी आनन्द मिल पाता है। यदि प्रारम्भ में ही यह बतला दिया जाता तो उतना आनन्द नहीं आ पाता। 'रसिक बिहारी' का एक कवित्त यहाँ उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है:—

आपुहि तें सूरी चढ़ि जैबो है सहज घनो
सोऊ अति सहज सती को तन दाहिबो
सीस पै सुमेरु धरि धायबो सहज अरु
सहज लगे है बहु सातो सिन्धु थाहिबो
सहज बड़ो है प्रीति करिबो बिचारो जीय
सहज दिखात चित्त दो दिन को चाहिबो
'रसिक बिहारी' यही सहज नहीं है मीत
एक सो सदा ही साँचे नेह को निबाहिबो

एक से सदा सच्चे स्नेह का निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रमुख भाव ने कवित्त में जान डाल दी है। पूर्व तीन चरणों में तो साधारण भाव हैं।

वास्तव में, जिस छन्द अथवा कवित्त में, यह जानने की उत्कंठा कि अन्तिम चरण में क्या है पाठक को नहीं हो पाती, अथवा यह उत्कण्ठा निरन्तर तीव्र होती नहीं चली जाती और अन्तिम चरण प्रभावशील नहीं हो जाता वहाँ कवित्त या छन्द पढ़ने में कोई आनन्द नहीं आता। इस सम्बन्ध में, 'साकेत' के एकादश सर्ग से, अयोध्या में हनुमानजी का आकाश में लङ्का की ओर उड़ने का वर्णन करने वाले कवित्त पर एक दृष्टि डालनी उचित होगी।

"खींचकर श्वास श्वास पास से प्रयास बिना,
सीधा उठा शूर हुआ तिरछा गगन में।
अग्निशिखा ऊँची भी नहीं है निराधार कहीं,
वैसा सार-वेग कब पाया सांध्य-घन में॥
भूपर से ऊपर गया यों बानरेन्द्र मानों,
एक नया भद्र भौम जाता था लगन में।
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर
दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन में!"

इस कवित्त में जो प्रभाव प्रथम चरण में है वह प्रभाव धीरे-धीरे कम होता चला गया है और अन्तिम चरण की भाषा एकदम प्रभाव-हीन हो गई है। कवित्त पढ़ने को जी नहीं चाहता; श्वास खींच कर जिस तेजी से हनुमानजी ऊपर आकाश में चढ़े बताए गए हैं वह तेजी धीरे-धीरे कम होकर "दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन में" सहसा समाप्त हो गई! वास्तव में, इस कवित्त के अन्तिम चरण के स्थान में प्रधान वाक्य प्रारम्भ में ही दे दिया गया है—

'दिनकर' के कुरुक्षेत्र' के पंचम सर्ग में एक छन्द है—

"दुनिया तज देती न क्यों उन को
लड़ने लगते जब दो अभिमानी ?
मिटने दे उन्हें जग आपस में
जिन लोगों ने है मिटने की ही ठानी;
कुछ सोचे-विचारे बिना रण में
निज रक्त बहा सकता नर दानी;
पर, हाय, तटस्थ हो डाल नहीं
सकता वह युद्ध की आग में पानी।"

प्रथम चरण में जो बात कही गई है उसमें तथ्य है। दो चरणों को पढ़ने पर पाठक की उत्कण्ठा अधिक जानकारी के लिए तीव्र हो उठती है; आशा यह होती है कि कवि कोई नवीन मौलिक बात अन्तिम चरण में बतायेगा परन्तु अंतिम दो चरणों में मौलिकता तो क्या गम्भीर चिन्तन का भी अभाव देखकर अत्यन्त निराशा होती है। कवि का भाव सही है कि दो अभिमानी ही लड़ते हैं, उनके मिट जाने में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु यह कहना सही नहीं है कि दानी नर बिना सोचे विचारे रक्त बहा देता है। वास्तव में, युद्ध का प्रारम्भ बहुत सोच विचार कर ही किया जाता है। युद्ध का बीज आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न साम्राज्यवाद एवं स्वार्थी एवं लोलुप सत्ताओं के पारस्परिक वैमनस्य में ही निहित है। जब स्वार्थी दलों के दाव पेंच अधिक नहीं चल सकते और जब किसी भी प्रकार समझौता नहीं हो सकता—जब सभी उपाय व्यर्थ हो जाते हैं तभी युद्ध आरम्भ होता है। यह युद्ध दो शक्तिशाली दलों में होता है। शक्तिहीन तो युद्ध छेड़ ही क्या सकता है? फिर शक्ति हीन तटस्थ होकर भी समझौता नहीं करा सकता क्योंकि शक्तिशाली पर शक्तिहीन का प्रभाव ही क्या हो सकता है? 'दानी' शब्द यहाँ निरर्थक ही नहीं अर्थ में व्याघात भी पहुँचाता है। और जहाँ यह पहिले इच्छा प्रकट कर दी गई हो कि 'जो लोग मर मिटना चाहते हैं उन्हें मर मिटने दो' तो इस बात पर अन्तिम चरण

में खेद प्रकट करना छन्द के वातावरण के प्रतिकूल भी हो जाता है कि 'दानीनर' युद्ध की आग में पानी नहीं डाल सकता। वास्तव में दोनों अन्तिम चरणों में भाषा भाव शून्य एवं प्रभावहीन हो गई है।

'कुरुक्षेत्र' के तृतीय सर्ग में एक कवित्त इस प्रकार है:—

"जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़कीं हीं नहीं,
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का।
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा,
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का॥
जिनके हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका।
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किए वे ही आत्म बल का।"

प्रथम चरण में जिस ओजस्वी भाषा से कवित्त प्रारम्भ होता है वह भाषा अन्त में आकर बिलकुल प्रभावहीन हो जाती है। द्वितीय चरण की भाषा तो अत्यन्त शिथिल भी है। हलाहल तो भगवान शिव के अतिरिक्त किसी ने पिया नहीं; किन्तु शिव का पदोदक इतना निकृष्ट एवं क्लीव बनाने वाला नहीं है जितना कवि ने समझा है। इसके लिए भी बड़े संयम नियम, योगाभ्यास की आवश्यकता होती है अतएव सुलभ मार्ग का तो यह प्रतीक नहीं है और 'अहंकार' शायद तरल पदार्थ होता होगा जो छलकता रहता होगा!

सप्तमसर्ग में आए हुए एक कवित्त पर भी दृष्टि डालनी अनुचित न होगी—

"रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक व्याघ्र नीति से मही को मुक्त कर दो।
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल काल-कूट-विष भर दो॥
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो।

रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृत्त
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।'

इस कवित्त में कवि का भाव अवश्य यह है कि शक्तिहीन को शक्ति दी जानी चाहिए अथवा शक्तिशाली की शक्ति का अपहरण होना चाहिए किन्तु भाषा में यह भाव समुचित रूप से व्यक्त नहीं हो पाया और अन्तिम चरण में भाषा ही लचर हो गई है। प्रकृति में जो वैषम्य पाया जाता है उसको हटाने की सामर्थ मनुष्य में तो नहीं है। छागलों को व्याघ्र बना देना मनुष्य की सामर्थ के बाहर है। किन्तु प्रयत्न द्वारा, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पारस्परिक प्रेम और अहिंसा सिद्धान्त के प्रचार द्वारा मनुष्य मानव-जगत को सुखी बना कर आर्थिक वैषम्य और साम्राज्यवाद का अन्त कर सकता है। इसीलिए प्रकृति में पाए जाने वाले वैषम्य और आर्थिक वैषम्य के महान् अन्तर पर ध्यान रखना आवश्यक है। आर्थिक वैषम्य का आधार प्रकृति में पाए जाने वाला वैषम्य कभी नहीं हो सकता और न आर्थिक वैषम्य को हटाने के समय प्रकृति के अन्तर्गत वैषम्य हटाने की बात ही करना समीचीन है। फिर, व्याघ्र के दाँतों से अधिक शक्ति उसके पंजों में होती है। व्याघ्र के दाँत लगा देने से छागलों में व्याघ्र की शक्ति तो नहीं आ जायगी। 'छागलों के दाँत विष-दन्त कर दिए जावें" यह एक बात है; 'छागलों के दाँतों में विष भर दिया जाय' यह दूसरी बात है। एक दूसरे में बड़ा अन्तर है। कवि ने इस भेद को ध्यान में न रखकर दाँतों में विष भर देने की ही बात कही है। बकरी के बच्चों के दाँतों में जहर भर देने से वह कितने दिन जीवित रह सकेंगे? क्या उनकी मृत्यु नहीं हो जायगी? कवि ने 'विष-दन्त' को संभवतः शक्ति का प्रतीक मान लिया है। किन्तु यह उचित नहीं है। 'विष-दन्त' क्रूरता एवं कुटिल नीति का ही प्रतीक हो सकता है, शक्ति का नहीं। इसीलिए जब भीष्म के मुख द्वारा कहलाया जाता है कि—

क्षमा शोभती उस भुजङ्ग को, जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो

तब भी 'गरल' शक्ति का प्रतीक मान लेने के कारण छन्द में असावधानी दृष्टिगोचर होती है। क्षमा शक्तिशाली का भूषण है; 'भुजङ्ग' का नहीं। भुजङ्ग शब्द से ही क्षमा के अभाव का आभास होता है। जो विष-रहित, विनीत, और सरल हो और जिसके हृदय में क्षमा भी हो उसे कौन 'भुजङ्ग' कहेगा? 'भुजङ्गता' और सरलता एक दूसरे के विरोधी हैं। वास्तव में, कवि ने 'शक्ति' और 'विषैलेपन' के भेद को दृष्टि में नहीं रखा।

शब्द 'विशाल' अच्छे भाव में (महानता के भाव में) प्रयुक्त किया जाता है। वट की 'विशालता' से बड़ के नीचे की सुखद घनी छाया का भाव हृदय में अङ्कित होता है; उस विशाल वट वृक्ष के नीचे कोई वृक्ष उगा नहीं करता। यह लिखना कि उसके नीचे अनेक वृक्ष ठिठुर रहे हैं निरीक्षण की कमी बताता है। वट की विशालता न तो व्याघ्र का विष-दन्त हो सकती है और न पूँजीवाद अथवा साम्राज्यवाद का जंजाल हो सकती है जिसके लिए शिराएँ तोड़ने अथवा डालियाँ कतरने की आवश्यकता प्रतीत होती हो। फिर जब तक किसी भीमकाय वृक्ष की जड़ों पर ही आघात नहीं किया जाय तब तक वह पृथ्वी का रस सोखना कैसे बन्द करेगा? क्या डालियाँ कतरने या शिराएँ तोड़ने से काम चल जायगा? अन्तिम चरण में आते-आते भाषा अत्यन्त शिथिल हो चुकी है और भाव-शून्य भी हो गई है।

भीष्म के मुँह से कहलवाए गए निम्नलिखित शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है, हमारी समझ में नहीं आ पाया—

"धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड-वेग वायु को बुलाता है?
फूटेगा कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?

फूँक से जलाएगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है ?
विद्युत खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है ?"

अग्नि का कर्त्तव्य जलना अवश्य है किन्तु "तुरन्त धधक उठना" तो नहीं है। सारे ज्वालामुखियों के कराल कण्ठ के फूटने का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है—बहुत से बरसों क्या सौ-सौ वर्षों तक सोते अथवा शान्त पड़े रहते हैं। जगती को व्याल अवश्य जला ही डालेगा अथवा आकाश से बिजली अवश्य ही गिरेगी—ऐसा भी कहीं निश्चित तो नहीं है, फिर भी ऐसा निश्चित समझ कर कवि ने जो प्रश्न किए हैं वे असम्बन्धित एवं निरर्थक ही प्रतीत होते हैं।

जो भाव बड़े कवित्तों में नहीं आ पाया वही भाव छोटे छन्दों में 'अशोक' में यत्रतत्र पढ़ने को मिल जाता है:—

आक्रमण एक कर सके
एक को रक्षा का अधिकार नहीं
जब तक है यह अन्याय
चैन पा सकता है संसार नहीं

जब तक चलता अन्याय, चले
इठलाए हिंसा की वामी
आक्रमण-दन्त को तोड़ेंगे
मानवता के जीवन-कामी

कब तक ठग सकते व्याघ्र सीख
कर प्रेमी हरिणों की भाषा ?
आलोक सत्य का जागेगा
लेकर मानवता की आशा।

अन्तिम पंक्ति में मानों सब कुछ कह दिया गया। मानवता की आशा लेकर सत्य अवश्य ही संसार में उजाला कर सकेगा। यही 'कुरुक्षेत्र' के कवि का भी भाव है।

व्यक्ति के अनुरूप विचार

महाकाव्य अथवा खण्ड काव्य में पात्रों के अनुरूप भाषा ही आवश्यक नहीं है, पात्रों के अनुरूप विचार भी आवश्यक हैं। जहाँ एक शूरवीर के मुख से ऐसे विचार प्रकट किये जाते हैं जिनसे गिड़गिड़ाने, रोने और सिसक-सिसक कर अपने को किसी प्रकार बचाने का भाव व्यक्त करने का आभास होता है वहाँ भाव तो प्रभावित ही क्या कर सकेंगे, भाषा भी बिगड़ जायगी। सती साध्वी स्त्री के चित्त में कभी ये विचार नहीं आ सकते कि नयन-बाण अथवा भौंह कमान के द्वारा वह संसार जीत सकती है। ग्राम में रही हुई माता यशोदा के चित्त में कृष्ण के प्रस्थान के समय जो विचार रहे होंगे, ठीक वही विचार अयोध्या सी विशाल राजधानी के राजप्रासाद में बैठी हुई, राजमाता कौशिल्या के, राम वनवास के समय, नहीं रहे होंगे। पुत्र-प्रेम तो दोनों में उमड़ा होगा किन्तु कौशिल्या के समय में अधिक गाम्भीर्य रहा होगा। घर से निकाले जाते समय गाँव की एक अल्हड़ स्त्री के जो विचार हो सकते हैं वही विचार वनवास के समय सीताजी के दिखलाना अनुचित होगा। कवि को परिस्थितियों के अनुसार व्यक्तियों के हृदय में उठी हुई भावनाओं का यथार्थ चित्रण करना आवश्यक है। परिस्थिति के अनुसार किसी महान् व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करना बड़ा कठिन कार्य है। किसी ऐतिहासिक पुरुष के मुँह से यदि कोई भाव व्यक्त कराया जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सर्वमान्य इतिहास ग्रन्थों में दिखलाए गए उसके चरित्र के विरुद्ध तो नहीं है। इस सम्बन्ध में 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म पितामह के विचारों का उल्लेख करना अनुचित न होगा। जो विचार भीष्म के मुख से 'कुरुक्षेत्र' में कहलाये गये हैं वे विचार युद्ध-प्रेमी, युद्ध-वीर, स्थिर-चित्त, गम्भीर, महाबली, धनुर्धारी, पुरुषोत्तम, भीष्म पितामह के अनुरूप कदापि नहीं हैं। महाभारत का युद्ध एकमात्र दुर्योधन की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिए हुआ

था। शकुनि इत्यादि का जो पारस्परिक वैमनस्य था वह भी व्यक्तिगत ही था। आज के मशीन-युग के आर्थिक वैषम्य और साम्राज्यवाद से उत्पन्न उपनिवेश बसाने एवं नए-नए व्यापार-स्थल स्थापित करके विजेता राष्ट्र द्वारा शासित क्षेत्र के आर्थिक शोषण की नीति महाभारत काल में नहीं थी। इसीलिए 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म पितामह द्वारा दमन और शोषण के विरुद्ध जन-जीवन की क्रान्ति का जयगान और युद्ध-विरोधी विश्व शान्ति का उपदेश महाभारत के उन भीष्म पितामह के अनुरूप तो कदापि नहीं है जिन्होंने शान्ति पर्व में राजधर्म और क्षात्र धर्म के विवेचन के समय इस पर जोर दिया था कि "क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध में देह त्याग करना है। जो क्षत्रिय पृथ्वी को रुधिर रूपी जल, कटे हुए शिर रूपी तृण, हाथी रूपी पर्वत और ध्वजा रूपी वृक्ष धारण करने योग्य बनाता है वही धर्मात्मा है। युद्ध ही धर्म है; युद्ध ही स्वर्ग है।" शान्ति पर्व के पढ़ने के अनन्तर 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म द्वारा अहिंसा का उपदेश उनके अनुरूप तो नहीं कहा जा सकता; न भीष्म के अनुरूप वहाँ भाषा ही है। छठे सर्ग में भीष्म के विचार न होकर कवि के विचार हैं अतएव वहाँ भाषा ठीक है एवं असंगति भी नहीं है। चतुर्थ एवं पंचम सर्ग में भी यदा-कदा भाषा प्रवाह मिलता है किन्तु सप्तम सर्ग (अन्तिम सर्ग) तो अधिकतर नीरस एवं शुष्क है। वहाँ भीष्म पितामह तो कवि 'दिनकर' की, कठपुतली बने हुए आधुनिक वायुमण्डल में पाले पोसे हुए आधुनिक सुधारकों की टूटी-फूटी भाषा में सभी विषयों पर बोलते चले जाते हैं !!

धर्मराज ! क्या यती भागता
कभी गेह या वन से ?
सदा भागता फिरता है वह
एक मात्र जीवन से !

वह चाहता सदैव मधुर रस
नहीं तिक्त या लौना,
वह चाहता सदैव प्राप्ति ही
नहीं कभी कुछ खोना

प्रमुदित पाकर विजय, पराजय
देख खिन्न होता है
हँसता देख विकास ह्रास को
देख बहुत रोता है

रह सकता न तटस्थ खीझता,
रोता, अकुलाता है,
कहता, क्यों जीवन उसके
अनुरूप न बन जाता है

लेकिन, जीवन खड़ा हुआ है
सुघर एक ढांचे में
अलग अलग वह ढला करे
किसके किसके सांचे में ?

यती का रूप जो ऊपर दिखलाया है एक पेटार्थी पलायनवादी वृत्ति वाले व्यक्ति का है। सभी साधु-संन्यासी तो वैसे नहीं होते। और न भीष्म पितामह साधु-संन्यासियों को इस दृष्टि से देखते थे जो दृष्टि ऊपर लिखे छन्दों में बताई गई है। मिताहारी, अनाहारी, स्थान-रहित, शान्त स्वरूप, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, समदर्शी, काम-क्रोध-मोह रहित, कैवल्य मोक्ष के इच्छुक संन्यासी आज भी भारत में विद्यमान हैं। द्वापर युग में तो अधिक रहे ही होंगे। वानप्रस्थ आश्रम के अनन्तर संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होना उन दिनों आवश्यक था। कवि का यह दिखाने का प्रयत्न कि पितामह के हृदय में संन्यासियों के प्रति किंचित् भी श्रद्धा नहीं थी उपहास्यास्पद है।

भीष्म पितामह के अत्यधिक लम्बे भाषण के ६ कवित्त एवं

२१८ छन्दों में उनके अनुरूप कहीं विचार नहीं मिलते न उनकी गम्भीर वाणी ही सुनाई पड़ती है। भाषण पढ़ते-पढ़ते तबियत ऊबने लगती है। भाषा कृत्रिम है अतएव कम से कम १०, १५ छन्दों में एक छोटा भाव व्यक्त हो पाया है। अवश्य विषय नया था! जो बातें कवि को स्वयं अपनी ओर से कहनी चाहिए थीं वे महाभारत के भीष्म पितामह से कहलाई हैं। अतएव भाषा अस्वाभाविक होनी ही चाहिए थी। यदि भीष्म पितामह के अनुरूप भाषा और भाव होते तो एक-एक छन्द के पढ़ने पर ऐसा मालूम होता कि घने अन्धकार में रह-रह कर, पग-पग पर कोई उजाला करता चला जाता है। किन्तु यहाँ तो बहुत ऊँचा, गीता में व्यक्त हुआ, कर्मयोग भी व्योम से उतर कर मिट्टी पर पड़ा दिखाई पड़ता है :—

मरा सुयोधन जभी पड़ा
यह भार तुम्हारे पाले
सँभलेगा यह सिवा तुम्हारे
किस के और सँभाले?

मिट्टी का यह भार सँभालो
बन कर्मठ सन्यासी
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी

ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है
कुछ भी नहीं गगन में
धर्मराज! जो कुछ है, वह है
मिट्टी में, जीवन में!

सम्यक विधि से इसे प्राप्त कर
नर सब कुछ पाता है
मुक्ति-जयी के पास स्वयं ही
अम्बर भी आता है

भोगो तुम इस भांति मृत्ति को
दाग नहीं लग पाए
मिट्टी में तुम नहीं वहो
तुम में विलीन हो जाए

कहने का ढंग ही तो है। मिट्टी और व्योम को जीवन (कर्मयोग) एवं सन्यास (अथवा मोक्ष) का प्रतीक मानकर चलने से व्यञ्जना में अभिवृद्धि कैसे हो सकती है? भाव न तो भीष्म के उपयुक्त और न भाषा ही चमत्कार युक्त है ऊपर गगन है; उसमें शून्य शून्य है। मिट्टी में जीवन है। जिसके पास मिट्टी है उसके पास अम्बर भी आ जाता है। शून्य शून्य भी आ जाता है। मिट्टी तुममें विलीन होनी चाहिए। तुम मिट्टी में मत विलीन होना, ये भाव आगे चलकर स्पष्ट किये जाते किन्तु जब तक २०, २५ छन्द और न पढ़े जायँ तब तक यह बात समझ में नहीं आती कि कवि का आशय आगे यह है कि मन में संयम एवं स्वार्थ-त्याग की भावना लानी चाहिए। भाषा से पता चलता है कि भीष्म पितामह बेचारे बोलते बोलते और कवि चिन्तन करते-करते थक चुके हैं और भाव और भाषा दोनों ही लड़खड़ा रहे हैं; अतएव सुखद आशा पर ही आधार रखना उचित समझा जाता है:—

यह क्रन्दन, यह अश्रु, मनुज की
आशा बहुत बड़ी है
बतलाता है यह मनुष्यता
अब तक नहीं मरी है

सत्य नहीं पातक की ज्वाला
में मनुष्य का जलना,
सच है बल समेट कर उसका
फिर आगे को चलना

'मनुष्यता अभी नहीं मरी है,' 'बल समेट कर मनुष्य फिर आगे चलेगा' इन वाक्यों में भाषा उच्च स्तर पर पहुँच जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि 'कुरुक्षेत्र' का सुचारु रूप से श्री गणेश नहीं हुआ। मेरी राय केवल यह है कि भीष्म पितामह के अन्तिम भाषण में भाषा एवं भाव का न तो सामंजस्य ही है और न विचारों में गम्भीरता ही है। अन्तिम कवित्त में पितामह का एक सारगर्भित उपदेश है:—

आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रणभीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से

'कुरुक्षेत्र' में भी भीष्म पितामह को शर-शैया पर शर-विद्ध पड़े दिखाया गया है। शर-शय्या पर पड़े पड़े युद्धवीर, पराक्रमी, युद्ध-प्रेमी, भीष्म की अहिंसा एवं युद्ध-विरोधी नीति द्वारा विश्व-शान्ति एवं विश्व-प्रेम की आशा करना एक अनौचित्य के अतिरिक्त और क्या है? क्या अन्तिम समय में भीष्म पितामह बौद्ध हो गये थे? अथवा जैन धर्म की दीक्षा ले ली थी?

जो उपदेश पितामह के मुख से अनुचित प्रतीत होता है वही उपदेश यदि कलिङ्ग-विजय के अनन्तर अशोक द्वारा दिया जाता तो स्वाभाविक होता एवं अशोक के अनुरूप ही कहा जाता। इसीलिए 'अशोक' में पढ़े हुए निम्नलिखित छन्दों की यहाँ सहसा याद आ जाती है:—

भरदो जीवन के रन्ध्रों में,
शिल्पी ! युग युग के अमर गान;
जिनकी मधुमय स्वर लहरी से
हों सुखी विश्व के थके प्राण
पल्लवित करो तुम बोधि वृक्ष
जड़ वैर-द्वेष की लपटों पर
पीड़ा के गह्वर में भर दो
चिर करुणा का आलोक शिखर

× × × ×

परिजन-सेवा से फूट पड़े
पुरजन-सेवा की भी धारा
मानव विमुक्त होकर तोड़े
हिन्सा प्रतिहिन्सा की कारा

× × × ×

जब जीवन के स्वर भटकेंगे
बेसुर प्रतिकूल दिशाओं में
जब द्वन्द्व दाह भर जाएगा
जन मन की अभिलाषाओं में
तब तार तार जोड़ता हुआ
करता युग युग का गरल पान,
जन-मन की वंशी में भरता
नव स्नेह-प्रीति के मधुरगान
साधता हुआ स्वर जीवन के
आकर कोई गायक महान
छेड़ेगा मीठी तान एक
झूमेंगे जन के विपुल प्राण।
गूँथेगा वह अपनी लय से
उर-उर के बिखरे प्रीति-हार

प्रत्येक अधर में भर देगा
नव-जीवन की सम्मीलित प्यास

× × × ×

किसी महान् व्यक्ति की भाषा, अस्वाभाविक पद-प्रयोग से बचकर, बोलचाल के साधारण शब्दों से पृथक् होकर, भव्य अवश्य होनी चाहिए और भाषा तभी भव्य हो सकती है जब छन्द शब्दाडंबर से रहित हो परन्तु गंभीर भाव पर आश्रित हो। गंभीर एवं गहन भावों के लिए कवि को प्रौढ़ विचार-शक्ति की आवश्यकता होती है।

अतएव सजीव कविता के लिए औचित्य, भाषा-प्रवाह, प्रसंगानुकूल ध्वनि-योजना, उपयुक्त स्थल पर शब्द-स्थापना एवं व्यक्ति के अनुरूप भाव और भाषा से भी अधिक कवि के प्रौढ़ विचारों की आवश्यकता है। जिस भाषा-शैली की नींव प्रौढ़ विचारों पर नहीं रखी गई वह शैली अधिक समय तक चल नहीं सकती। वह शैली उस लता के सदृश है जो किसी सूखे ठूँठ के सहारे ऊपर चढ़ती चली जाती है और ठूँठ के गिर पड़ने पर स्वयं भी धराशायी होकर सूख जाती है। प्रौढ़ विचारों के बिना, सुन्दर शब्दों का आडंबर, उन आभूषणों के सदृश्य है जो प्राणहीन नर-कङ्काल के ढाँचे पर रख दिए गए हों। अतएव काव्य में सजीवता लाने के लिए विचारों की मौलिकता एवं प्रौढ़ता भी अनिवार्य है। सुन्दर एवं प्रौढ़ विचारों पर आधारित छन्द का एक-एक शब्द सुनने या पढ़ने के अनन्तर भी बड़ी देर तक कानों में गूँजता रहता है और सुवासित पुष्प की सुगंध जिस प्रकार सूँघने के बाद भी बड़ी देर तक आती प्रतीत रहती है उसी भाँति प्रौढ़ एवं मौलिक विचारों पर आधारित छन्द के शब्द बहुत दिनों तक हृदय को तरंगायित करते रहते हैं।

अनुक्रमणिका

प्रथम खंड—भाग १ व २

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड—भाग ३

शुद्धि-पत्र

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	देते ए	देते हुए
११	१०	बठी	बैठी
१५	५	(बोल्ड टाइप के स्थान में छोटे टाइप में होना चाहिए)	
४०	२	अकले	अकेले
४१	१५	भा	भी
५१	१६	हा	ही
४७	२३	कनुष्य	मनुष्य
६८	११	शातल	शीतल
७७	१६	सगम	संगम
८१	३	सवाय	सिवाय
८२	६	सजीवन	संजीवन
६४	२३	पढ़ती	पड़ती
१०२	८	गुज्रना	गुज़रना
१०३	१६	आय	आप
१११	१	आर	और
,,	११	कैसे	किसतरह
११५	४	क्या	ही क्या
११६	२	ह	है
१४६	२	होम	मोह
१७३	२	सरसा	सरसों
,,	११	सि	सिर
१७५ (अंतिम)		सामाएं	सीमाएं

२०१	१४	जूही ही	जूही की
२०५	१३	लक्ष्म	लक्ष्मी
२२६	२२	मामिक	मार्मिक
२३१	१५	भाषा है अच्छी	भाषा अच्छी है
२३२	१५	सतरगी	सतरंगी
२३६	११	ह	हैं
२४४—२४५		वसन्त	वसन्त
२४५	७	भ	भी
२४८	८	वंग भ	वङ्ग भू
२५२	(अन्तिम)	अभाव	प्रभाव
२५४	१८	'या केवल' (ये शब्द काट दीजिएगा)	
२५६	१३	ह	ही
,,	२१	आदिकाल के	आदिकाल से
२६१	१२	कपाल अर्घ्य	कपाल द्वारा अर्घ्य
२६२	२०	झांगुर	झींगुर
२६२	१०	कुछ भा	कुछ भी

शुद्धि पत्र

तृतीय भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७१	२०	अप्रयुक्त	अनुपयुक्त
२८४	१६	भा	भी
२६५	६	लिखित	लिखित वर्णन
२६७	११	सीता का	सीता को
२६७	१२	वरणन	वर्णन
२८६ से २८६ और २६८		कौशिल्या	कौसल्या
२६६	१०	रहा	रही
३००	१८	निज	निजी
३०१	१३	आश्चर्थ	आश्चर्य
३०३	२१	हा	ही
३०४	१४	विभषण	विभूषण
३१३	२४	प्रशंशा	प्रशंसा
३१४	१७	हुये	हुए
३२०	(ख ७)	यथाचिता	यथोचिता
३३२	१६	बैठाल	बैठा
३५०	२२	प्रतक्षण	प्रतीक्षण
३५१	१६	नही	कहीं
३६८	१	काव्रू	काव्य
३७८	७	देना	देता है
३८६	२४	संदेह	सदेह
३६१	३	करने का	करने की
४०५	११	सागर	नैपथ

४१४	१	अभिध्यक्ति	अभिव्यक्ति
४१४	१४	अपित	अर्पित
४१५	६	गूंथे	गूंधे
४१६	२५	हा	ही
४३६	१०	वैद्य	वैद
४३६	१२	संगवाद	संघवाद
४४३	६	तो	और
४७३	२५	एडल	एडलर
५०१	१३	ललित	ललिता
५०८	८	शव्दों	शब्दों
५१२	(अंतिम)	चिन्ताकर्षक	चित्ताकर्षक
५१३	१५	चरणा	चरणों
	२५	रीति काली	रीतिकाल
५१४	(अंतिम)	साने	सांचे
५१८	१	सोखत	सोखता
५२४	१२	जमी	जभी
५२५	१२	जाते	जाते हैं
५२६	२४	स्वभाविक	स्वाभाविक